समाधितंत्र प्रवचन

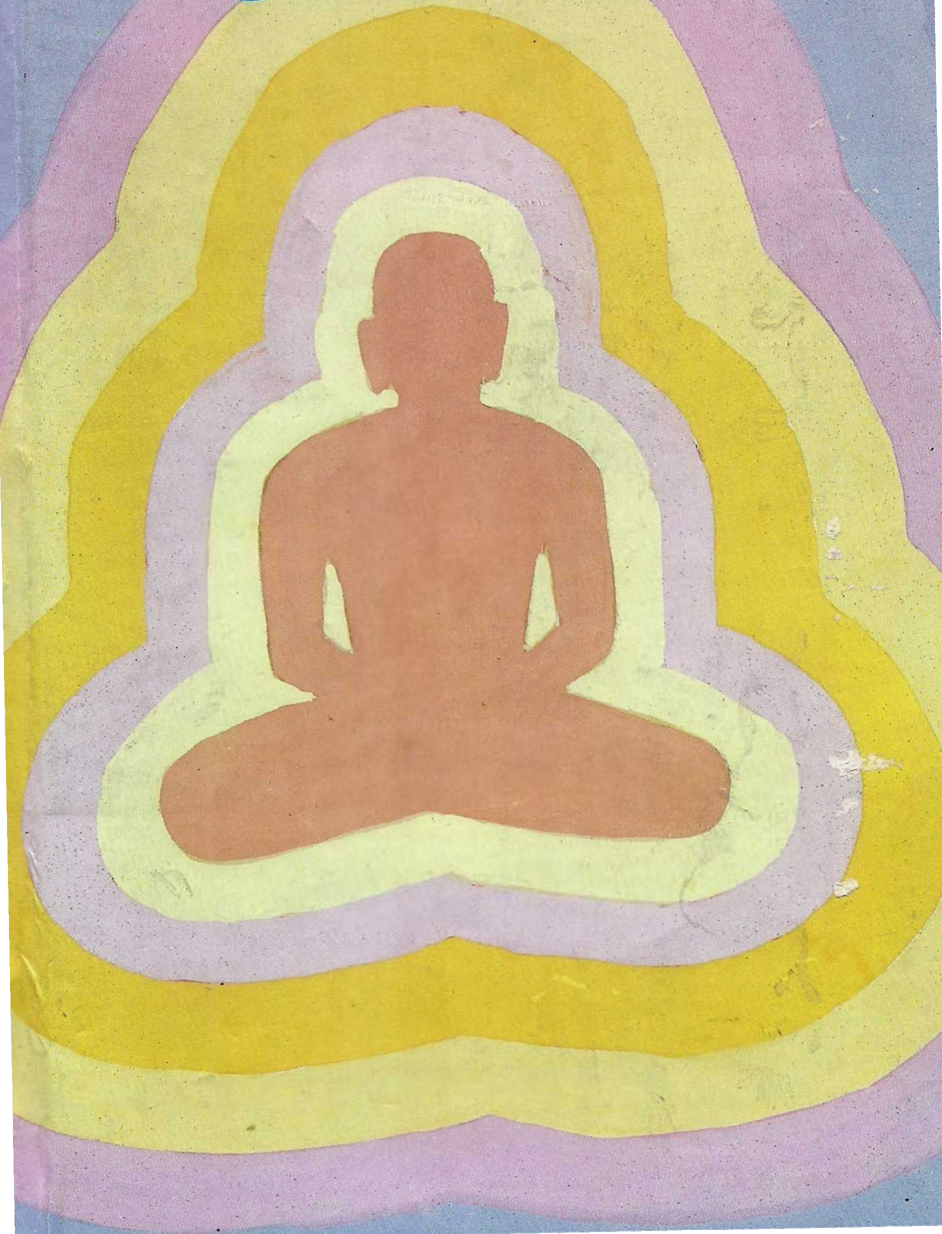

समाधितन्त्र प्रवचन

पूज्यपाद स्वामी विरचित समाधितन्त्र पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन

अनुवादक एवं सम्पादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., बी. एड.

प्रकाशक :

पूज्य श्रीकानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4 बापूनगर, जयपुर 302015

प्रथम संस्करण : 3 हजार
(15 अगस्त, 1996)
द्वितीय संस्करण : 1 हजार
(4 अप्रैल, 2012)
(महावीर जयन्ती)

योग : 4 हजार

मूल्य : **पच्चीस रुपये**

मुद्रक :
श्री प्रिन्टर्स
मालवीयनगर इण्डस्ट्रियल एरिया,
जयपुर - ३०२०१७

प्रकाशकीय

'समाधितंत्र' ग्रंथ पर आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के मार्मिक प्रवचनों का यह हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित ग्रंथों में 'समाधितंत्र' एक महत्वपूर्ण कृति है जो संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसमें कम शब्दों में सूत्र रूप से विषय का विवेचन सुन्दर ढ़ंग से किया गया है जो हृदयग्राही है। ग्रंथ में मुख्य रूप से शुद्धात्मा का वर्णन किया गया है। पूज्य कानजीस्वामी ने उक्त ग्रंथ पर अपने प्रवचनों के माध्यम से विषयवस्तु को सरस व सरल बनाकर पामर जीवों का अनन्त उपकार किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ का गुजराती से हिन्दी अनुवाद पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने किया है। उनके इस सहयोग के लिए संस्था भारिल्लजी का हृदय से आभारी है।

प्रकाशन व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है। जिन महानुभावों ने पुस्तक की कीमत कम करने में आर्थिक सहयोग प्रदान किया है वे सभी महानुभाव बधाई के पात्र हैं।

आप सभी इस कृति का पठन-पाठन कर मुक्ति पथ की ओर अग्रसर हों, ऐसी पवित्र भावना के साथ—

पूज्य श्रीकानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट
देवलाली (महा.)

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर (राज.)

सम्पादकीय

वर्तमान युग में आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी का अध्यात्म के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व एवं अद्वितीय योगदान रहा है, उनका जितना भी उपकार माना जाए कम ही रहेगा।

आपके द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द देव के परमागम समयसारादि ग्रंथों पर तो अनेक बार मार्मिक प्रवचन हुए ही; भक्तामर स्तोत्र तथा विषापहार स्तोत्र जैसे भक्तिपरक स्तोत्रों पर भी प्रवचन हुए हैं। पद्मनन्दि पंचविंशतिका, इष्टोपदेश व समाधितन्त्र जैसे प्रेरणादायक तथा वैराग्यप्रेरक आध्यात्मिक ग्रंथों पर भी आपके सरस प्रवचन हुए हैं।

मेरा परम सौभाग्य यह रहा मुझे आपके अनेक प्रमुख ग्रंथों पर गुजराती भाषा में हुए प्रवचनों का हिन्दी में भाषान्तर करने एवं सम्पादन करने का सहज में ही अवसर प्राप्त हो गया।

प्रस्तुत ग्रंथ 'समाधितन्त्र' पर हुए पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का अनुवाद एवं सम्पादन तो मैंने किया ही है; प्रत्येक श्लोक का अन्वयार्थ तथा आवश्यकतानुसार यथास्थान भावार्थ भी मैंने लिखे हैं, ताकि पाठक आचार्य पूज्यपाद की भाषाशैली से भी अपना सीधा सम्पर्क साध सकें।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित प्रवचनों के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक सम्पादन/संवर्द्धन हुआ है। प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेड़ें भी बहुत रहतीं हैं और श्रोताओं की पात्रता के अनुसार पुनरावृत्ति भी बहुत हो जाती है, जो बोलने में तो स्वाभाविक लगती है; परन्तु लिखने में एक ही बात की बार-बार पुनरावृत्ति अनुपयोगी और अनावश्यक लगती है। अत: उसे कम किया गया है। सामान्य लोगों को सरलता से समझ में आ जाए, इस दृष्टि से जहाँ तक संभव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री की टोन (शैली) समाप्त न हो जाए, इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। ध्यान रहे जहाँ बहुत अधिक पिष्ट पोषण था, वहाँ भी कुछ कम किया गया है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों को गौण रखते हुए यह विनम्र अनुरोध है कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल दृष्टिगोचर हो तो मुझे सुझाने का कष्ट अवश्य करें, ताकि आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

— पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तावना

— पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
प्राचार्य - श्री टोडरमल दि. जैन
महाविद्यालय, जयपुर

ईसा की पांचवीं एवं विक्रम की छठी शताब्दी में हुए दिगम्बर जैन सिद्धान्त के दिग्गज सुप्रसिद्ध आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी का नाम स्वाध्याय प्रेमियों को अपरिचित नहीं है। जैन समाज में सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ तत्वार्थसूत्र पर आप द्वारा लिखी गई 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक बृहद् संस्कृत टीका ग्रन्थ जैनदर्शन के प्रायः सभी परीक्षालयों के पाठ्यक्रमों में भी निर्धारित है।

आपका पहला दीक्षा काल का नाम 'देवनन्दी' था, बाद में बुद्धि की विलक्षणता से जिनेन्द्रबुद्धि नाम से भी आप प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। पूज्यपाद नाम से भी आप जाने जाते हैं। आपके इन नामों का परिचय अनेक शिलालेखों तथा ग्रन्थों में उपलब्ध है। कुछ अवतरण प्रस्तुत हैं, जो नामों की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त हैं—

यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो, बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रिबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुगं यदीयम्॥

× × ×

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी,
बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्य पाद इति चैष बुधै प्रचख्ये,
यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

श्रवणबेलगोल के इन दोनों शिलापट्टों पर अंकित उपर्युक्त छन्दों से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि आचार्य पूज्यपाद का दीक्षा नाम देवनन्दी है।

तथा बुद्धि की प्रखरता एवं विपुलता के कारण उन्हें जिनेन्द्रबुद्धि भी कहा जाता था। और जब से उनके चरण-युगल देवताओं द्वारा पूजे गये थे, तब से वे बुधजनों द्वारा 'पूज्यपाद' नाम से संबोधित किये जाने लगे थे।

इसी आशय का तीसरा शिलालेख भी दृष्टव्य है— जिससे उपर्युक्त विशेषताओं की पुष्टि के साथ कुछ अन्य विशेषताओं के भी संकेत मिलते हैं :—

श्री पूज्यपादोद्धत धर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वर पूज्यपादः।
यदृशीय वैदुष्य गुणा निदानी वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धतानि ॥
धृत विश्व बुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्य भावमनु विभ्रदुच्चकैः।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचायहृत्स जिनेन्द्र बुद्धिरिति साधु वर्णितः ॥

शक सम्वत् १३५५ में उत्कीर्ण हुए इस शिलालेख से स्पष्ट है कि श्री पूज्यपाद ने धर्म का उद्धार किया था, लोक में धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी। इसी से आप देवताओं के अधिपति द्वारा पूजे गये और पूज्यपाद कहलाए। आपके द्वारा रचित ग्रन्थ आज भी आपके विद्या विशिष्ट गुणों को बतला रहे हैं। आप जिनेन्द्र की तरह विश्व बुद्धि के धारक — समस्त शास्त्रीय विद्याओं में पारंगत थे। इसी कारण आप को जिनेन्द्रबुद्धि कहा गया है।

इस तरह आपके उक्त पवित्र नामों के साथ जो इतिहास जुड़ा है, वह सब आपकी महती कीर्ति, अपार विद्वत्ता एवं सातिशय प्रतिष्ठा का प्रतीक है। आपके उपलब्ध ग्रन्थ निश्चित ही आपकी असाधारण योग्यता के जीते-जागते प्रमाण हैं।

ब्राह्मणकुलोत्पन्न, कर्नाटक प्रदेशान्तर्गत कोले नामक ग्राम में जन्मे पूज्यपाद देवनन्दी के पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। पूज्यपादस्वामी नन्दिसंघ के प्रधानाचार्य थे।

आपका समय ईसा की पाँचवीं सदी का उत्तरार्द्ध एवं छटवीं सदी का प्रारम्भ (४८०-५२०ई.) माना जाता है; क्योंकि आपके ग्रन्थों पर आचार्य समन्तभद्र का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है तथा अकलंक देव ने

आपके सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ की वृत्तियों को अपने वार्तिक में अपनाया है; अतः स्पष्ट है कि पूज्यवाद समन्तभद्र के परवर्ती एवं अकलंक देव के पूर्ववर्ती आचार्य थे।

पूज्यपाद गंगवंशीय राजा अविनीति (वि.सं. 523) के पुत्र दुर्विनीति (वि.सं. 538) के शिक्षागुरु थे तथा दुर्विनीति का राज्यकाल सन् 480 ई. से 520 ई. के मध्य का माना जाता है। इससे भी पूज्यपाद ईसा की 5वीं सदी के उत्तरार्द्ध और छठी सदी के पूर्वार्द्ध के ही आचार्य ठहरते हैं।

शिलालेखों में उत्कीर्ण उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पूज्यवादस्वामी में सातिशयपुण्य और पवित्रता का अद्भुत मणिकांचन योग था। उन्हें स्वात्मोपलब्धि के साथ-साथ अनेक रिद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उपलब्ध थीं, जैसा कि निम्नांकित संस्कृत पद्य से स्पष्ट है—

श्री पूज्यपाद मुनिरप्रतिमौषधर्द्धि
जीयाद्विदेह जिनदर्शन पूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्श प्रभावात्
कालायसं किल तदा कनकीचकार॥

इस पद्य में पूज्यपाद मुनि का जयघोष करते हुए उन्हें अद्वितीय औषध-ऋद्धि का धारक बतलाया है। साथ ही यह कहा है कि विदेह क्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से उनका गात्र पवित्र हो गया था और उनके चरणों के स्पर्शित जल से एक समय लोहा भी सोना बन गया था।

सर्वार्थसिद्धि, समाधितंत्र, इष्टोपदेश, दशभक्ति, शान्त्याष्टक, जैनेन्द्रव्याकरण, वैद्यकशास्त्र, छन्दशास्त्र, सारसंग्रह और जैनाभिषेक जैसे दार्शनिक, आध्यात्मिक, भक्तिपरक, व्याकरण सम्बन्धी छन्दशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि विविध विषयों पर रचे गये अनुपम श्रेष्ठ ग्रन्थों से आपकी चतुर्मुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

(१) सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) :— उपलब्ध जैन साहित्य में गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी के महान दार्शनिक प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र

पर लिखी गई यह प्रथम टीका है। पूज्यपादस्वामी ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में समाप्तिसूचक जो पुष्पिका दी है, उसमें इस टीका का नाम सर्वार्थसिद्धि बतलाते हुए इसे वृत्तिग्रन्थ स्वीकार किया है, जैसा कि टीका की प्रशस्ति के निम्न पद्य से स्पष्ट है :-

स्वर्गापवर्ग सुखमात्तु मनोभिरार्यैः
जैनेन्द्र शासन वरामृतसार भूता।

सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्त नामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥

अर्थात् जो स्वर्ग व मोक्षसुख के इच्छुक हैं, वे जिनेन्द्रशासन रूपी उत्कृष्ट अमृत में सारभूत और सज्जन पुरुषों द्वारा रखे गये सर्वार्थसिद्धि नाम से प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्ति को निरन्तर मनपूर्वक धारण करें। इस तत्त्वार्थवृत्ति की महत्ता प्रदर्शित करनेवाला निम्न पद्य भी दृष्टव्य है—

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः
श्रण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्तया।

हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तै
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्॥

इस पद्य में इसके 'सर्वार्थसिद्धि' नाम को सार्थक बताते हुए कहा गया है कि जो इस तत्त्वार्थवृत्ति को धर्मभावना से भक्तिपूर्वक सुनते हैं, और पढ़ते हैं, उन्होंने मानो परमसिद्ध सुखरूप अलौकिक अमृत को ही हस्तगत कर लिया है। फिर उनके लिए अन्य इन्द्र चक्रवर्त्यादि के लौकिक सुखों की तो चर्चा ही क्या ? इस कारण प्रयोजन और फल की दृष्टि से इसका 'सर्वार्थसिद्धि' नाम सार्थक ही है।

जिसमें सूत्रों का आश्रय लेकर उसके प्रत्येक पद की व्याख्या की जाती है, उसे वृत्ति कहते हैं। इस 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में तत्त्वार्थसूत्र के

सूत्रों के प्राय: सभी पदों का व्याख्यान किया गया है, इस कारण प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा इसका 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम भी पूर्णतया सार्थक है।

प्रस्तुत टीका में संक्षिप्त सूत्रों में भरे गंभीर भावों का रहस्योद्घाटन करते हुए विस्तृत विवेचन किया गया है तथा प्रसंगोपात अन्य दर्शनों का परिचय भी आवश्यकतानुसार यथास्थान कराते हुए उनकी समीचीन समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

समस्त ग्रन्थ में भाषा का सौष्ठव एवं प्रवाहयुक्त, विशद गतिशील शैली भावों के सर्वथा अनुकूल है। ग्रन्थ की गहनता और गम्भीरता से ज्ञात होता है कि पूज्यपाद स्वामी बहुश्रुत विद्वान थे। आपने तत्त्वार्थसूत्र की यह बृहद् टीका लिखकर जिनवाणी की बहुत बड़ी सेवा की है।

(२) समाधितंत्र या समाधिशतक :- यह आपकी दूसरी महत्त्वपूर्ण महान आध्यात्मिक रचना है। यद्यपि यह केवल 105 श्लोकों का लघुकाय ग्रन्थ है; तथापि अत्यन्त सरस, सरल, सुन्दर सूत्ररूप में लिखा गया है। अत: अपने आप में अनुपम है। विषयप्रतिपादन की शैली हृदयग्राही है। भाषा सौष्ठव तथा पद्यरचना प्रसाद गुण युक्त है। मानो ये अध्यात्म सिन्धु से मथ कर निकाली गई अमृत बूंदें ही हैं।

निम्न पद्य में ग्रन्थकार ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि मैंने इसका निर्माण आगम, युक्ति और अन्त: करण की एकाग्रता एवं स्वानुभव द्वारा किया है। मूलत: वह पद्य इस प्रकार है—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति, समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्य सुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥

इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपाद पर कुन्दकुन्दाचार्य की गहरी छाप थी। उनके **सर्वार्थसिद्धि** ग्रन्थ से जहां उनके षट्खण्डागम के गहनतम ज्ञान का अनुमान होता है, वहीं इस ग्रन्थ के अवलोकन से उनके आध्यात्मिक ज्ञान की गहनता मालूम पड़ती है। वे कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थों के मर्मज्ञ विद्वान थे। उनके अनेक पद्य तो नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि की गाथाओं से

मिलते जुलते हैं। गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस ग्रंथ को पढ़कर अत्यधिक प्रभावित हुये और उन्होंने अपनी दैनिक शास्त्र सभा में इस पर मार्मिक प्रवचन किये।

(३) **इष्टोपदेश :–** उनकी तीसरी रचना है यह 51 पद्यों का बहुत छोटा (लघुकाय) ग्रन्थ है। किन्तु यह भी अध्यात्मरस से भरपूर है। इसमें संसारी जीवों को यह समझाने का सफल प्रयास है कि समस्त जीव अपने स्वरूप को जानें तथा देहादि परपदार्थों से ममत्त्व त्यागकर आत्मकार्यों में सदैव सावधान रहें।

दशभक्ति और शान्त्याष्टक के विषय में पण्डित प्रभाचन्दजी ने 'क्रियाकलाप' की टीका में संस्कृत की सभी भक्तियों को पूज्यपाद की बतलाया है, उनमें सिद्धभक्ति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निरूपित किया है। इसके अतिरिक्त श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति तथा नन्दीश्वरभक्ति आदि भक्तियों की रचनायें भी प्रौढ़ हैं। इनके सिवाय पूज्यवाद स्वामी ने जैनेन्द्रव्याकरण, चिकित्साशास्त्र एवं छन्द ग्रन्थ भी लिखे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य पूज्यपाद ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयों के साहित्य का सृजन किया था।

आपके समाधितंत्र ग्रन्थ पर गुजराती भाषा में हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, जो मेरे द्वारा अनूदित और सम्पादित होकर जैनपथ प्रदर्शक में 'कहान सन्देश' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुए थे, उनको पुस्तकाकार रूप देने का यह लघु प्रयास है।

स्वाध्याय प्रेमियों को मूल श्लोकों का अर्थ अच्छी तरह समझ में आ सके, एतदर्थ श्लोकों का अन्वयार्थ तथा कहीं भावार्थ भी मैंने लिखने का प्रयास किया है। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।

– रतनचन्द भारिल्ल

* * *

श्लोक - १

येनात्माऽबुद्धयतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्त बोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१ ॥

अन्वयार्थ— **(येन्)** जिसके द्वारा **(आत्मा-आत्मा एव)** आत्मा-आत्मारूप से ही **(अबुद्धयत्)** जाना गया है **(च)** और **(अपरं)** अन्य कर्म जनित मनुष्यादि-पर्यायों व पुद्गल द्रव्य को **(परत्वेन एव)** पर रूप से ही **(अबुद्धयत्)** जाना गया है **(तस्मै अक्षयानन्तबोधाय)** उस अविनाशी अनन्तज्ञान स्वरूप **(सिद्धात्मने)** सिद्धात्मा को **(नमः)** नमस्कार हो।

विशेषार्थ—मंगलाचरण में यद्यपि सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया गया है, परन्तु सिद्धों में अन्य अनन्त गुण और विशेषतायें होते हुए भी तथा केवल-ज्ञान की भी अनन्त सामर्थ्य होते हुए भी जिस विशेषता का उल्लेख आचार्य देव ने यहाँ किया है, उसका अपना विशिष्ट प्रयोजनभूत अर्थ है, जिसने इन दो पंक्ति के पद्य को सामान्य मंगलाचरण के स्तर से बहुत ऊपर उठा दिया है।

वे कहते हैं **'येन आत्मा आत्मा एव अबुद्धयत्'** अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा आत्मा रूप से ही जाना गया है **'च'** और **'अपरं परत्वेन एव अबुद्धयत्'** पर पररूप से ही जाना गया है **'तस्मै अक्षयानन्त बोधाय नमः'** उस अविनाशी अनन्त ज्ञान के लिए नमस्कार हो। क्योंकि आत्मा को आत्मारूप ही तथा आत्मा से भिन्न कर्म जनित शरीरादि पर पदार्थों को पर रूप जानना या अनुभव करना ही कर्म बन्धन से छूटने का, मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

श्लोक १ पर प्रवचन

यह समाधितंत्र शास्त्र है, इसमें शताधिक (१०५) श्लोक हैं अतः इसे समाधिशतक भी कहते हैं। इस ग्रन्थ के रचयिता सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्र की बृहद् संस्कृत टीका के कर्त्ता पूज्यपाद स्वामी हैं। इसमें

आचार्यदेव ने समाधि का स्वरूप एवं उपाय बतलाया है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही समाधि कहते हैं। शुद्ध चिदानन्द आत्मस्वभाव के सम्मुख श्रद्धा-ज्ञान व लीनता करना ही समाधि का उपाय है। समाधि के स्वरूप का प्रतिपादक होने से ही इस ग्रन्थ का नाम समाधितंत्र या समाधि शतक है।

इस ग्रन्थ के कर्ता पूज्यपाद स्वामी का वास्तविक नाम आचार्य देवनन्दी था। महान तपस्वी, असाधारण प्रतिभा के धनी, संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान भावलिंगी संत आचार्य देवनन्दी के चरण कमल देवताओं से पूजित थे, इस कारण उन्हें पूज्यपाद उपनाम से विभूषित किया गया था। शुद्धात्मा को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा वाले भव्य जीवों के लिए इस शास्त्र की रचना हुई है। इसमें शुद्धात्मा की एकाग्रता रूप समाधि की भावना बारम्बार भायी गई है। शुद्धात्मा को पहचानकर स्वरूप में लीन होना ही वास्तविक समाधि है। कुछ लोग यथार्थ समाधि के स्वरूप को न जानकर कुम्भक रेचक आदि बाह्य क्रियाओं को ही समाधि समझते हैं, परन्तु वह यथार्थ समाधि नहीं है। सच्ची समाधि तो ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मस्वभाव के सम्मुख दृष्टि करके तथा ज्ञान से ज्ञान का वदेन करके स्वरूप में लीनता करना ही है। शरीर, मन व वाणी तो पर हैं। उनका अभाव नहीं करना है। आत्मा में जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनका अभाव करना है। पण्डित बनारसीदासजी भी सदा शुद्ध स्वरूप ही देखते हैं। वे कहते हैं—

चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरौ।
मोह महातम आतम अंग, किया पर संग महातम घेरौ॥

मेरा स्वरूप सदैव चैतन्य, उपमा रहित, निराकार, सिद्ध सदृश है, परन्तु मोह के महा अन्धकारमय मैं निज को भूलकर पर का संग करने से स्वयं ही अन्धा बन रहा हूं। यह मेरी वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी

स्वभाव की साधना से शीघ्र समाप्त होगी, शिव मार्ग सधेगा और ये संसार भ्रमण के कारणभूत राग-द्वेष मिट जायेंगे।

जिसप्रकार चने में मिठास तो भरी पड़ी है, परन्तु कचास के कारण वह प्रगट नहीं है, सेंकने पर प्रगट हो जाती है; उसीप्रकार आत्मा परमानन्दमय चैतन्यस्वरूप है, अन्तर में आनन्द भरा पड़ा है। किन्तु पुरुषार्थ की कमी के कारण और मोह-राग-द्वेष की प्रबलता से अज्ञानांधकार और दुःख दिखाई देता है। स्वरूप साधना की अग्नि में तपने से वह मिठासरूप आनन्द स्वभाव प्रगट हो जाता है। जो होता है, वही प्रगट होता है। आत्मा स्वभाव से ज्ञानान्दस्वरूप है, वही ज्ञानानन्द आत्मा के आश्रय से पर्याय में प्रगट हो जाता है। ऐसे परमानन्दमय सिद्ध परमात्मा को मंगलाचरण में नमन करके आचार्य देव समाधितंत्र शास्त्र लिखने की प्रतिज्ञापूर्वक समाधि एवं समाधि के साधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण करते हैं।

प्रथम, मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ, मेरा स्वरूप क्या है? मैं यहाँ इस देह को छोड़कर कहां जाऊँगा? मेरे जो ये वर्तमान रागादि परिणाम होते हैं, उनका क्या फल मिलेगा? यह विचारणीय है।

जिसे स्वर्ग के सुखाभासों की, रागादि विकारों की और विषय भोगों की इच्छा नहीं है– ऐसे मोक्षार्थी मुमुक्षुओं से कहते हैं कि मैं मोक्ष का उपाय बतलाऊंगा। पुण्य का फल स्वर्ग है। स्वर्गों में दूसरे देवों से बड़ा बनने की लालसा प्रबल होती है, उससे सभी देव दुःखी रहते हैं। अतः यहाँ मोक्षाभिलाषी की बात करते हैं।

यद्यपि इन्द्र असंख्य देवों का स्वामी है, तथापि इन्द्र भी मुनिराज को नमस्कार करता है और इन्द्रपद को भी छोड़कर तीर्थंकर भगवान के साथ दीक्षा कल्याणक में दीक्षित होने की भावना करता है। वह कहता है कि हे भगवान ! आपके पास जो रागरहित श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र है, वह हमें चाहिये।

हमारे पास जो निज वैभव है, वह स्वर्ग के इस वैभव की चकाचौंध में हमें दिखाई नहीं देता, एतदर्थ तत्त्व के श्रोता को भी मोक्ष का इच्छुक होना चाहिये। राग से छुटकारा कैसे हो ? इसकी छटपटाहट होनी चाहिये।

यहाँ लक्ष्मी एवं लक्ष्मी के कारणभूत पुण्य का निषेध करते हैं। यहाँ स्त्री, कुटुम्ब व मकान की बात नहीं की, बल्कि यहाँ कहा है कि मेरी स्वतंत्र दशा प्रगट कैसे हो ? ऐसे मोक्षार्थी जीव को इस शास्त्र में मोक्ष का स्वरूप एवं उपाय बताते हैं।

शास्त्र रचना का फल सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र की पूर्णता के साथ मुक्ति प्राप्त हो—ऐसी भावना करते हुए पूज्यपाद स्वामी परमात्मा को नमन करते हैं।

यहां मंगलाचरण में सिद्ध भगवान को नमस्कार किया गया है। अत: निमित्त की मुख्यता से कथन करते हुये आचार्य देव ने सिद्ध भगवान की महिमा और नमस्कार का प्रयोजन दर्शाया है। वे कहते हैं कि सिद्ध परमात्मा द्वारा ही शुद्धात्मा का स्वरूप जाना जा सकता है, क्योंकि सिद्ध परमात्मा ने सम्पूर्ण विभाव भावों का और अल्पज्ञता का अभाव करके सिद्धदशा प्रगट की है। उनको अपना आदर्श बनाकर यदि हम उन जैसा ही स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ करें तो हम भी उन जैसे प्रगट परमात्मा बन सकते हैं।

सभी जीव अपने-अपने विभाव भावों का अभाव करके वीतरागी बनें, सिद्धदशा प्रगट करें; एतदर्थ आचार्यदेव यहाँ उन उपायों को बताते हैं, जिनसे सिद्धदशा प्रगट होती है।

सिद्ध भगवान दर्पण के समान हैं। जिस तरह दर्पण हमारे मुँह पर लगी मलिनता को दिखा देता है; उसी तरह सिद्ध भगवान के दर्शन से अपने वर्तमान विभाव और त्रिकाली स्वभाव का भान हो जाता है। जिस तरह उनकी सिद्धदशा में मोह-राग-द्वेष नहीं रहे, उसी तरह मुझमें भी नहीं

रहेंगे। उन्होंने अनन्तज्ञान-दर्शन प्रगट कर लिए हैं और हमें भी वही प्रगट करना है। अतः वे सिद्ध भगवान ही हमारे आदर्श हैं। उनके समान ही बनने की हमारी भावना है। उन्होंने दुनिया का राग छोड़ दिया है, क्योंकि राग बंध का कारण है। यदि राग लाभदायक हो तो सिद्धों में भी रहना चाहिये था। जिसने सिद्ध भगवान को अपनी दृष्टि में लिया है— वह जानता है कि मेरा स्वभाव पूर्णानन्दमय है। मेरा आत्मा भी सिद्धों जैसा ही है। पुण्य-पाप रूप परिणाम तथा इनमें रुचि होना मेरे स्वभाव में नहीं है। मेरे द्रव्य स्वभाव में से सिद्धों जैसी निर्मल पर्याय प्रगट हो सकती है।

जो अनन्त ज्ञान-दर्शन उनके आत्मस्वभाव में अनादि से थे, वे ही तो उन्होंने सिद्ध पर्याय में प्रगट किए हैं। सिद्धों के सिवाय अन्य कोई जीव पर्याय में पूर्ण नहीं हैं। अरहंतों को भी अभी चार अघातिया कर्म शेष हैं, किन्तु सिद्धों के अब कोई कर्ममल शेष नहीं है।

जैसे सिद्ध भगवान आत्मा हैं, वैसे ही मैं भी आत्मा हूँ। मैं बिलकुल उन जैसा ही आत्मा हूँ। मात्र वर्तमान एक समय की पर्याय में विकार है, द्रव्य स्वभाव में तो विकार है ही नहीं। अब तक उस द्रव्य स्वभाव को नहीं जाना, इसी कारण विकार की सन्तान परम्परा चालू है। अब मैंने उस द्रव्य स्वभाव की श्रद्धा की है। तथा स्व को स्वरूप से तथा पर को पर रूप से जान लिया है और शरीर, मन, वाणी, पुण्य-पाप आदि आत्मा में नहीं हैं— ऐसी दृढ़ प्रतीति हुई है। जिस तरह सिद्धों में महाव्रतादि का राग (विकल्प) नहीं रहा, कोई भी कर्म उपाधि उनमें नहीं रही, समस्त कर्मजन्य उपाधियाँ उनमें से निकल गईं हैं; उसी तरह मुझमें भी स्वभाव के आश्रय से समस्त कर्मजन्य शुभाशुभ भाव रूप कर्मजन्य उपाधियाँ निकल सकतीं हैं।

मैं सर्वोपाधि से भिन्न सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शित्व स्वभावी हूँ— ऐसी समझ का नाम ही धर्म का शुभारम्भ है। सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ हैं, वे

तीनलोक एवं तीनकाल के ज्ञाता हैं, जैसा उन्होंने अपना एवं जगत का स्वरूप जाना है उसी प्रकार मैं भी ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी हूँ। शरीर, मन, वाणी की क्रिया जड़ की है तथा पुण्य-पाप के विकार भी आत्मा में नहीं हैं। जिस तरह केवली भगवान तीनलोक एवं तीनकाल को देखते हैं, उसी तरह मैं भी तीनलोक एवं तीनकाल वर्ती समस्त लोकालोक को जानने-देखने रूप स्वभाव वाला हूँ तथा पर्याय में जो राग होता है वह मेरे अपराध से ही होता है, कर्म के कारण नहीं। जैसे सिद्ध भगवान यह सब जानते हैं, वैसे ही मेरा भी इन सब को जानने का स्वभाव है। अतः सिद्ध भगवान को दृष्टि में लेने से आत्मा को आत्मारूप से तथा पर को पररूप से जाना जा सकता है। सिद्ध भगवान पर दृष्टि जाने से मुझे यह स्पष्ट भासित होने लगा है कि जो राग मेरे ही अपराध से मुझ में होता है, वह मेरे स्वभाव में नहीं है। सिद्ध भगवान की तरह ही मुझ में शरीर, मन, वाणी एवं विकल्पों का अस्तित्व नहीं है।

हे परमात्मा ! आपने अपने उग्र पुरुषार्थ से अपनी पूर्णानन्द दशा एक समय में प्राप्त करली है और मुझमें अर्थात् मेरी पर्याय में मेरे ही अपराध से विकार हैं तथा जड़ की क्रिया जड़ से होती है। ये रागादि विकार मेरी पर्याय में होते हैं, परन्तु मेरे स्वभाव में इनका प्रवेश नहीं हुआ है— मैंने ऐसा राग का अस्तित्व और भेद ज्ञान जाना। शरीर, मन, वाणी पर हैं; मैं चिदानन्द हूँ— ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना ही वास्तविक धर्म है— यही सम्यग्दर्शन है।

ऐसा सम्यग्दर्शन सब को शीघ्र हो और सब सुखी हों — यही इस कथन का सार है।

यह मंगलाचरण का प्रकरण है। अतः आचार्य पूज्यपाद सिद्ध भगवान को स्मरण करते हुए कहते हैं कि जिस तरह सिद्धों में प्रगट शुद्धात्मा है, वही उनका स्व है, उनमें शरीर-मन-वाणी, पुण्य-पाप नहीं हैं, उसी तरह मैं भी स्वभाव से ज्ञाता-दृष्टा हूँ, मुझमें जो पुण्य-पाप के भाव

हैं, वे विकार हैं, अपराध हैं, मेरे स्वभाव में वे नहीं हैं, मैं उनसे रहित हूँ। जिसने इस तरह आत्मा को आत्मारूप जाना और पुण्य-पापादि विकारों व शरीरादि परद्रव्यों को पर रूप जाना, उसने सिद्ध भगवान की तरह स्व-पर को यथार्थ जान लिया। यही सच्चा मंगलाचरण है।

सिद्ध भगवान एक समय में तीन काल व तीन लोक को जानते हैं। जहाँ जिस द्रव्य की जो अवस्था होनी हो, उसे जिनेन्द्र भी पलटने में समर्थ नहीं हैं। अनन्त आत्माओं की एवं अनन्तानन्त पुद्गल व धर्म-अधर्म-आकाशादि द्रव्यों की जिस समय जो अवस्थायें होनी होतीं हैं, उनकी उस समय वे ही अवस्थाएं होतीं हैं, उनमें किंचित् भी फेरफार नहीं होता - ऐसा सिद्ध भगवान ने प्रत्यक्ष देखा है।

सिद्ध भगवान में जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख व केवलवीर्य है, वह उनका स्व है तथा जो पुण्य-पाप आदि विकार निकल गया है, वह पर है। मेरा आत्मा भी सिद्ध भगवान की तरह है। मेरी पर्याय में भी जो अल्पराग है, वह मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा मैंने जान लिया है।

जो सिद्धों का ऐसा यथार्थ स्वरूप जान लेता है, उसी का नमन करना यथार्थ है। जो दया-दानादि को आदरणीय मानता है, वह तो राग को नमन करता है, सिद्धों को नहीं। जिसप्रकार सिद्धों की प्रगट पर्याय में राग नहीं है, उसी प्रकार मेरे स्वभाव में भी राग नहीं है। जो सिद्ध परमात्मा की तरह अपने आत्मा का आदर करता है, वही सिद्ध भगवान को सच्चा नमस्कार करता है। जो राग को उपादेय मानते हैं, वे तो राग की ही उपासना करते हैं। जिस तरह लोक में पिता के शत्रु का आदर करनेवाला पिता का भक्त नहीं माना जाता, उसे पिता की विनय करनेवाला नहीं कहा जाता, उसी तरह सिद्ध भगवान ने जिस राग का नाश किया, उसी राग का आदर करने वाला सिद्ध भगवान का भक्त कैसे कहा जा सकता है? जिसे राग का आदर है, उसे वीतरागी भगवान का आदर नहीं हो सकता।

प्रश्न :- ऐसा मानने से दया-दानादि व्यवहार धर्म का पालन कैसे होगा ?

उत्तर:- अरे भाई ! कोई जीव पर की दया तो पाल ही नहीं सकता। पर की पर्याय तो जैसी होनी होगी, वैसी ही होगी। उसे सिद्ध भगवान ने उसी रूप में जाना है। मैं पर की रक्षा करने वाला नहीं हूँ। मात्र उसका जानने-देखने वाला हूँ, करने धरने वाला नहीं। मुझे जो राग आता है, मैं तो उसे भी मात्र जानता ही हूँ। ऐसा ज्ञाता-दृष्टा रहने वाला ही वस्तुत: सिद्धों को सच्चा नमस्कार करता है।

कहा भी है - "सिद्ध समान सदा पद मेरो"।

जिसको अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का भान हो गया है, वह ही परमार्थत: अपनी और सिद्ध परमात्मा की विनय करता है; क्योंकि आत्मा के निज ज्ञानानन्दस्वभाव में और सिद्ध भगवान में कोई अन्तर नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा आत्मा को आत्मारूप व शरीर-मन-वाणी रंग राग-द्वेष-मोहादि को पररूप जानता है। इस तरह ज्ञानी सिद्धभगवान के निमित्त से स्व-पर को यथार्थ जानता है। यद्यपि उसकी पर्याय में वर्तमान में राग विद्यमान है, तथापि वह उसे बन्ध का ही कारण जानता है। सिद्ध भगवान अबंध स्वभावी हैं, अत: बंध को भला जानने वाला या उसका आदर करनेवाला सिद्ध भगवान का आदर नहीं करता। पाप-पुण्य दोनों से ही बंधन होता है, उन्हें भला मानने वाला अबंध-स्वभाव का आदर नहीं करता। 'मैं दया का पालन करता हूँ' - ऐसी मान्यतावाला तथा राग को उपादेय मानने वाला वीतरागी सिद्ध भगवान का आदर नहीं करता।

केवलज्ञान में ऐसा देखा है कि पर की जिसप्रकार जब जैसी अवस्था होनी हो, वही उसीप्रकार से होती है, फिर भी कोई ऐसा माने कि मैं पर की क्रिया या अवस्था बदल दूँगा, तो ऐसा मानने वाला भी सिद्ध भगवान की विनय नहीं करता तथा वह केवलज्ञान को भी नहीं मानता, उसका आदर नहीं करता। सिद्धों में राग नहीं है, अत: जो राग का आदर करता

है, वह सिद्ध परमात्मा का अनादर करता है। भाई ! यह जिन शासन की प्रथम कक्षा की बात है।

जिसको ऐसी प्रतीति हो जाती है कि "सिद्ध भगवान को जैसा केवलज्ञान में दिखाई दिया, वैसा ही होता है", उसकी परपदार्थों के प्रति कर्त्ता बुद्धि टूट जाती है, राग बुद्धि उड़ जाती है। इसप्रकार उसने सिद्ध भगवान द्वारा आत्मा को आत्मारूप और पर को पररूप जाना है। बस यही सिद्धभगवान को यथार्थ नमस्कार है।

यह समाधिशतक है, इसमें १०५ अर्थात् सौ से अधिक श्लोक हैं। इसीलिए इसे समाधि शतक कहते हैं। इसका दूसरा नाम समाधितंत्र भी है। जिसमें समाधि का प्रतिपादन होता है, उसे समाधितंत्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही समाधि है। गहरे गड्ढे में बैठना, श्वांस रोकना आदि समाधि नहीं हैं। अन्तरात्मा में जो ज्ञानानन्दस्वभाव पड़ा है, उसकी श्रद्धा ज्ञान व रमणता ही मोक्षमार्ग है और वही यथार्थ समाधितंत्र है। सिद्धों में शरीर-मन-वाणी नहीं है। सिद्ध तो अनंत-ज्ञान-दर्शन सम्पन्न हैं। सिद्धों के समान ही मैं हूँ। जिसप्रकार सिद्धों में राग-द्वेष नहीं है, दया-दान आदि के भाव नहीं हैं, गति आदि नहीं हैं, उसीप्रकार मुझमें भी अर्थात् मेरे स्वभाव में भी राग-द्वेष, दया-दान एवं गति आदि मार्गणा व गुणस्थानादि भाव नहीं हैं। सर्वप्रथम ऐसा भेदज्ञान कराया। जो सिद्धों में नहीं है, वह सब मुझमें नहीं है। इसप्रकार सिद्धों जैसा आत्मा अपने स्वरूप से जानने में आता है। यही सिद्धों को सच्चा नमस्कार है।

मनुष्यादि विभाव पर्यायों से आत्मा नहीं जाना जाता। शरीर-मन-वाणी और इन्द्रियों से भी आत्मा जानने में नहीं आता; क्योंकि ये सब आत्मा के रूप नहीं हैं। आत्मा तो शुद्ध चिदानंद स्वरूप है। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि शरीर ही धर्म का आद्य साधन है। शरीर अनुकूल हो, स्वस्थ हो तो आत्मा जाना जा सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि शरीर-मन-वाणी आदि पर हैं, जड़ हैं, अचेतन हैं। आत्मा पर, जड़ व अचेतन से नहीं, ज्ञान से जाना जाता है। शरीर-मन-वाणी पर पदार्थ जड़ हैं, पुद्गल की पर्यायें हैं, इनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता है। पर

को पररूप जानो। इन्द्रिय, प्राण एवं शुभविकल्प पर रूप हैं, ज्ञायक रूप नहीं हैं।

सिद्धों में ये इन्द्रियादि प्राण नहीं हैं, अतः सिद्धों द्वारा इन प्राणों से भिन्न अपना शुद्धात्मा जान लिया जाता है। तथा पर को पर रूप से जान लिया जाता है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान अनंत अव्याबाध सुख की मूर्ति हैं, उसी प्रकार अपना निज आत्मा भी अनंत सुख का सागर है ऐसा जान लेना ही मंगल आचरण है :–

अज्ञानी जीव अनादिकाल से परपदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या मान्यता से ग्रस्त है। मोह के कारण पर्यायबुद्धि होने से अपने स्वरूप को भूलकर विनाशीक पर-पदार्थों में एकत्व-ममत्व करता है और ऐसा मानता है कि 'मैं पंडित हूँ, मूर्ख हूँ, धनवान हूँ, निर्धन हूँ तथा शरीर ठीक रहेगा तो मैं ठीक रहूँगा' आदि। एतदर्थ शरीर की रक्षा में सदा सन्नद्ध रहता है और अच्छे पौष्टिक आहार की व्यवस्था में व्यस्त रहता है। अनादिकाल से ऐसे विपरीत अभिप्राय के कारण पर को ही हितकारी-अहितकारी समझता रहा है। निमित्ताधीन दृष्टि होने से निमित्तों से लाभ-हानि का विचार कर उनमें ही राग-द्वेष किया करता है। वैराग्य को और आत्मज्ञान को कठिन व कष्ट-साध्य मानता है। तत्त्वज्ञान में रुचि न होने से मात्र एक घण्टे के स्वाध्याय में ही थक जाता है और सांसारिक कार्यों में, व्यापार-धन्धे में, विषय भोगों में रुचि व उत्साह होने से ४-४ घण्टे के कठोर परिश्रम से भी नहीं थकता।

इसप्रकार जिसे आत्मा के हितकारी कार्यों में अरुचि, अनुत्साह और विषय-कषाय के कार्यों में रुचि व उत्साह आता है तथा जो पर-पदार्थों में एकत्व-ममत्व व इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें करता है, वह निमित्ताधीन दृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है।

जिस तरह पित्तज्वर के रोगी को मीठा दूध भी कड़वा लगता है, उसी तरह अज्ञानी को आत्मा की बात नहीं सुहाती, रुचिकर नहीं लगती; इसीकारण उसे समझने में कठिन लगती है।

यद्यपि संसार में सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं, दुःख दूर करने के उपाय भी करते हैं, परन्तु वे उपाय सच्चे न होने से सुखी नहीं हो पाते।

भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, उसे प्राप्त करने का उपाय मात्र आत्मा के शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान व आचरण करना है। राग मिश्रित विचार छोड़कर निर्विकल्प प्रतीति, निर्विकल्प ज्ञान व निर्विकल्प रमणता ही निश्चय रत्नत्रय है। इसी से कर्मबन्धन कटता है। यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मा की निर्मल पर्याय के कारण कर्म नहीं कटते तथा कर्म के अभाव के कारण आत्मा की पर्याय भी निर्मल नहीं होती। दोनों अपनी-अपनी योग्यता से, अपने-अपने स्वचतुष्टय से परिणमित होते हैं। कर्म के अभाव व आत्मा की निर्मल पर्याय का परस्पर कर्ता-कर्मपना नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि कर्म के अभाव से आत्मा की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। कर्म के नाश में आत्मा की निर्मल पर्याय निमित्त अवश्य है तथा आत्मा की निर्मल पर्याय में कर्म का अभाव भी निमित्त रूप से होता है। दोनों का परस्पर ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सहज सम्बन्ध है, किन्तु दोनों में कर्त्ता-कर्मपना नहीं है, परस्पर आश्रितपना भी नहीं है।

सात तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान व आचरण मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं। मैं ज्ञायक हूँ, आत्मा हूँ; दया-दान पुण्य है, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप हैं। दोनों आस्रव हैं। राग में अटकना बन्ध है। स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह संवर निर्जरा है। पूर्ण निर्मल पर्याय मोक्ष है। इसप्रकार प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की श्रद्धा होती है। शरीर, मन, वाणी तो प्रगटरुप से पर हैं एवं दया, दान आत्मा के विकार हैं, आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है। ऐसी श्रद्धा करने से व इसी में स्थिर होने से चारित्र दशा प्रगट होती है। यही कर्मबन्धन से छूटने का एकमात्र यथार्थ उपाय है।

यहाँ तक श्लोक के पूर्वार्द्ध में मोक्ष का उपाय बताया, अब शेष उत्तरार्द्ध श्लोक में मोक्ष का स्वरूप कह कर उपसंहार करते हैं : —

मोक्ष अविनाशी निराकुलता का नाम है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित आत्मा की आत्यन्तिक निर्मल दशा ही मोक्ष है। यह आत्मा की पूर्ण शुद्ध निर्मल पर्याय है तथा स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र की स्वाभाविक क्रिया सहित एवं पर की व राग की क्रिया से रहित दशा मोक्षमार्ग है। यही मोक्ष का साधन है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति का इच्छुक सिद्धों को नमन करता है, इसी प्रयोजन से पूज्यपाद स्वामी ने भी अपने मंगलाचरण में सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया है। जैसे धन का इच्छुक धनवान की स्तुति करता है, उसी तरह मोक्ष के इच्छुक ने सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया है।

ग्रन्थकर्त्ता, व्याख्याता एवं श्रोता-तीनों का अभिप्राय अपने में ही सिद्धपद की स्थापना करने का है; क्योंकि अपने स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण करने से ही अपनी पर्याय में सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

कोई भी जीव पर के लिए कुछ नहीं करता, सब अपने लिए ही करते हैं। बाप भी बेटे के लिए कुछ नहीं करता, वह भी अपने राग की ही पूर्ति करता है। अज्ञानी का राग-द्वेष एवं ज्ञानी की वीतरागता - सब स्वयं के लिए ही हानि व लाभप्रद हैं, अन्य के लिए नहीं।

यहाँ ग्रन्थकर्ता की उत्कट अभिलाषा शुद्धात्मा को ही प्राप्त करने की है। जिसको जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वह उन्हीं गुणों से युक्त महापुरुषों को ही नमस्कार करता है। जिसे परमात्मा की चाह है, वह परमात्मा का स्वरूप समझकर उन्हें नमस्कार करता है। कृत-कृत्यता एवं पूर्णता की दृष्टि से परम देवपना सिद्ध में ही होता है। अतः इस मंगलाचरण में सर्वप्रथम सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया है। पाँचों पद सिद्ध परमात्मा के ही पूर्व रूप हैं अतः सिद्धों में पाँचों पद समा जाते हैं। अतः सिद्धों के नमन से पंचपरमेष्ठी को भी नमस्कार हो गया।

* * *

श्लोक २

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती,
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥

अन्वयार्थ :- (यस्य तीर्थकृतः) जिस तीर्थंकर की **(अनीहितुः अपि)** बिना इच्छा के अर्थात् इच्छा के अभाव में भी एवं **(अवदतः अपि)** बिना बोले भी अर्थात् तालु-ओष्ठ आदि द्वारा शब्दोच्चारण नहीं किये जाने पर भी **(भारती विभूतयः)** दिव्यध्वनि अर्थात् ओंकाररूप जिनवाणी की विभूति **(जयन्ति)** जयवंत वर्तती है - सदैव जय को प्राप्त होती है, **(तस्मै शिवाय)** उस शिवस्वरूप परमकल्याणकारक या अक्षय सुखस्वरूप परमात्मा के लिए **(धात्रे)** ब्रह्मस्वरूप सन्मार्ग के उपदेश द्वारा लोक के उद्धारक विधाता के लिए **(सुगताय)** सद्बुद्धि एवं सद्गति को प्राप्त परमात्मा के लिए **(विष्णवे)** अपने केवलज्ञान द्वारा समस्त चराचर पदार्थों में व्याप्त होनेवाले विष्णुस्वरूप सर्वदर्शी सर्वज्ञ परमात्मा के लिए एवं **(जिनाय)** संसार परिभ्रमण के कारणभूत मोह-राग-द्वेष तथा इन्द्रिय के विषयों को जीतनेवाले वीतरागी जिनेन्द्र भगवान के लिए और **(सकलात्मने)** ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का अभाव करने वाले अरहंत परमात्मा के लिए **(नमः)** नमस्कार हो।

विशेषार्थ :- यद्यपि इस श्लोक में शिव, ब्रह्मा, विष्णु, सुगत (बौद्ध) और जिन - ये पाँच नाम आये हैं; तथापि इन पाँचों नामों द्वारा केवल एक सकल परमात्मा अरहंत भगवान को ही नमस्कार किया गया है, क्योंकि जैन मान्यता के अनुसार 'गुणिसु गुणं पूजास्थानं न च लिंग न च वयः' अर्थात् गुणीजनों में मात्र उनके गुण ही पूज्य हैं, कोई व्यक्ति विशेष एवं उसकी उम्र व भेष नहीं। इसी बात की अभिव्यक्ति के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जो इच्छारहित - वीतरागी व सर्वज्ञ परमात्मा है उसे

चाहे शिव कहो, ब्रह्मा कहो, विष्णु कहो, सुगत कहो या महावीर कहो-किसी भी नाम से कहो, हमें तो सर्वज्ञ वीतरागी परमात्मा ही आराध्य हैं, वे ही कल्याणकारी होने से शिव हैं, उनका केवलज्ञान सर्वव्यापक होने से वे ही विष्णु हैं, ब्रह्मस्वरूप शुद्धात्मा के उपदेश द्वारा लोक के उद्धारक होने से वे ही ब्रह्मा है तथा सद्गति को प्राप्त होने से सुगत एवं वीतरागी सर्वज्ञ होने से वे ही जिन हैं।

साथ ही यहाँ यह ज्ञान भी करा दिया गया है कि सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी बिना इच्छा के ही सर्वांग से ओंकार ध्वनिरूप होती है, वे मुख से शब्दोच्चार नहीं करते। यह उनकी अतिशययुक्त विशेषता है, अन्यथा उसे सभी भाषा-भाषी और भाषा में न बोल सकने वाले मूक पशु भी कैसे समझ पाते ?

श्लोक 2 पर प्रवचन

यहाँ इस पद्य में सर्वज्ञदेव को सच्चा देव और उनकी निरक्षरी स्याद्वाद वाणी को आगम कहा गया है। वाणी स्वयं तीर्थ है। जिससे तिरा जाय अथवा जो संसार सागर से तारने में निमित्त हो वही तीर्थ है, वह तीर्थरूप दिव्यवाणी जिस वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा के सर्वांग से खिरती है, वे ही तीर्थंकर हैं।

वस्तुस्वरूप को ख्याल में लेकर उसी की बारम्बार भावना करना समाधितन्त्र है। जिस शास्त्र में समाधि का उपाय बताया जाता है अथवा समाधि का प्रतिपादन किया जाता है, उस शास्त्र को भी समाधितन्त्र कहते हैं।

गुफा में जाना, आसन जमाकर बैठना कोई समाधि नहीं है। आत्मा स्वयं आनन्द का कंद है, इस आत्मानुभव की गुफा में जाकर स्वरूप में जम जाना ही समाधि है। पुण्य-पाप व शरीर से रहित ज्ञानस्वभाव में लीन होना ही धर्म की गिरी-गुफा में जाना है।

भगवान सर्वज्ञदेव के इच्छा का अभाव हुआ है, उनके इच्छा नहीं है, वे तालु होंठ आदि से उच्चारण नहीं करते। उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि सर्वांग से छूटती है और वे समवशरणादि वैभव-सहित हैं तथा तीर्थ के कर्त्ता हैं। शरीर सहित अरिहन्त भगवान सकल परमात्मा हैं और शरीर रहित सिद्ध परमात्मा निकल परमात्मा हैं।

अरिहन्त भगवान का शरीर महासुन्दर परमौदारिक होता है, उसमें देखनेवाले को अपने अगले-पिछले सात भव दिखाई पड़ते हैं (भविष्य के भव जिसको होने वाले होंगे उसी को दिखेंगे)। भगवान के समवशरण की वैभव और शोभा अचिन्त्य होती है; ऊपर तो मोती लगे हुये तीन उत्कृष्ट छत्र शोभायमान होते हैं तथा भामण्डल आदि भी होते हैं। इस भाँति दिव्यवाणी और छत्रादि वैभवसहित वे जयवन्त वर्तते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

वे अरिहन्त देव ही धाता हैं, शिव हैं, सुगत हैं, विष्णु हैं, जिन हैं, और सकल परमात्मा हैं; क्योंकि यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा को ही विधाता कहा है। जगत के अन्यमत वाले लोग विधाता की अन्य नाना प्रकार से कल्पना करते हैं। परन्तु वास्तव में कोई अन्य विधाता नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही अपना विधाता है। जगत में अन्य कोई विधाता नहीं है। आत्मा के आश्रय से पूर्ण आनन्द दशा प्रगट होकर जो हितकारी वाणी (दिव्यध्वनि) प्रस्फुटित होती है, वही आत्मा का सच्चा विधातृत्व है।

तीर्थंकरदेव दिव्यध्वनि के उपदेशों द्वारा भव्यजीवों को मोक्षमार्ग पहुँचाते हैं, इसकारण उन सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर देव को भी व्यवहार से विधाता कह सकते हैं। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार छठी का लेख लिखनेवाला कोई अन्य विधाता जगत में नहीं है। हाँ, सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान में सब जीवों का तीनों कालों में जब, जैसा जो होना है, वह सब खचित है, ज्ञात है, इस अपेक्षा से कहा जाय तो सर्वज्ञ भगवान ही सबका लेख लिखने वाले एवं बताने वाले सच्चे विधाता हैं।

उन्हीं सर्वज्ञ परमात्मा को शिव भी कहते हैं। शिव अर्थात् कल्याणमय एवं कल्याणकारक, जो स्वयं कल्याणमय हैं तथा दिव्यध्वनि द्वारा जगत को मोक्षमार्ग का कल्याणकारी उपदेश देते हैं। अत: अरहंत भगवान ही सच्चे शिव है। तथा अपने आत्मा के आश्रय से ही उन्होंने शिवपद प्राप्त किया है, अत: अरहंत भगवान ही शिवस्वरूप एवं शिवकारक होने से सच्चे शिव हैं। उनके सिवाय अन्य कोई ईश्वर रूप वास्तविक शिव नहीं है।

शोभायमान दिव्यज्ञान को प्राप्त होने से अरिहन्त भगवान ही सुगत हैं। गत अर्थात् ज्ञान; केवलज्ञान द्वारा ही आत्मा की शोभा है। अत: जो उस ज्ञान को प्राप्त हो गये हैं, वे ही सुगत हैं। अथवा सुगत अर्थात् सम्यक्गति, उत्तमगति। पुनरावर्तन रहित ऐसी जो उत्तम मोक्षगति है उसको प्राप्त होने से अरिहन्त भगवान ही सुगत हैं। संसार की चारों ही गतियां कुगति हैं, मात्र एक सिद्धगति ही सुगति है। ऐसी सुगति को प्राप्त होने से अरिहन्त भगवान ही सुगत हैं। 'सुगत' का तीसरा अर्थ इस भाँति भी है - 'सु' अर्थात् सम्पूर्ण रूप केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय को 'गत' अर्थात् प्राप्त सर्वज्ञदेव सुगत हैं।

सर्वज्ञदेव केवलज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओं में व्यापक होने से (ज्ञायक होने से) विष्णु हैं। अनेक भवभ्रमण के कारणरूप जो मोहादिकर्म (भाव तथा द्रव्य) हैं उनके विजेता होने से अरिहन्त देव ही 'जिन' हैं। चैतन्य स्वभाव की अधिकता द्वारा मोहादि को जिन्होंने जीत लिया है - नष्ट कर दिया है, वे जिन हैं। और शरीर सहित होने से उन्हें सकल कहा गया है। ऐसे अरहन्त परमात्मा को नमस्कार हो।

अरहन्त परमात्मा दिव्य भारती द्वारा हित के उपदेशक हैं। भगवान की भारती कैसी है? सर्व जीवों को हितरूप है, वर्णसहित नहीं अर्थात् निरक्षरी है। जिसमें दोनों ओष्ठ चलते नहीं, वान्छारूपी कलंक नहीं, कोई दोषरूप मलिनता नहीं, श्वांसरुंधन रहित होने से जिसमें क्रम नहीं;

शान्तिमूर्ति ऋषिवरों के साथ-साथ पशुगण भी अपनी-अपनी भाषा में जिसका श्रवण करते हैं - सर्वज्ञदेव की ऐसी अपूर्व वाणी हमारे कल्याण में सहायक हो।

सर्वज्ञ भगवान शरीरसहित होने पर भी आहारादि दोषों से रहित हैं। आत्मा के अनन्त आनन्द का भोग जहाँ प्रगट हुआ वहाँ क्षुधादि दोष नहीं होते। इनके अतिरिक्त अन्य कुदेव तो रागादि सहित हैं, क्षुधादि दोष सहित हैं, अतः वे आत्मा को इष्ट नहीं हैं। अतीन्द्रिय आनन्दमय सर्वज्ञपद ही आत्मा का परम इष्ट है। अतः उसको आदरपूर्वक पहिचानकर नमन करते हैं।

सर्वज्ञ का उपदेश आत्मा के हित का कारण है। सर्वसंग से पार होकर आत्मा के स्वभावसन्मुख होना ही हितोपाय है - ऐसा भगवान का उपदेश है। अरिहन्त भगवान ही सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं, वे इष्टदेव हैं; उनके अलावा वस्तुस्वरूप से अज्ञात अन्य सब अदेव हैं। वे हितोपदेशी नहीं हो सकते। आत्महित के वास्तविक उपाय से जो स्वयं अनभिज्ञ हैं वे हितोपदेशी कैसे हो सकते हैं ? सर्वज्ञ वीतराग अरिहन्त परमात्मा ही जगत में हितोपदेशक हैं। वे कहते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना प्रभु है, मैं प्रभु अपना और तू प्रभु तेरा; मेरी प्रभुता मुझमें और तेरी प्रभुता तुझमें - इसलिये अपने आत्मा की पहचान करके उसके सन्मुख हो जा, इसी में तेरा हित है। इसप्रकार सर्वज्ञदेव ही सच्चे हितोपदेशी हैं - इष्टदेव हैं, अतः उन्हें नमस्कार किया है।

इस प्रकार परमहितोपदेशी तीर्थंकर अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार करके उनकी दिव्यवाणी रूपी भारती की महिमा का वर्णन किया।

* * *

श्लोक ३

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्तिः, समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानं यथाभिधास्ये ।।३ ।।

अन्वयार्थः– **(श्रुतेन)** कुन्दकुन्दाचार्यादि रचित शास्त्रों से, **(लिंगेन)** युक्ति एवं अनुमान से और **(यथात्म शक्ति)** आत्मशक्ति के अनुसार, **(समाहितान्तः करणेन)** यति अन्तःकरण से समाहित होकर या चित्त की एकाग्रतापूर्वक अन्तःकरण के अनुभव से **(सम्यक् समीक्ष्य)** शुद्धात्मा को भली-भाँति जानकर - उसकी प्रतीति करके **(कैवल्यसुखस्पृहाणां)** जो कैवल्यसुख के अभिलाषी हैं, अतीन्द्रिय आनन्द के सिवाय अन्य कुछ नहीं चाहते, उन भव्य जीवों के लिए मैं इस शास्त्र द्वारा **(विविक्तात्मानमभिधास्ये)** शुद्धात्मा का स्वरूप कहता हूँ - आचार्यदेव ने ऐसा संकल्प किया है।

श्लोक ३ पर प्रवचन

देखो ! जिनके पादकमल देवों से पूज्य हैं - ऐसे पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं आत्मा का अनुभव करते-करते यह रचना की है। वे पक्षोपवास करते थे, अनेक ऋद्धियाँ उन्हें प्रगट थीं, महान बुद्धि के धारक थे और आत्मशान्ति के अनुभव में लीन थे - ऐसे दिगम्बर संत कहते हैं कि अहो ! जो जीव आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की अभिलाषा रखते हैं, उनके लिए मैं कर्म से भिन्न शुद्धात्मा का स्वरूप बताऊँगा। उस आत्मा को जानने पर अवश्यमेव अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है; क्योंकि आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। जिन्हें अनंतकाल के भवभ्रमण के दुःखों से थकान लगी हो और जिन्हें केवल आत्मसुख की ही स्पृहा जगी हो - ऐसे भव्यात्माओं के लिए यहाँ आचार्यदेव पर व पर्याय से भिन्न शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहेंगे।

मुझे अपने आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना है और वह मुझे अवश्य प्राप्त होगा - ऐसे विश्वास के साथ जो आत्मसुख लेने का

इच्छुक है, उसको यह बात समझाते हैं। "मैं अभव्य हुआ तो मुझे आत्मा का आनन्द प्राप्त नहीं होगा" - ऐसा संदेह जिसका टल गया है और आनन्द का उपाय बतलाने वाले देव-शास्त्र-गुरु की आस्था जिसे जग गई है - ऐसे आत्मसुखाभिलाषी जीव को यहाँ भिन्न आत्मा का स्वरूप कहकर सुख का उपाय बतलाते हैं। दुःख तो क्षणिक पर्याय में है, उसका नाश होकर सुख प्रगट होगा। आत्मा के स्वभाव में अतीन्द्रिय सुख है, उसी में से वह प्रगट होगा। पर से भिन्न आत्मा का स्वरूप जानकर उसके सन्मुख होना ही हित का उपाय है, इसीलिए गुरु हिताभिलाषी जीव को भिन्न आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं।

अहो ! इस शास्त्र के श्रोता ऐसे हैं; जिन्हें मात्र आत्मसुख की ही वांछा है, जगत के बाह्य विषयों की रंचमात्र भी नहीं। "काम एक आत्मार्थनुं बीजो नहिं मनरोग" - ऐसे पात्र श्रोता को सुख का उपाय बताते हैं।

द्वादशांगरूप जिनवाणी का सार यह है कि कर्म से भिन्न, संयोग से भिन्न, ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा है, उसी का लक्ष्य करो और उसी में ठहरो। जिसने उसका अनुसरण किया, उसी का जन्म सफल हो गया। आत्मलक्ष्य के बिना भले द्रव्यलिंगी साधु हो, तथापि उसका जन्म सफल नहीं है। भाई ! शान्ति तो अन्दर स्वभाव में है और उसी में से आती है, इसलिए उसका लक्ष्य करना ही सर्वशास्त्रों का सार है और ऐसा करने वाले का अवतार सफल है।

समयसार की पाँचवीं गाथा में भी आचार्यदेव ने कहा है कि मैं एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा का स्वरूप निजवैभव से बताऊँगा। सर्वज्ञकथित आगम के ज्ञान से, अनेकांतमय निर्दोष युक्ति से एवं गुरु के अनुग्रहपूर्वक दिये गये उपदेश से तथा मेरे आत्मा के प्रचुर स्वसंवेदन से जो मेरा निज वैभव प्रगट हुआ है, उसे मैं कहूँगा।

ग्यारह अंग व चौदह पूर्व का सार यह है कि निमित्त-संयोग एवं पुण्य-पाप की दृष्टि छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करो। जिसको निज स्वभाव का लक्ष्य हो जाता है, उसी का जन्म सफल है। जो रागादि करके पर का

लक्ष्य करता है, उसका मनुष्य जन्म निष्फल है। भले ही वह मुनि हो, तो भी आत्मस्वभाव के भान बिना मानव जीवन सफल नहीं होता।

यहाँ शुद्धात्म स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। शुद्धता का ज्ञान होने पर अशुद्धता का भी ज्ञान हो जाता है। स्व का ज्ञान होते ही पर का भी ज्ञान हो जाता है। ज्ञानी की जो अविकारी दशा होती है, वह अन्तर में से आती है। ज्ञानी को उसकी, पर की एवं पुण्य-पाप की दृष्टि छूट जाती है।

वर्तमान अशुद्धता का निमित्त कारण जो कर्म को कहा है, वह तो केवल निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार का कथन है। परन्तु जिसे विकार की स्वतन्त्रता की ही खबर नहीं है, उसे शुद्धात्मा की बात कैसे बैठे ? पंचास्तिकाय ग्रन्थ में विकार के षट् कारक की चर्चा है। वहाँ कहा है कि विकार का कर्त्ता आत्मा है तथा विकार आत्मा का कर्म है, विकार का साधन स्वयं आत्मा है, स्वयं आत्मा विकार करके आत्मा के लिए ही देता है, आत्मा अपनी ही पूर्व-पर्याय का व्यय करके नया विकार करता है तथा अपने ही आधार से करता है। इस प्रकार निरपेक्ष षट् कारक का निश्चय करे तो व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा। किन्तु यदि निरपेक्ष षट् कारक का निर्णय न करे तो व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। विकार स्वयं करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है।

* निरपेक्ष बिना सापेक्ष का निश्चय यथार्थ नहीं।
* उपादान के निश्चय बिना निमित्त का निश्चय सच्चा नहीं।
* निश्चय के निश्चय बिना व्यवहार का निश्चय सच्चा नहीं।
* अभेद के निश्चय बिना भेद का निश्चय सच्चा नहीं।
* स्व के निश्चय बिना पर का निश्चय सच्चा नहीं।
* निरपेक्ष का ज्ञान करे तो सापेक्ष का ज्ञान सच्चा है।

* उपादान का ज्ञान करे तो निमित्त का ज्ञान सच्चा है।

* निश्चय का ज्ञान करे तो व्यवहार का ज्ञान सच्चा है।

* अभेद का ज्ञान करे तो भेद का ज्ञान सच्चा है।

* स्व का ज्ञान करे तो पर का ज्ञान सच्चा है।

इस शास्त्र की ही ५३वीं गाथा में कहा है कि "उस आत्मस्वरूप का कथन करे, उसे दूसरों को बतावे, उस आत्मस्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से पूछे, उस आत्मस्वरूप की इच्छा करे, उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनावे, उस आत्मस्वभाव की भावना में सावधान हो उसके आदर में वृद्धि करे, जिससे बहिरात्मपने का नाश करके ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति हो।"

आचार्य अमितगति ने योगसार के निर्जरा अधिकार गाथा ४९ में जो निम्नांकित १३ बोल कहे हैं, उनमें भी आत्मा की ही बात है :—

"जो पुरुष विद्वान है; उन्हें एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही निश्चल मन से पढ़ने योग्य है, वही ध्यान करने योग्य है, वही आराधना करने योग्य है, वही पूछने योग्य है, वही सुनने योग्य है, वही अभ्यास करने योग्य है, वही उपार्जन करने योग्य है, वही जानने योग्य है, वही कहने योग्य है, वही प्रार्थना के योग्य है, वही शिक्षा के योग्य है, वही देखने योग्य है, और वही प्राप्त करने योग्य है।"

शास्त्रों में जो भी शुद्धात्मा का कथन है या अशुद्धात्मा का कथन है, वह सभी वीतरागता को समझाने के लिए ही है। शास्त्र ऐसा कहते हैं कि हे आत्मन् ! तुझमें परिपूर्ण शक्ति है, उसके अवलम्बन से तू शुद्धता प्रकट कर ले !

वर्तमान में आत्मतत्त्व की बात खूब चर्चित हो गई है, सहज उपलब्ध भी हो रही है, तथापि जैसे कोई व्यक्ति छोटे बालक के पास से एक बार

खिलौना छीन ले जावे तो वह बालक ऊँ-ऊँ-ऊँ ही किया करता है; उसे बहुत समझाएँ, मिठाई दें, खिलौना भी वापिस कर दें तो भी वह कुछ काल तक अपनी ऊँ-ऊँ-ऊँ नहीं छोड़ता। उसीप्रकार आचार्यदेव अज्ञानी से कहते हैं कि तेरा यह दुःखरूप संसार तेरी ही भूल से पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ है, कर्म के उदय को तो निमित्त की अपेक्षा कारण कहा जाता है; तू अपनी वस्तु देख। परन्तु अज्ञानी उसे अपनी भूल नहीं मानता, समझाने पर भी 'न-न-न' रूप से नकार ही किया करता है।

आत्मा तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, मात्र उसकी पर्याय में भूल है - उपाधि है। आत्मा का स्वभाव तो उपाधि से रहित है। ऐसे स्वभाव के जाने बिना अनन्त बार नववीं ग्रैवेयक गया। यद्यपि व्यवहार में किंचित् भी भूल नहीं होती, तथापि अन्तर में भूल पड़ी रहती है। पुण्य से धर्म के संस्कार पड़ेंगे - ऐसी बुद्धि बनी रहती है।

यहाँ शुद्धात्मा की जिज्ञासा वाले जीव को लक्ष्य में रखते हुए आचार्यदेव ने यह ग्रन्थ बनाया है। ग्रन्थ बनाने में छह बातें होतीं हैं :—

(1) मंगल (2) नाम (3)प्रयोजन (4) निमित्त (5) परिणाम (6) कर्त्ता।

यहाँ निमित्त उस भव्य पुरुष को बनाया है, जो पूर्ण शुद्धात्मा की बात सुनने आया है तथा कर्मों का क्षय करके बाधारहित निर्मल अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति करने की इच्छा वाला है। "पुण्य परिणाम कम हों या अधिक अथवा अनादि के संयोग कम हों या अधिक हों, उनसे क्या ? ये सब तो अनन्त बार मिले हैं। केवल एक शुद्धात्मा का स्वरूप आजतक नहीं मिला" - इस भावना से शुद्धात्मा की बात सुननेवाले भव्य जीव के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना करने का भाव आचार्यदेव को हुआ है; अतः वे प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं शुद्धात्मा को कहूँगा। कर्म के संबंध से जो पुण्य-पाप होता है, उससे रहित शुद्धात्मा का स्वरूप कहूँगा। शुद्धात्मा की बात जैसी जो आगम में कही है, उसे आगम व युक्ति से कहूँगा। अन्तःकरण की एकाग्रता द्वारा अपनी शक्तिप्रमाण अनुभव से कहूँगा।

आत्मा संयोगलक्षण वाले समस्त पदार्थों से जुदा है। पुण्य-पाप संयोगलक्षण वाले हैं। विकार में स्वभाव का प्रवेश नहीं है, स्वभाव में विकार का प्रवेश नहीं है। परपदार्थ आत्मा के नहीं हैं, आत्मा उनका नहीं है। आत्मा में जो विकार होता है, कर्म उसमें निमित्त मात्र हैं। ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध को दृष्टि में गौण करने से शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अब मैं यह बताऊँगा कि जिनवाणी सुनने का पात्र जीव कैसा होता है? जिनवाणी के श्रोता की पात्रता कैसी होती है?

जिन आत्मार्थी भव्य श्रोताओं के मन में से पुण्य-पाप की रुचि छूट गई है एवं अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करने की रुचि जागृत हुई है तथा केवल सच्चे सुख को ही प्राप्त करने मात्र की जिनकी इच्छा है - ऐसे पात्र जीवों को आचार्यदेव शुद्धात्मा की बात कहेंगे क्योंकि ऐसे जीव ही जिनवाणी सुनने के पात्र हैं।

नियमसार आदि ग्रन्थों में भी कहा है कि-मैं नित्यानन्द हूँ, मेरा लक्षण ज्ञान-दर्शन है। दया-दान उपाधियाँ हैं। समस्त पदार्थ मुझसे बाह्य हैं। पाप-पुण्य दया-दान भक्ति आदि बाह्य भाव हैं - ऐसा श्रुत कहता है। इसी में चारों अनुयोगों का सार आ जाता है। गोम्मटसार में कार्य का सम्बन्ध तथा विकार का ज्ञान कराया है। उसका प्रयोजन यह है कि निमित्त-नैमित्तिक संबंध तुझमें नहीं है। तू तो सर्व पर व पर्यायों से पृथक् ज्ञायकभाव स्वरूप है। जीव का लक्षण उपयोग है और रागादि का लक्षण अनुपयोग है।

अब अनुमान से इसी बात को कहते हैं। आत्मा को अनुमान से जाना जा सकता है। शरीर व आत्मा के लक्षण जुदे-जुदे हैं, अतः स्पष्ट है कि आत्मा व शरीर भिन्न ही हैं। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है तथा

पानी का स्वभाव ठंडा है; उसी प्रकार आत्मा का लक्षण उपयोग है एवं शरीर का लक्षण अनुपयोग है। शरीर मोटा हो तो भी ज्ञान कम देखा जाता है तथा शरीर दुबला हो तो भी ज्ञान अधिक देखा जाता है। यदि शरीर व आत्मा एक हों तो शरीरप्रमाण ही ज्ञान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। आत्मा तो ज्ञान-लक्षण से लक्षित होता है। यद्यपि ज्ञान द्वारा जड़ पदार्थ भी जाने जाते हैं, पर वे अनुपयोग-लक्षण से जड़रूप जाने जाते हैं।

इसप्रकार आगम व अनुमान के सहयोग से चित्त की एकाग्रतापूर्वक आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है। शरीर, मन, वाणी मुझमें नहीं हैं। मैं परमात्मशक्ति से भरपूर हूँ। मन-वाणी के राग के अवलम्बन बिना साक्षात् अनुभव होता है। जबतक आगम को युक्ति से सिद्ध करते हैं, तबतक राग है; पश्चात् राग को छोड़कर ज्ञानी स्वभाव में एकाग्रता करता है। स्वभाव-सन्मुख होकर ज्ञान से ज्ञान का वेदन होना ही स्वसंवेदन है। इसी में प्रतिति का नाम सम्यग्दर्शन है। आगम, युक्ति अनुमान व अनुभव के आधार पर ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है। पुरुष की प्रामाणिकता से ही वस्तु की प्रामाणिकता होती है।

* * *

श्लोक ४

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात् परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥ ४॥

अन्यवार्थ :- **(सर्वदेहिषु)** सर्वप्राणियों में **(बहिः)** बहिरात्मा **(अंतः)** अन्तरात्मा **(च परः)** और परमात्मा **(इति)** इसतरह **(त्रिधा)** तीन प्रकार का **(आत्मा)** आत्मा **(अस्ति)** है। **(तत्र)** आत्मा के उन भेदों में से **(मध्योपायाद्)** अन्तरात्मा के उपाय द्वारा **(परमं)** परमात्मा को **(उपेयात्)** अंगीकार करें - अपनावें और **(बहिस्त्यजेत्)** बहिरात्मा को छोड़ें।

श्लोक ४ पर प्रवचन

सभी प्राणियों को बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा के भेद से तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। जो शरीर व पुण्य-पाप को ही जीव का स्वरूप मानते हैं और जीव के स्वरूप को नहीं पहचानते, वे बहिरात्मा जीव हैं। आत्मा तो पुण्य-पाप शरीर से भिन्न ज्ञान-दर्शन मात्र अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु है, उसे बहिरात्मा जीव नहीं जानते।

जो इस आत्म तत्त्व को जानकर उसकी अनन्त शक्तियों का विश्वास करते हैं, वे अन्तरात्मा हैं तथा जिन्होंने मोह-राग-द्वेषादि कषायों का एवं ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव कर दिया है, वे जीव परमात्मा हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की तीन अवस्थाएँ होतीं हैः- बहिरात्मपना, अन्तरात्मपना और परमात्मपना। अचेतन पुद्गल - पिण्डरूप शरीर, मन, वाणी, पुण्य-पाप आदि मेरी चीजें हैं, उनसे मुझे लाभ होता है - ऐसी मान्यता वाले जीव बहिरात्मा हैं। बहिरात्मा जीव परद्रव्य को अपना मानता है। स्वयं का ज्ञानानंद स्वभाव है, उसे भूलकर वह शरीर-मन-वाणी से लाभ मानता है। आत्मा जो शाश्वत वस्तु है, उसमें तो एकत्व करता नहीं है और कहता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'- स्वस्थ शरीर ही धर्म का उत्तम साधन है।

अरे ! शास्त्रों में जो शरीर को धर्म का साधन कहा है वह तो निमित्त का कथन है। शरीर की सेवा करने से, उसे बिगड़ने नहीं देने से संभाल कर रखने से स्वस्थ रहेंगे; स्वस्थ रहेंगे तो सुखी रहेंगे - ऐसी मान्यतावाले जीव शरीर में एकत्व, ममत्व एवं कर्तृत्वबुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि हैं। मैं इनका हूँ या ये मेरे हैं - ऐसी जब तक पर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक वह जीव बहिरात्मा है।

२८ मूलगुण के पालन करने में ही जो धर्म मानते हैं, वे भी बहिरात्मा हैं; क्योंकि वे आत्मस्वभाव से बाह्य हैं। अन्तर में तो वे हैं ही नहीं, अन्तर को जानने-पहचानने का प्रयत्न भी नहीं है। बाहर में २८ मूलगुण के पालन को ही जिन्होंने धर्म या धर्म की क्रिया मान लिया है, वे तो अन्तर के आत्मस्वभाव को जानने-पहचानने का प्रयत्न करेंगे भी क्यों ?

जो पुण्यरूप विकार से लाभ मानते हैं एवं संयोगों से लाभ मानते हैं, उनकी निमित्ताधीन दृष्टि है, रागबुद्धि है। 'अनुकूल निमित्त मिलें तो धर्मलाभ होगा' - ऐसी निमित्ताधीन दृष्टिवाले अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। शरीर में आत्मबुद्धि का त्याग होना ही मिथ्यात्व का विनाश है।

जिसका ऐसा बहिरात्मपना नष्ट हो गया, वही जीव अन्तरात्मा है। अन्तर स्वभाव को जानने-पहचानने वाला जीव अन्तरात्मा है। ये अन्तरात्मा उत्तम, मध्यम व जघन्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के जीव उत्तम अन्तरात्मा हैं। इनके बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं है, परन्तु दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक राग रहता है। देशव्रती एवं महाव्रती – पाँचवें-छठवें गुणस्थानवाले व्रती श्रावक एवं मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा हैं। छठवें गुणस्थान में मुनिराज को विकल्प होते हैं, वे निर्दोष आहार लेते हैं। तथा अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी धर्मात्मा जघन्य अन्तरात्मा हैं। इन्होंने ज्ञानस्वभाव में एकत्व करके तथा आस्रव-बंध को हेय मानकर अजीव से भेदज्ञान किया

है। अन्तर में इनको विशेष स्थिरता नहीं है, इस कारण बाह्य में व्रत नहीं होते। अतः ये अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं।

तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव तथा गुणस्थानातीत सिद्ध भगवंत परमात्मा हैं। परमात्मा ने संपूर्ण रागादि विकार का सर्वथा नाश करके पूर्णता प्रगट कर ली है। परमात्मा दो प्रकार के कहे गये हैं:- सकल परमात्मा और निकल परमात्मा।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टय (अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख व अनंत वीर्य) प्रगट कर लिया है, वे केवलज्ञानी अरहंत भगवान सकल परमात्मा हैं। सकल परमात्मा के अभी चार अघातिया कर्म मौजूद हैं, अतः उनका परमौदारिक शरीर है, समोशरण की विभूति है। जिन्होंने आठों कर्मों का अभाव करके सिद्ध पद पा लिया है, वे सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं।

अन्य मत में यह बात कहीं नहीं है। वे 'शुद्धात्मा' - ऐसा बोलते तो हैं, परन्तु ऐसे भेद नहीं मानते हैं। ये भेद पर्यायनय से कहे हैं। निश्चय ज्ञान-स्वभाव में निश्चय नय से कोई भेद नहीं है। नियमसार में कहा है कि जो जीव बहिरात्मा आदि भेदों के विकल्पों में अटक जाता है और इन्हीं बाह्य क्रियायों में धर्म-लाभ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करके राग में रुकना आवश्यक नहीं है, वह तो पराधीनता है। नियमसार के आवश्यक अधिकार की गाथा १५० में कहा है कि जो जिनलिंगधारी तपोधनाभास पुण्यकर्म की कांक्षा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन वगैरह बहिर्जल्प करते हैं तथा अशन, शयन, मकान बगैरह की प्राप्ति के लिए एवं सत्कार आदि की प्राप्ति के लिए अन्तर्जल्प में उपयोग लगाते हैं, वे सब बहिरात्मा जीव हैं। मात्र जल्प के विकल्प में वर्ते और भिन्न आत्मा का भान न हो तो वह बहिरात्मा ही है। वहाँ नियमसार में दृष्टिप्रधान कथन है और यहाँ ज्ञान-प्रधान कथन से

पर्याय में भेदों का ज्ञान कराते हैं। यहाँ व्यवहार से अन्तरात्मा के तीन भेद बताए हैं। अब आगे परमात्मा की बात कहेंगे।

बहिरात्मा विकार व विभाव का साधक है, अन्तरात्मा निर्मलता का या स्वभाव का साधक है। परमात्मा ने पूर्ण निर्मलता प्रगट की है। स्वभाव के अवलंबन द्वारा पूर्ण दशा प्रगट करके जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश किया है, अनन्तज्ञान-दर्शन के स्वभाव का भरोसा करके पूर्ण ज्ञान-दर्शन प्रगट किया है, वे अरहंत व सिद्ध परमात्मा हैं।

प्रश्न :- आपने कहा कि सभी जीवों में आत्मा के तीनों प्रकार के भेद पाये जाते हैं। निगोद के जीवों में भी बहिरात्मपना, अन्तरात्मपना एवं परमात्मपना शक्तिरूप से विद्यमान है और अभव्यों में भी आत्मा के उपरोक्त तीनों भेद शक्तिरूप से पाये जाते हैं। यह कैसे संभव है?

जो अभव्य हैं, शुद्धात्मा की बात उनकी समझ के परे तो है ही, किन्तु जो एक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप निज आत्मा का अनादर करके दया-दान-भक्ति के शुभरागरूप विकल्पों में ही सत्स्वरूप के दर्शन करते हैं, उन बहिरात्माओं के भी उक्त तीनों भेद कैसे संभव हो सकेंगे ?

उत्तर :- अरे भाई ! आपका यह सोचना आगम के संदर्भ में ठीक नहीं है, क्योंकि अभव्य जीवों में भी शक्तिरूप से अन्तरात्मपना व परमात्मपना अवश्य होता है। यद्यपि अभव्य को तीनकाल में कभी भी मुक्ति नहीं होगी, तथापि शक्तिरूप से उसमें परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है। जिसतरह पति के अभाव में सती विधवा स्त्री कभी भी पुत्र उत्पन्न नहीं करेगी, तथापि उसमें पुत्र जनने की शक्ति विद्यमान है या नहीं? उसीतरह अभव्य कभी मुक्त नहीं होगा, तो भी उसमें वह शक्ति विद्यमान है। शक्तिरूप से स्वभाव में सामर्थ्य होते हुए भी अभव्य जीव ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव नहीं करता, इस कारण उसकी वह शक्ति

व्यक्त नहीं होती। वह पाँच महाव्रत पालता है, हजारों रानियों का त्याग करता है, व्रत-उपवास करता है; परन्तु इन्हीं सब राग की क्रियाओं को धर्म मानता है, वह अनादि-अनंत बहिरात्मा है। वह पर्याय में ऐसा भाव ही व्यक्त नहीं करता कि मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। द्रव्यस्वभाव में परमात्मपने व अन्तरात्मपने की शक्ति है, परन्तु पर्याय में प्रगट करने की योग्यता नहीं है। यदि उसके स्वभाव में केवलज्ञान की शक्ति ही न हो तो केवलज्ञानावरणीय कर्म का बंध व्यर्थ सिद्ध होगा।

कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि अभव्य जीवों को तो अनादि से मोहनीय कर्म की ३६ प्रकृतियाँ ही होती हैं, किन्तु भव्य जीवों को २८ होतीं हैं। उनका यह मानना ठीक नहीं हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों को भी दर्शनमोह की सत्ता में तीन प्रकृतियाँ नहीं होतीं, किन्तु एक ही है। सम्यग्दर्शन होने पर तीन टुकड़े होते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि को २७ या २८ प्रकृतियाँ नहीं होतीं, बल्कि ३६ ही होतीं हैं।

इसीप्रकार एक यह भी आशंका की जाती है कि अभव्य को मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान प्रगट होने की योग्यता नहीं होने से उसके मनःपर्यय ज्ञानावरणीय व केवलज्ञानावरणीय कर्म-प्रकृतियाँ भी नहीं होतीं। यह आशंका भी आगमानुकूल नहीं है। अभव्य को मनः पर्ययज्ञानावरणीय व केवलज्ञानावरणीय कर्म-प्रकृतियों का भी समय-समय बंध होता है। अभव्य को भी ज्ञानावरणीय कर्म की पाँचों प्रकृतियों का बंध पड़ता है। जब स्वयं की तत्समय की योग्यता से ज्ञान की पर्याय हीन होती है, उसमें यथास्थान ज्ञानावरणीय कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ निमित्त होतीं हैं।

भव्य या अभव्य सभी स्वभाव से सिद्ध स्वभावी हैं। कहा भी है— 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जे जाने ते थाय'। हाँ, उनमें प्रगट करने की योग्यता

में अन्तर है। अभव्य में सिद्ध दशा प्रगट करने की योग्यता नहीं है। वैसे अभव्य भी नग्न दिगम्बर मुनि होकर नवमीं ग्रैवेयक तक जाता है, निर्दोष आहार-पानी लेता है, २८ मूलगुणों का पालन करता है; पर ये सब पुण्य भाव हैं, राग हैं, धर्म नहीं हैं। रागरहित निर्मलानन्द स्वभाव की दृष्टि व एकाग्रता बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। अभव्य को प्रतिसमय ज्ञानावरणादि पाँचों प्रकृतियों का बंध पड़ता है। दसवें गुणस्थान तक इनका बंध पड़ता है। बारहवें गुणस्थान में इनका बंध नहीं है। पहले से दसवें गुणस्थान तक के जीवों को ये प्रकृतियाँ बंधतीं हैं। इसलिये प्रत्येक जीव में केवलज्ञान की शक्ति भरी है। अभव्य आत्मा में भी अन्तरात्मपने व परमात्मपने की शक्ति विद्यमान है; परन्तु जिस तरह उकडू मूँग को लाखों मन पानी में उबालें तो भी सीझतीं नहीं, उसी प्रकार अभव्य जीव व्रत-उपवास आदि शुभ क्रिया में कितना भी शरीर क्षीण करे, तथापि उससे उसके कर्म नहीं कटते, धर्म नहीं होता। हाँ शुभराग से पुण्यबंध होता है। विकार की रुचि के कारण समय-समय पाँचों ज्ञानावरणी कर्म भी बँधते हैं।

यदि अभव्य के अन्तरात्मपने व परमात्मपने की शक्ति नहीं मानेंगे तो केवलज्ञानावरणादि कर्म का बंध व्यर्थ ठहरेगा। सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आया है कि प्रत्येक प्राणी में तीन प्रकार का आत्मा है, यथा अन्तरात्मपना व परमात्मपना शक्तिरूप है। प्रत्येक प्राणी में निकटभव्य, दूरांदूरभव्य या अभव्य शक्तियाँ होतीं हैं। अनादि के निगोदिया जीव में भी तीनों ही प्रकार शक्तिरूप से विद्यमान हैं।

केवलज्ञानी परमात्मा में भी भूतनैगमनय की अपेक्षा बहिरात्मपना व अन्तरात्मपना है - ऐसा कथन भी आगम में आता है।

इस प्रकार निगोद से सिद्ध तक सभी जीवों का द्रव्यस्वभाव एक जैसा है। अतः बहिरात्मपने की बुद्धि छोड़कर अन्तरात्मपना प्रगट करना

यही परमात्मा बनने का उपाय है। अनादि से देह की क्रिया एवं स्त्री-पुत्रादि पर के संरक्षणादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ, उनका पालन-पोषण मैं करता हूँ - आदि मान्यता बहिरात्मबुद्धि है, अज्ञानता है। उसे छोड़कर प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना। सम्यक्त्व के पहले व्रत लेने का उपदेश नहीं दिया। आत्मा परपदार्थ से भिन्न है - ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना राग का अभाव नहीं होता। बहिरात्मपने की दृष्टि छोड़कर परमात्मपने का स्वीकार करना ही स्वयं का परमात्मपना है। सभी जीव परमात्मदशा को प्रगट करें - बस यही भावना है।

* * *

श्लोक ५

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः- (शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीरादिक में आत्मभ्रान्ति को धरनेवाला - उन्हें भ्रम से आत्मा समझने वाला बहिरात्मा है। **(चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः)** चित्त के राग-द्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में अभ्रान्त रहनेवाला - उनके सम्बन्ध में ठीक विवेक रखनेवाला अर्थात् रागादि विकार और आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा है तथा **(अतिनिर्मलः परमात्माः)** सर्व कर्ममल से रहित जो अत्यन्त निर्मल है, वह परमात्मा है।

श्लोक ५ पर प्रवचन

शरीर, मन, वाणी, विकार, स्त्री-कुटुम्ब परिवार मेरे हैं और मैं उनका हूँ - बहिरात्मा जीव की ऐसी मान्यता होती है। शरीर स्वस्थ हो तो धर्म हो सकेगा, मुँह से वाणी निकले तो मैं धर्म समझा सकता हूँ - ये सब मान्यतायें मूढ़ - अज्ञानी - मिथ्यादृष्टि जीवों की हैं। चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि छोड़कर पर से लाभ होना मानना, कान ठीक हों तो ही सुन सकूँगा, शरीर ठीक हो तो ही अहिंसा धर्म का पालन हो सकता है - ऐसा मानने वाले मूढ़ - मिथ्यादृष्टि हैं। तथा जो ज्ञानानन्द स्वभाव को भूलकर राग में लाभ मानते हैं, वे बहिर्बुद्धि हैं। अरे ! 'अहिंसा परमो धर्मः' अन्तर में है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि-जब दुनियां में मारपीट होती है, अन्याय-अनीतिरूप पापाचार बढ़ जाते हैं, धर्म में गड़बड़ी होती है, लोगों में अभिमान-अहंकार बढ़ जाता है; तब परमात्मा को इस दुनियाँ को पुनः ठीक करने या व्यवस्थित करने का विकल्प आता है। परन्तु भाई !

परमात्मा तो वीतरागी व सर्वज्ञ होते हैं, वे जगत के कर्ता-धर्ता नहीं हैं। प्राणी तो स्वयं अपने किये का फल भोगता है उसके सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता भी भगवान नहीं है और सृष्टि तो अनादि-अनन्त है ही। निचली भूमिका में विकल्प उठते हैं, वे विकल्प राग हैं, धर्म नहीं हैं। बाह्य वस्तुओं से लाभ माननेवाला, किसी का किसी को कर्ता-धर्ता माननेवाला बहिरात्मा है। मन में जो संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे दोष हैं। उनका संबंध जो छोड़ता है, वह अन्तरात्मा है। द्रव्यमन जड़ है, उसे अपना मानना भ्रान्ति है। अन्तरंग में, चित्त में पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, उससे भी अपने को पृथक् मानने वाला अन्तरात्मा है। चित्त अर्थात् ज्ञान की पर्याय में जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

९६ हजार रानियों के होते हुए भी भरत चक्रवर्ती ज्ञातादृष्टा थे। उनकी दृष्टि में ऐसा श्रद्धान था कि स्त्री मेरी नहीं है, राग मेरा नहीं है, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, जो राग-द्वेष होते हैं, वे मेरे स्वरूप नहीं हैं। जब नय-निक्षेप-प्रमाण के विकल्प भी विघ्नकारक हैं, तो फिर दया-दानादि की क्या बात ! इसलिए ज्ञानी सभी प्रकार के संकल्प-विकल्प को त्याग देता है। पुण्य-पाप के भाव मलिन हैं। मेरा स्वरूप ज्ञानानन्द रूप है, अभ्रान्त है, यह चौथे गुणस्थान की बात है।

लोग कहते हैं कि सेवा जैसा अन्य कोई धर्म नहीं है; परन्तु वह अपेक्षा जुदी है; वह लौकिक बात है। यहाँ तो कहते हैं कि भाई ! जब तू अपने ही शरीर की सेवा नहीं कर सकता तो दूसरों की सेवा की तो बात ही कहाँ है ? न चाहते हुये भी अपने सिर के सारे बाल सफेद हो जाते हैं और हम कुछ नहीं कर पाते। भाई ! जड़ की क्रिया का परिणमन स्वतन्त्र है, वह अपने अधिकार की बात ही नहीं है। कोई शरीर, मन, वाणी की अवस्था में किंचित् भी फेरफार नहीं कर सकता। रागरूप मलिनभावों को छोड़कर अन्तर में विद्यमान ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन

है। पुण्य-पाप दोनों दोष हैं। यदि कोई कहे कि शुभराग तो संवर-निर्जरा का अंश है तो उसका यह कथन यथार्थ नहीं है। सम्यग्दृष्टि के शुभराग में मात्र धर्म का उपचार आता है, शुभभाव कभी भी धर्म व धर्म का कारण नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव संकल्प-विकल्प को दोषरूप, आस्रवरूप एवं आत्मा को आत्मारूप जानता है। आत्मा जानने-देखनेवाला है। पुण्य-पाप बंध का कारण है - ऐसा जानकर जो स्वभाव को साधता है, वह ज्ञानी है, अन्तरात्मा है। वही श्रावकपने की शुरुआत करनेवाला धर्मी जीव है।

आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करनेवाला एवं कर्मजाल से रहित वीतरागी-सर्वज्ञ ही परमात्मा है। जो ऐसा जाने, उसे ही वस्तु का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान होता है।

भावार्थ यह है कि मोक्षगति के प्रयोजनभूत सात तत्त्वों को त्रिलोकीनाथ ने जैसा कहा है; वैसा न जाननेवाला, न माननेवाला बहिरात्मा है। पुण्य परिणाम होते हैं, किन्तु वे छोड़ने लायक हैं। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ उपादेय है - ऐसा भगवान ने कहा है। ऐसा नहीं माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। उसे भगवान की, उनकी वीतराग-वाणी की तथा सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा नहीं है।

प्रश्नः- जैसे काँटा काँटे से ही निकलता है, उसीतरह व्यवहाररूप शुभराग से ही अशुभराग निकल सकता है। जिसतरह अरेंडी का तेल पीने से तैल व मल दोनों ही मलद्वार से निकल जाते हैं, क्या उसीप्रकार शुभभाव करने से अशुभ तथा शुभ दोनों ही भाव आत्मा में से नहीं निकल सकते हैं ?

उत्तरः- यह तर्क यथार्थ नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है - सर्वप्रथम ऐसी दृष्टि करने योग्य है। पुण्य-पाप छोड़ने लायक हैं। दर्शनमोह के उदय में अज्ञानी जीव अजीव में जीव की एवं जीव में अजीव की

कल्पना करता है - यही उसकी **जीव-अजीव तत्त्व सम्बन्धी भूल है।** इसे ही शास्त्र में बहिरात्मा कहते हैं। अपनी पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं, दया-दानादि के भाव होते हैं; वे विकार हैं, दुःखदायक हैं, उन्हें वह सुखदायक एवं सुखरूप मानता है, तथा त्रिकाल सत् रहने वाला भगवान आत्मा जो ज्ञान व आनन्द की मूर्ति है, उसे नहीं पहचानता। पुण्य-पाप, दया-दान भक्ति आदि सब मलिनभाव हैं, उनमें निर्मलता नहीं है। राग-द्वेषादि विभाव हैं, उपाधिभाव हैं। इन भावों में सुख मानना, खाने-पीने-कमाने की वृत्ति में सुख मानना अज्ञान है। यही उसकी **आस्रव तत्त्व सम्बन्धी भूल** है।

भावलिंगी मुनियों को आत्मा का भान है, वर्तमान कमजोरी से उनको भी शुभभाव होते हैं परन्तु वे उन्हें दुखदायक मानते हैं। जैसे रोगी अपने रोग को इष्ट नहीं मानता, मिटाना चाहता है; उसीप्रकार रागी धर्मात्मा अपने शुभरागरूपी रोग को मिटाता है। गृहस्थावस्था में भी ज्ञानी धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को ही सुखदायक मानता है।

जो आस्रव अर्थात् विकारी भावरूप पुण्य-पाप की वृत्तियों को सुखदायक समझेगा, वह उन्हें छोड़ने का भाव कभी करेगा ही नहीं; क्योंकि जो राग-द्वेष को अपना मानकर अपनाता है, उसे उन्हें छोड़ने की भावना होती ही नहीं है।

ज्ञानी के जीव, अजीव व आस्रव तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसी कोई भूल नहीं होती, जिससे उसका संसार बढ़े।

जिसे आत्मा के स्वरूप को समझने-सुनने में अरुचि रहती है, कष्ट की अनुभूति होती है, उत्साह नहीं आता, तथा ज्ञान व वैराग्य जो आनन्दमय हैं, उन्हें कष्टदायक मानता है, तो यह उसकी **संवर तत्त्व सम्बन्धी भूल** है। व्यापार-धन्धा में तो १८-१८ घण्टे लगावे और आत्मा की चर्चा के लिए एक घण्टा भी जिसे भारी पड़ता हो, उसे संवर तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

यदि कोई पारिवारिक परेशानियों से ऊबकर अथवा पारिवारिक प्रतिकूलताओं के कारण स्त्री-पुत्रादि को छोड़कर भाग जावे या साधु-सन्यासियों की लोकप्रतिष्ठा को देखकर स्वयं साधु बन जावे तो यह कोई वैराग्य नहीं है, बल्कि पुण्य-पाप के राग की अपेक्षा छोड़कर ज्ञानानन्द स्वभाव में एकाग्र होने से तथा राग की रुचि का अभाव होने से संसार-शरीर व भोगों के प्रति जो अन्तरंग से अरुचि होती है, वह सच्चा वैराग्य है। 'शरीर मेरा नहीं है, पुण्य-पाप का विकार भाव भी उपाधि है, मेरा स्वरूप तो चिदानन्दमय ध्रुव है' - ऐसे विचारपूर्वक स्वरूप में एकाग्रता होने से जो संसार-शरीर व भोगों से सहज उदासीनता होती है, वह वैराग्य है।

प्रश्नः- गृहस्थाश्रम में तो यह सम्भव है नहीं, तो फिर धर्मलाभ के लिये गृहस्थाश्रम में क्या करना चाहिये ?

उत्तरः- भाई ! देह की अवस्था, एवं संयोग में रहने वाले परद्रव्य की अवस्था तो जो होनी होगी, वही होगी, किन्तु अपने में जो पुण्य-पाप की रुचि है, वह अपराध है। संसार की बात में व धर्म की बात में बहुत अन्तर है। जिस तरह बच्चों द्वारा रस्सी को तेजी से खेंचकर घुमाये जाने पर लकड़ी का खिलौना भौंरा (लट्टू) जब तेजी से घूमता है तो ऐसा कहते हैं कि-भौंरा सो गया है। उसीप्रकार अज्ञानी भी पुण्य-पाप के ऐसे ही तेज चक्कर में पड़ा है तथा घने संकल्प-विकल्पों में उलझा है। कभी-कभी इन्हीं पुण्य-पाप के संकल्प-विकल्पों से घबड़ाकर बाहर से यत्किंचित् निर्वृति ले लेता है, तो मानने लगता है कि धर्म कर रहा हूँ, परन्तु चैतन्य स्वभाव के भान बिना पुण्य-पाप के ही चक्कर में पड़ा रहता है। अतः गृहस्थाश्रम में सर्वप्रथम जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष - इन सात तत्त्वों का एवं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ निश्चय करना चाहिये, क्योंकि यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक पुण्य-पाप की रुचि के त्याग से ही यथार्थ वैराग्य होता है।

ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति की यह श्रद्धा-एकाग्रता ही सामायिक है। पंच नमस्कार जपना सामायिक नहीं शुभराग है। जबतक ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा न हो, उसी में आनन्द की अनुभूति न हो, तबतक संवर निर्जरा नहीं होते। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में रागरहित एकाग्र होना ही संवर-निर्जरा है और वही हितकारी है।

पुण्य को ठीक मानना **बन्ध तत्त्व की भूल है।** शुभाशुभ भाव में नवीन कर्मों का बंध होता है। पुण्य के फल में शरीर-घनादि वैभव मिलता है। अज्ञानी उसे ठीक मानता है, बाह्य वैभव के संयोग में अपना बड़प्पन देखता है। उसके अभाव में अपने को दीन-हीन दुःखी मानता है। जबकि संयोग पर पदार्थ हैं, उनसे आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं है। पुण्य-पाप व पर से आत्मा को हानि-लाभ मानना दुखःदायक कल्पना है। केवल ज्ञानस्वभाव ही सुखदायक है।

अज्ञानी जीव विषय में सुख मानते हैं, अज्ञानियों की इच्छायें प्रबल होतीं हैं। जिसतरह आग में ईंधन डालने से आग प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-भोगों के भोगने से तृप्ति नहीं होती, बल्कि इच्छायें और भी अधिक प्रबल होतीं हैं, परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि भोगों को भोगने से तृप्ति होगी। अतः वह भोगों को भोगकर छोड़ने की झूठी कल्पनायें किया करता है।

एक पिता ने पुत्रों को पाँच-पाँच लाख रुपए दिये। उनमें एक ने पच्चीस लाख रुपए कमा लिये तो दूसरा ईर्ष्या करता है, उसकी इच्छा बलवती होती है, पचास लाख कमाना चाहता है। कोई कितना भी क्यों न कमा ले, संतोष नहीं होता। आशा का गड्ढा बहुत बड़ा है, तीन लोक का वैभव भरें, तब भी वह खाली ही रहेगा।

अज्ञानी रात-दिन विषयों के राग की आग में जलता है, राग-द्वेष की आग में जलता है। अनुकूलताओं को मिलाने व प्रतिकूलताओं को

दूर करने के चक्कर में चौबीसों घण्टे दौड़-धूप करता है, रात्रि में नींद नहीं आती, परन्तु भाई ! पुण्य बिना अनुकूलता सम्भव नहीं। जब तक पाप है, प्रतिकूलता टलती नहीं। ऐसे पुण्य का भी तो भरोसा नहीं। अपनी इच्छा व रुचि के अनुकूल सारी दुनियां नहीं चलेगी। भाई ! तेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्द स्वरूपी है, तू उसे पहचान ! उसके जाने-पहचाने बिना सुख-शान्ति नहीं मिलेगी।

संसार अर्थात् विकार अवस्था और मोक्ष अर्थात् अविकारी अवस्था। तू अपनी अविकारी दशा प्राप्त करने का तो प्रयत्न नहीं करता और पुण्य-पाप का ही प्रयत्न करता है। इस कारण तेरा दुःख नहीं मिटता।

जीव अनंत हैं, परन्तु जाति अपेक्षा एक हैं। जीव से अजीव की जाति भिन्न है। द्रव्य व पर्याय की अपेक्षा जीव व अजीव - ये दो द्रव्य तत्त्व हैं एवं आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष - ये पाँच पर्याय-तत्त्व हैं। आस्रव मलिन भाव है, उससे बंध होता है। स्वभाव के आश्रय से जो शुद्धि होती है, वह संवर है तथा शुद्धि की वृद्धि निर्जरा है। पूर्ण शुद्धि मोक्ष है। जो ऐसे सात तत्त्वों का परिज्ञान नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

अज्ञानी शरीर, देश, कुटुम्ब, परिवार, देव-शास्त्र-गुरु को तथा शुभराग को लाभदायक मानता है। जो जिसे लाभदायक मानता है, वह उसे कैसे छोड़ सकेगा ? जबकि शुभाशुभ विकार बंध का कारण है। अतः इसे लाभदायक मानने वाला जीव बहिरात्मा है।

बहिरात्मा अपने शुद्ध, चिदानन्द, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को नहीं पहचानता तथा शरीर व संयोगों में एकत्व-ममत्व करता है, यही उसकी सात तत्त्व सम्बन्धी भूलें हैं। जो इन भूलों को भूल मानकर त्यागता है और आत्मा को जानता-पहचानता है, वह अन्तरात्मा है।

अब अन्तरात्मा की बात करते हैं। जिस तरह लेंडीपीपल में चौंसठपुटी अर्थात् शत-प्रतिशत चरपराहट (तीखापन) विद्यमान है, उसकी पिसाई करने से, जो तीखापन विद्यमान है, वही प्रगट हो जाता है, क्योंकि जो है उसी की प्राप्ति होती है। यदि उसमें हो ही नहीं तो प्रगट कहाँ से होगा ! उसीतरह प्रत्येक आत्मा में ज्ञान व आनन्द भरा है, वही साधना से व्यक्त होता है। 'मुझमें ज्ञान व आनन्द है' - ऐसी जिसे प्रतीति है, वह अन्तरात्मा है। 'मैं जानने-देखने वाला जीवतत्त्व हूँ, रागादि विकार मेरा स्वभाव नहीं है। अजीव तत्त्व पर है, मेरा स्वरूप नहीं है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण मेरे में नहीं हैं। पर का आकार मुझमें नहीं है। शरीरादि पुद्गल द्रव्य हैं, विनाशीक हैं, जड़ हैं। जड़कर्म मेरे नहीं हैं, उनकी अवस्था मेरे कारण नहीं होती।' ऐसा भेदज्ञान करनेवाला अन्तरात्मा है।

पुण्य-पाप दुखदायक हैं, मेरा स्वभाव सुखदायक है। सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जड़ व चेतन को भिन्न-भिन्न जाननेवाला है, राग व द्वेष को घटानेवाला एवं स्वभाव की शक्ति/का विकास करनेवाला है। वह मानता है कि वह पुण्य-पाप व शरीरादि से जुदा है तथा एक समय की निर्मल पर्याय से भी पृथक् है।

अब परमात्मा की बात करते हुये कहते हैं कि परमात्मा अति निर्मल है। जिसकी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट हो गई, वह परमात्मा है। आत्मा में जो त्रिकाल शुद्ध स्वभाव पड़ा है, उसमें एकाग्रता करने से पूर्ण निर्मल दशा प्रगट होती है। जब पूर्ण निर्मल दशा प्रगट हो जाती है, तब फिर राग का अंश भी नहीं रहता। एक समय में तीन लोक व तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जान सके - ऐसी अद्भुत शक्ति प्रगट हो जाती है। जिसतरह प्रत्येक लेंडीपीपल में चौंसठपुटी चरपराहट भरी है, उसीतरह प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञता व आनन्द भरा पड़ा है। उसकी पूर्ण दशा प्रगट होने का नाम ही परमात्मा है। उस परमात्मा के दो भेद हैं:-

1. सकल परमात्मा 2. निकल परमात्मा।

चार घातिया कर्मों का अभाव करने वाले देह-मन-वाणी सहित केवलज्ञानी भगवान सर्वज्ञ देव सकल परमात्मा हैं। तथा शरीर, आठों कर्मों का अभाव करनेवाले सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं। बहिर्मुख दृष्टि छोड़कर अन्तरात्मा की दृष्टि करने से परमात्मा बनते हैं। पूर्णानन्द दशा प्रगट होने के बाद फिर पुनः इस संसार में जन्म-मरण नहीं होता। अतः परमात्मा बनने के लिये अन्तरात्मपना प्रगट करना चाहिये तथा बहिरात्मपना छोड़ना चाहिये।

'परमात्मा की वाणी में एकमात्र वीतरागता व सर्वज्ञता प्राप्त करने का उपदेश आता है। उनकी दिव्य ध्वनि में आया है कि आत्मा में ध्रुव चिदानन्द शक्ति भरी है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् है। उस सत् स्वरूप के अवलम्बन से मुझे सर्वज्ञ होना है। वर्तमान में जो अल्पज्ञदशा है, राग है, शरीर का संयोग है, मैं इन सबसे सर्वथा पृथक् हूँ, रहित हूँ।' जिसका ऐसा निर्णय है तथा जिसकी राग में हेय-बुद्धि है, सर्वज्ञ शक्ति में उपादेय-बुद्धि है; वह अन्तरात्मा है।

भगवान वीतरागी हुए। यदि राग से, पुण्य से लाभ होता तो उन्होंने राग को क्यों नहीं रखा ? दुनियाँ में चाहे जो हो, उससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहा। भगवान सर्वज्ञदेव वीतरागी हुए तथा उन्होंने वीतरागी व सर्वज्ञ होने का ही उपदेश दिया। उन्होंने अपनी परमात्म दशा प्रगट की, उन्होंने उपदेश भी परमहित रूप ही दिया।

हमारे आत्मा की वर्तमान दशा में जो विकार है, वही संसार है। उसका अभाव करके पूर्णता प्राप्त करना ही मोक्ष है। उस पूर्णता को प्राप्त करने का उपाय एकमात्र सर्वज्ञ स्वभाव की श्रद्धा व उसमें लीनता है।

अपने सर्वज्ञ स्वभाव में स्थिरता प्राप्त करने के लिए वस्तु-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त ही एकमात्र सहायक हो सकता है, क्योंकि अज्ञानी को अनादि काल से पर में फेर-फार करने की बुद्धि के कारण ही स्व में स्थिर होने

का अवसर नहीं मिला है। अत: यहाँ समझाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने में स्वतन्त्र उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् लक्षण वाला है। जगत के तत्त्वों में कोई फेर-फार नहीं कर सकता। कहा भी है-'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्', 'सद्द्रव्यलक्षणं'। प्रत्येक पदार्थ अपनी अवस्था से बदलकर नवीन अवस्था उत्पन्न करके कायम रहता है। कोई भी पदार्थ किसी को बदल सके या लाभ-हानि पहुँचा सके - यह त्रिकाल सम्भव नहीं है। शरीर, मन, वाणी सब पुद्गल हैं, वे किसी की इच्छानुसार आते-जाते नहीं हैं। इच्छा नहीं होते हुए भी रोग आता है, बाल सफेद हो जाते हैं। कोई पदार्थ परिणमन रूप कार्य किए बिना रहता नहीं। अनन्त आत्मायें, अनन्तानंत पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल - छहों द्रव्य जो सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष देखे हैं, क्या उनमें एक भी कार्य बिना है ? नहीं; एक भी परमाणु ऐसा नहीं है जो प्रतिसमय अपने परिणमन रूप कार्य न करता हो। उत्पाद-व्यय प्रत्येक पदार्थ का कार्य है। तू पर का क्या कर सकेगा? आचार्य कहते हैं कि भगवान को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है। जगत की जो अवस्था हो गई, हो रही है व होगी, उन सबको सर्वज्ञ परमात्मा जानते हैं। उनकी वाणी में आया है कि प्रत्येक आत्मा मेरी ही जाति का है। सबमें सर्वज्ञ शक्ति है। अत: पर से कल्याण होगा व पुण्य से हित होगा, इस मान्यता को छोड़ दे। पराधीन बुद्धि को छोड़कर स्वावलम्बी बन जा।

तू स्वयं कारणपरमात्मा है। उस कारणपरमात्मा की दृष्टि (श्रद्धा) करने से सम्यग्दर्शन होता है। उसका वेदन करने से सम्यग्ज्ञान तथा उसी में लीन होने से सम्यक्चारित्र प्रगट होता है। वही मोक्षमार्ग रूप कारणसमयसार है।

ऐसे कारणपरमात्मा के आश्रय से जो कार्यपरमात्मा रूप पूर्णदशा प्रगट होती है वह कार्यसमयसार है।

शब्द वाचक समयसार है, शुद्धात्मा वाच्य समयसार है। शब्दवाचक समयसार शुद्धात्मारूप वाच्य समयसार को बताता है। एक

समय में पूर्ण ध्रुव स्वभाव सामान्य न हो तो शान्ति कहाँ से आवेगी ? जो विकार एक समय में उत्पन्न होता है, वह दूसरे समय में नष्ट हो जाता है। क्या विकार में से शान्ति लायी जा सकती है ? नहीं लायी जा सकती। भगवान आत्मा कारण जीव है, कारण जीव में से कार्य जीव होता है। शक्ति को कारण परमात्मा, कारण जीव, कारण समयसार कहते हैं तथा पूर्ण व्यक्तदशा कार्य परमात्मा, कार्य जीव, कार्य समयसार है।

चार घन घाती कर्मों का अभाव करके केवलज्ञान दशा प्रगट करने वाले कार्य समयसार स्वरूप अरहंत भगवान सकल परमात्मा हैं। उन्होंने अपनी दिव्यध्वनि में बताया है कि अज्ञानी जीव चार गतियों के कारणों का सेवन करके नरक तिर्यंच आदि में भटकता है। कारण के अनुसार ही कार्य होता है। परमात्मा ने जो अपनी पूर्ण दशा व्यक्त की है, उस कार्य का कारण क्या है? इसका विचार कर! पर्यायदृष्टि से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कारण मोक्षमार्ग है तथा उसका कारण कारणपरमात्मा है। जिस कारण से चार गतियाँ मिलतीं हैं, क्या उसी कारण से मोक्षमार्ग भी मिल सकता है ? नहीं मिल सकता। जब संसारमार्ग और मोक्षमार्ग बिल्कुल विरुद्ध दिशा वाले मार्ग हैं, तो शुभाशुभ भाव जो संसार का मार्ग है, वही मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता।

साधक को भगवान की वाणी सुनने का शुभ राग होता है, परन्तु राग का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य करें तो राग निमित्त कहलाता है। बस, शुभराग का मोक्षमार्ग में इतना ही स्थान है। शुभभाव करते-करते मोक्षमार्ग हो जायेगा - ऐसा नहीं है, बल्कि राग का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानानंद स्वभाव के अवलम्बन से मोक्षमार्ग होता है।

आत्मा स्वयं भगवान है एवं स्व के अवलम्बन से वह स्वयं ही भगवान बनेगा। इसमें किसी अन्य की कृपा या सहयोग की किंचित् भी

अपेक्षा नहीं है। भगवान भी किसी अन्य द्रव्य का कुछ नहीं करते, कर भी नहीं सकते।

भक्तिवश भक्त भगवान से ऐसा कहता है कि - हे भगवान ! अब मुझसे यह दुःख नहीं सहा जाता, किन्तु ज्ञानी भक्त उसी समय यह जानता है कि भगवान मेरा दुःख दूर नहीं कर सकते। न उन्होंने किसी को दुःख दिया है और न वे किसी का दुःख दूर करते हैं। हाँ, हम उनकी वाणी को सुनकर, समझकर उनके बताये वस्तु स्वरूप पर विचार करें तो हम अपना दुःख स्वयं ही मिटा सकते हैं। क्योंकि आनन्द स्वभाव की उल्टी दशा का नाम दुःख है। वस्तुतः वह दुःख कर्म या संयोगों ने नहीं दिया, भगवान ने भी दुःख नहीं दिया; किन्तु अज्ञानी के गले यह बात उतरती नहीं है। इस कारण उसका दुःख मिटता नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि मुझे आत्मा दिखाई ही नहीं देता, परन्तु आचार्य कहते हैं कि 'आत्मा दिखाई नहीं देता' - यह किसने नक्की किया है ? शरीर तो अजीव है, वह तो नक्की कर नहीं सकता। मैं स्वयं जानने-देखने वाला हूँ, संयम-नियम आदि सभी क्रियाओं में ज्ञानानन्द स्वभाव मुख्य है। यह जो जानता-देखता है वही आत्मा है। आत्मा का स्वभाव कारणपरमात्मा है। उस स्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

इस कारणपरमात्मा के आलम्बन से ही भगवान वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं। वे वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा कार्यपरमात्मा हैं।

यदि पुण्य परिणाम से आत्म लाभ होता हो तो भगवान ने वह पुण्य परिणाम क्यों छोड़ दिया ?

'पुण्य परिणाम छोड़ने लायक है - हेय है' ऐसी दृष्टि (श्रद्धा) बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। ऐसा भगवान का उपदेश है। उसे जो नहीं समझता या नहीं मानता, वह अन्तरात्मा नहीं हो सकता।

सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं। उनके आठों कर्मों का अभाव हो गया है। पूर्ण निर्मल दशा को प्राप्त निकल परमात्मा अपनी पूर्ण अविकारी दशा के ही कर्ता-भोक्ता हैं, वे अपने अतीन्द्रिय आनन्द रस का ही पान करते हैं। संसारी अज्ञानी जीव उनके अतीन्द्रिय अनन्त स्वाधीन सुख की कल्पना भी नहीं कर पाता। उसे ऐसा लगता है कि वहाँ सिद्धशिला में सिद्ध भगवान बैठे-बैठे क्या करते होंगे ? वहाँ स्त्री पुत्रादि तथा टी. वी., सिनेमा आदि कुछ भी तो मनोरंजन के साधन नहीं हैं। परन्तु भाई ! भगवान के जब राग ही नहीं रहा तो स्त्री पुत्रादि से क्या प्रयोजन ? तथा यद्यपि उनके केवलज्ञान ने एकसमय में सब जान लिया जाता है और प्रति समय लोकालोक के अनन्त पदार्थ अपने समस्त द्रव्य, गुण, पर्याय सहित उनके ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं तो क्या सिनेमा-टी.वी. उनके ज्ञान में नहीं आते होंगे ? तथापि राग के अभाव के कारण उन्हें किसी भी ज्ञेय के प्रति कुछ भी लगाव - रुचि नहीं है। वे तो सदैव अपने स्वरूपानन्द में मग्न रहते हुए अपने अनंत सुख का भोग करते हैं। उन्हें निकल परमात्मा या सिद्ध परमात्मा कहते हैं।

'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन।'

ऐसी परमात्म शक्ति प्रत्येक आत्मा में प्रति समय विद्यमान है - इस प्रतीति का नाम ही धर्म की शुरुआत है। इसप्रकार निज आत्मा को जानना-पहचानना मोक्षमार्ग है तथा आत्मा की शुद्ध दशा का प्रगट होना मोक्ष है।

ऐसे मोक्षमार्ग व मोक्ष का स्वरूप समझाने वाले सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति इन्द्रों द्वारा अनेक नामों से की जाती है।

* * *

श्लोक ६

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

सामान्यार्थ :– निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परात्मा, परमात्मा ईश्वर, जिन इत्यादि परमात्मा के नामान्तर हैं। ये सभी नाम परमात्मा के विशेषण के रूप में कहे गये हैं अर्थात् एक-एक नाम उनकी विशेषताओं को प्रगट करता है।

श्लोक ६ पर प्रवचन

भगवान निर्मल हैं अर्थात् कर्मरूपी मल से रहित हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय - तीनों अहेतुक हैं। जिसप्रकार द्रव्य-गुण अहेतुक हैं, उसी प्रकार पर्याय भी अहेतुक है। यद्यपि जीव की संसारदशा (पर्याय) में मलिनता है, उसका निमित्त कारण कर्म है; तथापि स्वभाव की दृष्टि करने से विकार की रुचि छूट जाती है और (स्वभाव में) लीनता करने से विकल्प भी सर्वथा चले जाते हैं और आत्मा पूर्ण निर्मल हो जाता है।

केवली अरहंत भगवान शरीरादि परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित हैं। उनको उपदेश देने की इच्छा नहीं है। उन्होंने एक समय में तीनों काल, तीनों लोकों को जान लिया है।

अन्तरात्मा केवली के माध्यम से ऐसा चिन्तवन करता है कि मैं भी ऐसा ही होनेवाला हूँ। भगवान आठ कर्मों से रहित, पुण्य-पाप, काम-क्रोध के परिणाम से रहित हो गये हैं, मेरा भी आत्मा ऐसा ही है। इसप्रकार स्वभाव का चिन्तन करना परमात्मा बनने का उपाय है। भगवान वीतराग हैं - ऐसा ही मेरा स्वभाव है। इस प्रकार चिन्तन करे तो अन्तरात्मा होकर भगवान हो जाता है। आत्मा का त्रिकाल स्वभाव निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से रहित है। अपनी पर्याय में कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उससे दृष्टि हटाकर, स्वभाव में एकाग्रता करनेवाला धर्मात्मा ही अपना प्रयोजन सिद्ध करता है। 'कर्म निमित्त है और मेरी दशा नैमित्तिक है -

ऐसा सम्बन्ध मेरे स्वभाव में नहीं है' - ऐसी श्रद्धा के बिना धर्म नहीं होता है। भगवान कहते हैं कि आत्मा निर्मल है, एक समय की अवस्था में कर्म निमित्त हो, तथापि आत्मा परसन्मुख हो, तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, परन्तु 'मैं निर्मल हूँ' - ऐसी दृष्टि होने से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की रुचि छूट जाती है और 'कर्म मुझे दबाते हैं' - ऐसी बात नहीं है, अपितु 'मैं स्वभावसन्मुख नहीं होता हूँ, इसलिए निमित्त की ओर झुकाव हो जाता था' - ऐसी पर की ओर झुकने की योग्यता भी मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। धर्मात्मा ऐसा स्मरण करता है कि जैसे सिद्ध हैं, वैसा ही मैं हूँ; मेरा स्वभाव सिद्ध समान शुद्ध निर्मल है - ऐसी दृष्टि करना ही परमात्मा होने की रीति है।

मैं तो केवल अकेला हूँ, शरीरादि परद्रव्य का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है, विकार गौण करो तो आत्मा परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित ही है - ऐसा यदि समझे तो आत्मा सम्बन्धरहित हो जाता है। यदि अपने को सम्बन्ध सहित ही मानता रहे तो पर के सम्बन्धों से कभी भी नहीं छूट सकता। कर्म का सम्बन्ध क्षणिक है, वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। स्वभाव में एकाग्रता करनेवाला धर्मात्मा कर्म, मन, वाणी व देह के सम्बन्धों को गौण करके अकेलेपन की ही भावना करता है।

जिसतरह सिद्ध भगवान जड़कर्म, पुण्य-पाप रूप भावकर्म और व्रत-अव्रत के विकल्प से रहित हैं; मैं भी वैसा ही हूँ। मैं शक्तिरूप में सर्वदा व सर्वथा विकार से भिन्न केवल एक हूँ।

(१) निमित्त हो तो उस तरफ झुकाव होता ही है - यह दृष्टि वस्तुस्वरूप से विपरीत है।

(२) मेरी पर्याय में विकार है और उस विकार की ओर मेरा झुकाव मेरी निर्बलता से होता है, उसमें कर्म निमित्त है - यह पर्यायदृष्टि का विषय है।

(३) विकार मेरे स्वभाव में नहीं है, जैसे भगवान पर्याय में विकार रहित हुए हैं, वैसे ही मेरा स्वभाव विकार रहित है, शुद्ध है। ऐसी दृष्टि

करना द्रव्यदृष्टि का विषय है। यह आत्मा का कार्य है। जैसे भगवान कर्म के अंश से रहित हैं वैसे ही मेरा स्वभाव कर्म के अंश से रहित है। स्वभाव बद्धस्पृष्ट रहित है। इस कारण भगवान बद्ध स्पृष्ट रहित हैं। इसलिए मुझ में भी कर्म के साथ का सम्बन्ध नहीं है। इस तरह स्वभाव की ओर झुकाव करने की भावना करना योग्य है। वस्तुतः आत्मा शरीर-कर्मादि के स्पर्श से सर्वथा रहित केवल एक है।

ऐसे आत्म स्वभाव की एकाग्रता करना भगवान की स्तुति है। भगवान के कर्म नष्ट हो गए तो (इससे सिद्ध हुआ कि) मेरे भी कर्म नष्ट हो सकते हैं ज्ञानानंद स्वभाव प्रगट हो सकता है। शरीर की एवं वाणी की क्रिया मेरे कारण नहीं होती।

मेरा स्वभाव पर से भिन्न है। मेरे स्वभाव में बंधन नहीं है - ऐसी भावना करनी चाहिये। भगवान होना हो तो ऐसी दृष्टि करनी चाहिये कि मैं विभक्त हूँ, अपने स्वभाव का सेवन करनेवाला हूँ, विकार का सेवन करनेवाला नहीं हूँ। जैसे भगवान हैं ऐसा ही मैं शक्ति-अपेक्षा हूँ।

मेरा ज्ञान भी तीन काल, तीन लोक को जानने के स्वभाव वाला है। उस ज्ञान का मैं स्वामी हूँ। सहजात्मस्वरूप हूँ। मैं भी भगवान जैसा प्रभु हूँ। पंचास्तिकाय में प्रभु की बात आती है। जीव विकार करने में प्रभु है और विकार टालने में भी प्रभु है। समयसार में वर्णित ४७ शक्तियों में एक प्रभुत्वशक्ति है। अनुभव के प्रभाव से कर्म गल जाते हैं।इस प्रकार स्वभाव की भावना करनी चाहिये। अंतरंग अनुष्ठान ही क्रिया है। मैं जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। मैं पामर नहीं हूँ। मेरी पर्याय में छह कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) से विकार होता है। यह पर्यायनय का विषय है।

(१) निमित्त की प्रभुता के कारण विकार के ६ कारक होते हैं - ऐंसा माननेवाला मूढ़ है, उसकी दृष्टि एकदम विपरीत है।

(२) मेरी प्रभुता विकार के षट्कारक में काम करती है तो कर्म की ओर लक्ष्य जाता है - यह अशुद्धनय का विषय है।

(३) मेरे स्वभाव की प्रभुता मुझमें है - यह शुद्धनय का विषय है।

जिसे स्वयं संसार में भटकना अच्छा नहीं लगता; वह यह मानता है कि दूसरे का भी संसार में भटकना अच्छा नहीं है, वह यह भी जानता है कि विपरीत अवस्था छोड़ने पर ही पार पड़ेगी, इसीलिए वह दोषों का स्वरूप बताता है, किसी के दोष उजागर करने के लिए नहीं।

कोई लड़का कमाता हो तो धन के अर्थी पिता को बहुत अच्छा लगता है, किन्तु यदि वह पुत्र धर्मसाधन के लिए दस दिन की छुट्टी माँगे तो धर्म से अरुचि रखने वाले पिता को अच्छा नहीं लगता है। यदि पिता को धर्म का प्रेम हो तो उसे अन्य लोग - पुत्र, पत्नी आदि - जिनसे उसे प्रेम है, वे भी धर्म पालें - ऐसी भावना होती है।

कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अष्टपाहुड़ में मिथ्यात्व का फल निगोद कहा है, परन्तु उनकी भावना किसी को निगोद भेजने की नहीं है। वे तो यह बताना चाहते हैं कि मुनिपने के साथ वस्त्र धारण करने का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है। अर्थात् मुनि की भूमिका में सर्वथा वस्त्रों का त्याग हो जाता है। वे स्वरूप-संबोधन करते हुए एवं शिष्य को समझाते हुए विचार करते हैं कि मैं प्रभु हूँ, तुम भी प्रभु हो। प्रत्येक वस्तु स्वपने है, परपने नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति है। भले ही अज्ञानी अन्यथा माने, परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। इसे समझना ही चाहिए; स्वीकार भी करना चाहिए। परन्तु अधिकांश जीव अपनी-अपनी मिथ्या मान्यता से चिपके हैं। श्रीमद्‌जी ने कहा है कि -

केई क्रिया जड़ थई रह्या, शुष्क ज्ञानमां केई।
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोई॥

कोई जीव तो क्रिया में ही जड़ हो रहे हैं और कोई शुष्कज्ञान में ही लीन हैं। तथा वे अपने को मोक्षमार्गी भी मान रहे हैं। उन्हें देखकर ज्ञानियों को करुणा आती है।

कोई तो आत्मा को निर्लेप मानते हैं, जबकि यह द्रव्य स्वभाव की बात है। पर्याय में तो मलिनता है ही। और वह मलिनता स्वभाव के आश्रय से टलती है। इसे न जानकर केवल द्रव्य की बात करे, वह शुष्कज्ञानी है। वह स्वभाव-सन्मुख होकर श्रद्धा नहीं करता है। पर्याय में सिद्ध हो तो संसार में कौन है? अतः द्रव्य शुद्ध है और पर्याय में अशुद्धता है।

जिसप्रकार यहाँ श्रीमद् राजचन्द्रजी को करुणा है, उसीप्रकार कुन्दकुन्द आचार्य को भी करुणा है। दूसरे जीवों की पात्रता हो तो निकालने के लिए करुणापूर्वक दोष बताते हैं। तू हमारी निन्दा करता है, अतः तू दुःखी होकर मर जावेगा। ऐसी भावना ज्ञानी को नहीं होती है।

मैं प्रभु होने लायक हूँ, त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा होने की योग्यता धारण करता हूँ; दूसरे भी प्रभु हो जाओ - ज्ञानी ऐसी भावना करता है। 'कोई जीव नरक-निगोद में जावे - क्या ऐसी भावना ज्ञानी की हो सकती है ? कदापि नहीं। तब फिर वह दोषों का दिग्दर्शन करावे या नहीं ? हाँ, वह दोषों को निकालने की पवित्र भावना से बताता है, निन्दा के लिये नहीं।

हे प्रभु ! तुझमें प्रभुता पड़ी हुई है, क्षणिक पर्याय में भूल तो है। तथा वह पामरता भी स्वभाव के भान द्वारा निकल जावेगी। पर का अनादर करने की बात नहीं है। पंडित टोडरमलजी भी वस्तुस्वरूप बताते हैं, किसी के प्रति घृणा-तिरस्कार नहीं है। धर्मात्मा कहते हैं कि मेरे उपदेश से परजीव समझ सकते हैं, या मैं परजीवों को समझा सकता हूँ - ऐसी मान्यता उन्मत्तवत् है, पागलपन है। अतः मौन रहो।

श्रोता कहता है कि ऐसा है तो आप किसलिए सुनाते हो? वचन गुप्ति का पालन क्यों नहीं करते ?

समाधान :- भाई ! ऐसे श्रोता में पात्रता ही नहीं है। तुझे समझ में ही नहीं आयेगा, क्योंकि तू आग्रही है। तुझे तो ऐसा कहना चाहिये कि हमारे धन्य भाग्य हैं कि हमें वाणी मिली। विकल्प तो हमें और तुम्हें - दोनों को ही छोड़ने लायक हैं। परन्तु जब तक विकल्प आता है, तब तक मेरे सद्भाग्य से वाणी मिली; यह मेरे भाग्य हैं - इसप्रकार तुझे सोच लेना चाहिए।

जो कुन्दकुन्द आचार्य समयसार में श्रोता को सिद्धसमान कहते हैं, वे ही आचार्य अष्टपाहुड़ में कहते हैं कि - वस्त्रसहित मुनिपना माने, वह निगोद में जावेगा।

सच्ची दृष्टिपूर्वक जब राग घट जाता है, तब वस्त्र पात्र रहते ही नहीं हैं। मुनि की भूमिका में वस्त्र रहते हैं - ऐसा माने, उसे तो पर्याय का भी विवेक नहीं है। तत्त्व विराधना के कारण ज्ञान की हीनदशा होती है, जिसका फल निगोद है। अपना बैरी भी धर्म प्राप्त करे - ऐसी भावना ज्ञानी को होती है। कोई भी ज्ञानी व्यक्ति का विरोधी नहीं होता है, विचार का विरोधी होता है; अपना विकार बना रहे - ऐसी भावना नहीं है, तो फिर दूसरे जीवों का विकार बना रहे ऐसी भावना भी नहीं रह सकती है। जिसके स्वभाव की भावना हो, धर्म की भावना हो, उसे पुत्र-पत्नी-पिता वगैरह धर्म पावें - ऐसी भावना भी अवश्य होती ही है।

भगवान अव्यय हैं, अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं। उसीप्रकार मेरा आत्मा भी पूर्ण शक्ति का पिण्ड है, अनन्त चतुष्टय से भरा है।

ज्ञानी तो भावना करते हैं कि सारे ही आत्मा प्रभु हो जाओ। आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ तक कहते हैं कि

समस्त लोक ही केवलज्ञान की मस्ती में - शान्त रस में डूब जाओ। ज्ञानी किसी का तिरस्कार नहीं करते हैं। विरोधी नरक और निगोद में जावे - ऐसा वे नहीं कहते हैं। कोई उनका विरोधी ही नहीं है; सब ज्ञान के ज्ञेय हैं।

भगवान को पर्याय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रगट हुए हैं। वे अव्यय हैं, क्योंकि अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते हैं। उनकी ही भाँति मैं भी अपने स्वभाव से च्युत होने वाला नहीं हूँ।

भगवान परमेष्ठी हैं, क्योंकि परमपद में स्थित हैं, इन्द्रादिकों द्वारा वन्दनीय पद में स्थित हैं। उनकी ही भाँति मेरा स्वभाव भी ज्ञान और आनन्द में स्थित रहने का है; विकार और निमित्त में स्थित रहने का मेरा स्वभाव नहीं है। भगवान पर्याय में पूर्ण हो गये हैं, मैं स्वभाव से पूर्ण हूँ - धर्मात्मा ऐसी भावना करता है।

भगवान परमात्मा हैं, क्योंकि उनकी दशा संसारी जीवों से उत्कृष्ट है। विकारी दशा जघन्य दशा है, किन्तु भगवान को उत्कृष्ट दशा व्यक्त हो गई है।

यद्यपि मेरी पर्याय में हीनपद है, किन्तु वह मेरे स्वभाव में नहीं है - ऐसी भावना करके विकार को हेय जानना चाहिये। ऐसी भावना करनेवाला जीव सिद्ध का स्मरण करता है और साथ ही यह भी समझता है कि मेरा ज्ञानात्मक आत्मा उत्कृष्ट स्वभावी है।

भगवान ईश्वर हैं, क्योंकि वे अन्य जीवों में असंभव - ऐसी विभूति के धारक हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अंतरंग विभूतियाँ हैं, जो भगवान को प्रगट हुईं हैं। तीर्थंकरदेव को इन अंतरंग विभूतियों के साथ बहिरंग विभूतियाँ समवशरणादि होतीं हैं। इसप्रकार भगवान ईश्वर हैं। भगवान पूर्ण हो गए हैं और मुझमें पूर्ण होने की योग्यता है।

'पंचास्तिकायसंग्रह' में तीन प्रकार के ईश्वर बताये हैं -

(1) जड़ पदार्थ परिणमन करता है, अतः जड़ेश्वर है ।

(2) विभाव करनेवाला स्वतन्त्र है, अतः वह विभावेश्वर है ।

(3) मैं सहजात्म स्वामी हूँ - ऐसा माननेवाला स्वभावेश्वर है ।

भगवान जिन हैं, क्योंकि उन्होंने सर्व कर्मों का नाश किया है। उनकी ही तरह मैं भी कर्मों का नाश करने वाला हूँ। यद्यपि पर्याय में विकार है, किन्तु उस विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह मेरे स्वभाव का नाश करे। तथा जब पर्याय में विद्यमान विकार ही स्वभाव का नाश नहीं कर सकता है, तब कर्म के निमित्त से स्वभाव का नाश होता हो - यह उचित नहीं है।

जिसप्रकार भगवान जिन हैं, उसीप्रकार मैं भी हूँ।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतः आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। परमात्मा के वे सारे ही गुण पूर्ण विकसित हुये हैं, इसलिए परमात्मा के अनन्त नाम हैं। एक-एक गुण की अपेक्षा उनके पृथक्-पृथक् नाम हैं। गुण अनन्त हैं, अतः नाम भी अनन्त हैं।

परमात्मा की पर्याय में अनुभव की हीनता और वृद्धि नहीं होती है।

भगवान को जरा (बुढ़ापा) नहीं है, उसीप्रकार आत्मा के द्रव्यस्वभाव में जरा - जीर्णता नहीं है। भले ही बाल सफेद हो जावें, पर आत्मा तो वही का वही है। अज्ञानी इन्द्रियों के द्वारा अपना अस्तित्व मानता है। शरीर रहे तो मैं रहता हूँ - ऐसा मानता है। वाणी में और शरीर में शक्ति नहीं है तो मुझमें शक्ति नहीं है - ऐसा मानता है। शरीर में शक्ति का अभाव होने से मेरे ही अस्तित्व का अभाव होता है - ऐसा मानता है।

जिसप्रकार सिद्ध भगवान में जीर्णता नहीं है, उसीप्रकार मुझमें भी जीर्णता नहीं है।

भगवान को भरण नहीं है, जन्म नहीं है। वे अमर हैं। वे अवतार धारण नहीं करते हैं।

भगवान की ही तरह आत्मा को भी जन्म-मरण नहीं है। शरीर के संयोग को जन्म और शरीर के वियोग को मरण कहा जाता है, तथापि आत्मा को जन्म-मरण नहीं है।

जिसप्रकार भगवान अमर हैं; उसीप्रकार मैं भी अमर हूँ, परमात्मशक्तिरूप हूँ - ऐसी श्रद्धा करना सो धर्म है।

यह 'समाधितन्त्र' है। स्वभाव में एकत्व का नाम समाधि है; ज्ञान-आनन्द स्वरूप आत्मा में एकत्व का नाम समाधि है। समाधि अर्थात् सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र।

'नियमसार' में 'समाधि अधिकार' नामक एक अधिकार है। उसमें यही बताया गया है कि आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वभाव की प्रतीति - ज्ञान- रमणता की एकता और राग की पृथकता ही समाधि अथवा मोक्षमार्ग है। दया - दान - व्रत - तप तो राग हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, उनसे मुझे लाभ नहीं है। उनसे मुझे लाभ होता है - ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है।

ऐसी मान्यता के कारण वह बहिरात्मा अनन्त संसारी है। संसार का अभाव करने वाले स्वभाव का अनादर करना और राग का आदर करना अनन्त संसार है।

बहिर + आत्मा = बहिरात्मा। निमित्त, संयोग और राग - ये सब बाह्य हैं। इनमें आत्मपने की मान्यता करने वाला बहिरात्मा है। तथा अन्तर के स्वभाव का बहुमान करने वाला अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा के साधन द्वारा परमात्मा हुआ जाता है। यहाँ उसी परमात्मा की बात चल रही है।

कैसे हैं परमात्मा ?

अजर :- परमात्मा को जीर्णता नहीं होती, वे अजर हैं। अंतरंग शक्ति की व्यक्त दशा और स्वभाव के साथ अभेदता का नाम केवलज्ञान है और यह दशा अनन्तकाल तक रहती है; अतः भगवान अजर हैं। मैं भी अजर हूँ। मेरे भी द्रव्य - गुण में जीर्णता नहीं है - इसप्रकार स्वभाव-सन्मुख होकर अजरत्व की भावना परमात्मा की भावना है।

अमर :- अरहन्त भगवान के शरीर अलग हो जाता है, परन्तु वे पुनः शरीर धारण नहीं करते, अतः अमर हैं। उन्हें पुनः जन्म नहीं है, इसलिए मृत्यु भी नहीं हैं। वे तो सिद्धदशा प्राप्त करते हैं। अतः अमर हैं। अरहन्त १८ दोषों से रहित होते हैं, उन्हें जन्म-जरा-मृत्यु आदि रोग नहीं होते हैं।

अक्षय :- भगवान का नाश नहीं होता, वे अक्षय हैं। उन्हें जो पूर्णानन्द शक्ति का विकास हुआ है, वह सदा ऐसा का ऐसा ही रहता है। इसीप्रकार मैं भी अक्षय हूँ - ऐसी भावना करनी चाहिये।

अरोग :- भगवान को रोग नहीं है, वे अरोग हैं। तीर्थंकर भगवान के शरीर में अथवा आत्मा में रोग नहीं है। उसीप्रकार मुझे भी रोग नहीं है। रोग तो शरीर की क्रिया है, जड़ की क्रिया है।

अभय :- भगवान अभय हैं, उसीप्रकार मेरे अभयस्वभाव में भी भय नहीं है। पर से भय ही नहीं होता है - ऐसी भावना करनी चाहिये।

अविकार :- अरहन्त-सिद्ध भगवान को विकार नहीं है, वे अविकार हैं। उसीप्रकार मेरे आत्मा में भी विकार नहीं है।

अज :- आत्मा जन्मता नहीं है, मरता नहीं है; अज है। शरीर के संयोग को जन्म और शरीर के वियोग को मरण कहते हैं। अतः अज आत्मा की भावना करनी चाहिए।

अकलंक :- भगवान की शुद्ध पर्याय प्रकट हुई है, उसमें जरा भी कलंक नहीं है। उसीप्रकार मेरे स्वभाव में भी दोष नहीं है।

अशंक :- भगवान को शंका नहीं है, वे अशंक हैं। 'नियमसार' में मोह-राग-द्वेष को शंका कहा है। भगवान के ऐसी शंका नहीं है। अर्थात् विपरीत मान्यता (मोह) और राग-द्वेष निकल गये हैं; अतः वे अशंक हैं। इसी प्रकार धर्मात्मा को भी शंका नहीं है। राग अस्थिरता का दोष है। इसलिए राग तो है, पर शंका नहीं है।

निरंजन :- भगवान को भावकर्म और जड़कर्म का मल नहीं है, वे निरंजन हैं।

सर्वज्ञ :- भगवान तीन काल तीनलोक को जानते हैं, सर्वज्ञ हैं।

प्रश्न :- भगवान तीन काल तीन लोक को जानते हैं तो प्रथम पर्याय कौन-सी है ?

उत्तर :- प्रथम और अन्तिम पर्याय है ही नहीं। वस्तु आदि-अन्त बिना की है। सर्वज्ञ सारी पर्यायों को जानते हैं। जिससमय जो अवस्था होनेवाली है, सर्वज्ञ उसे भी जानते हैं और उसके निमित्त को भी जानते हैं।

प्रश्न :- तब तो कुछ फेरफार करना नहीं रहा ?

समाधान :- सर्वज्ञ की ही तरह मैं भी ज्ञानस्वभावी हूँ। पर का और राग का कर्त्ता नहीं हूँ। जो केवली भगवान को नहीं जानता है, वह मोक्ष तत्त्व को नहीं जानता। मोक्ष तत्त्व की भूल जीव तत्त्व की भूल है और मोक्ष के कारणरूप संवर-निर्जरा की भी भूल है।

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहिं होसी, काहे होत अधीरा रे॥

हे वीरा ! भगवान ने जो देखा होगा, वही होगा; अनहोनी नहीं होगी; अतः अधीर किसलिए होता है ? तेरा स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। तेरी ताकत क्रमबद्ध जानने की है, फेरफार करने की नहीं।

अज्ञानी को राग में आनन्द आता है; परन्तु ज्ञानी करे तो ऐसा निश्चय है कि 'मैं जानने-देखने वाला हूँ, प्रज्ञास्वरूप हूँ।'

अन्तरात्मा विचार करता है कि जैसे सर्वज्ञ हैं, वैसा ही मैं हूँ।

सर्वज्ञ केवल ज्ञाता हैं, उसीप्रकार मैं भी ज्ञाता हूँ। वीतराग भगवान को राग नहीं हैं, उसीप्रकार मेरे स्वभाव में भी राग नहीं है। मैं ज्ञान-दर्शनमय हूँ।

परमज्योति :- मेरा स्वभाव परमज्योति है।

बुद्ध :- जिसे पूर्ण शुद्धि की और बुद्धि की प्राप्ति हुई हो, वह बुद्ध है। भगवान बुद्ध हैं। उसीतरह मुझमें भी पूर्ण शुद्धि और बुद्धि (ज्ञान) प्रगट होने की योग्यता है - ऐसी भावना करनी चाहिये।

आनन्दकन्द :- ज्ञाता-दृष्टा बनने पर आत्मा को आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द आता है। भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप हैं। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय में आनन्द व्याप्त है। स्वभाव के अवलम्बन से उन्हें पूर्ण आनन्द प्रकट हुआ है। वे आनन्दकन्द हैं। जिसप्रकार कन्द में अनन्त जीव होते हैं, उसीप्रकार भगवान आत्मा की पर्र्याय में अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है। मेरे स्वभाव में भी आनन्द है, जिसका आश्रय लेने से पूर्ण आनन्द प्रकट होता है। ज्ञान की सामर्थ्य एक समय में तीन लोक तीन काल को जानने की है - ऐसा निर्णय करनेवाला सम्यग्दृष्टि है।

शास्ता :- धर्म का उपदेश देने वाले आप्त शास्ता होते हैं। भगवान शास्ता हैं। वे सच्ची सीख देनेवाले हैं अर्थात् मोक्ष को समझाने वाले हैं, शक्ति के पूर्ण विकास का उपाय बतानेवाले हैं। जो अल्पज्ञता और राग का अभाव करने को तथा पूर्णता प्रकट करने को कहे, वह शास्ता है। सभी भगवान शास्ता हैं, सभी की सीख एक है :-

मैं सर्वज्ञ हो गया हूँ; तुझमें भी सर्वज्ञ शक्ति भरी है, उसका आश्रय लेकर तू भी अल्पज्ञता और राग का नाश कर ! पर की दया पालने की कोई बात ही नहीं है। राग को हेय समझ और ज्ञान स्वभाव को उपादेय समझ ! ऐसी शिक्षा देनेवाले शास्ता हैं। शिक्षा की इन कुछ ही लाइनों में सारा अर्थ गर्भित समझ लेना चाहिए।

क्रमबद्धपर्याय की टीका है द्वादशांग। क्रमबद्धपर्याय जगत की अवस्था है और उसे बतानेवाले सर्वज्ञ हैं। तीन लोक तीन काल के सभी पदार्थ अपने स्वभावानुसार भगवान के ज्ञान में दिखायी दिये हैं। भगवान वाणी द्वारा उन्हें वैसा ही कहते हैं।

इसप्रकार पदार्थ, ज्ञान और वाणी - तीनों में एक यही बात आयी है कि 'मैं आत्मा अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ,' इसलिए ज्ञाता ही रहो।

विधाता :- परमात्मा ब्रह्मा हैं। वे सच्चे उपदेशदाता हैं, सच्ची ज्ञानपर्याय प्रकट होने में निमित्त हैं, इसलिए विधाता कहलाते हैं।

इस प्रकार भगवान ऐसे इतने नामों से उल्लेखित किये जाते हैं।

* * *

श्लोक ७

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ।। ७ ।।

अन्वयार्थ :- (बहिरात्मा) देह व जीव में एकत्त्व बुद्धि रखने वाला **(आत्मज्ञान पराङ्मुखः)** आत्म ज्ञान से पराङ्मुख होता हुआ **(इन्द्रिय द्वारैः)** पाँचों इन्द्रियों के द्वारा **(स्फुरितः)** स्फुरायमान होता हुआ **(स्वात्मनो)** अपने देह को ही आत्मा रूप से **(अध्यवस्यति)** मानता है ।

भावार्थ :- बहिरात्मा आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता हुआ पंचेन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों के विषय में स्फुरायमाण होता हुआ देह को ही आत्मा मानता है ।

श्लोक ७ पर प्रवचन

अज्ञानी जीव अनेक बार दिगम्बर जैन साधु होकर अंतिम ग्रैवेयक तक गया, परन्तु आत्मज्ञान नहीं किया। वस्तुतः जड़ की क्रिया आत्मा नहीं करता है। २८ मूलगुण का पालन राग है, निर्दोष आहार लेना भी राग है, धर्म नहीं है । जड़ की क्रिया जड़ में होती है, आत्मा उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। भगवान आत्मा तो पूर्ण शक्ति से भरा सबका ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसे आत्मा की दृष्टि नहीं करके यह अज्ञानी जीव इन्द्रिय ज्ञान को पर में लगाता है।

ध्रुवस्वभाव के ऊपर दृष्टि नहीं है, इसलिए वर्तमान अंश इन्द्रिय द्वारा प्रवर्तित होता है । इन्द्रियों द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि के माध्यम से बाह्य पुद्गल पदार्थ दिखायी देते हैं । अज्ञानी उन्हें देखने में रुक जाता है। यह जीव है, यह भगवान है, यह देव है, यह शास्त्र है, यह गुरु है - इसप्रकार उन बाह्य पदार्थों में अटक जाता है।

अपनी पर्याय अपने अस्तित्व में नहीं रुकी और बाह्य पदार्थों में रुकी, उन्हें जानने में प्रवृत्त हुई - इसकारण शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि नहीं हुई।

जैन साधु हुआ, क्रियाकाण्ड किया, बारह-बारह मास के उपवास किये, ब्रह्मचर्य-पालन किया, किन्तु वह सब तो मन्द राग है। ज्ञान जिसे भी जानता है, उसमें रुक जाता है। आत्मा का स्वभाव पूर्ण ज्ञानानन्द है, अतः इस शक्ति की व्यक्ति होना चाहिये; किन्तु शक्ति का भरोसा नहीं आवे तो इन्द्रियज्ञान बाहर में रुक जाता है।

यद्यपि ज्ञान परवस्तु को जानने में अटक जाता है, किन्तु उसे ग्रहण करे या छोड़े - यह तो बात ही नहीं है। आत्मा शरीरादि की क्रिया रोक भी नहीं सकता और कर भी नहीं सकता; परन्तु ज्ञानपर्याय वहाँ ही अटक गयी है। पर्याय पर्यायवान में नहीं लगी और 'मैं नग्न हुआ, मैंने कपड़े छोड़े' - इत्यादि अनेक प्रकार के बाहर के विकल्पों में अटक गयी।

जो पर्याय होने वाली है, उसे ज्ञान जानता है, परन्तु वह मुझसे हुई हो- ऐसी बात नहीं है। वस्त्र उतर गये, अथवा आज आहार नहीं मिला - ऐसी स्थितियों में अज्ञानी मानता है कि - मैंने वस्त्र छोड़े अथवा मैंने आहार की इच्छा नहीं की - इसलिए आज आहार ग्रहण नहीं हुआ। वस्तुतः तो आहार आने की वैसी योग्यता ही नहीं थी, वह तो आनेवाला ही नहीं था, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैंने आहार नहीं किया। इसप्रकार अज्ञानी आहार-त्याग का अभिमान करता है।

बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह बाह्य पदार्थ का संबंध करके ज्ञान करता है। 'मेरा स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, अपने को जानने पर परपदार्थ ज्ञात हो जाता है' - ऐसा नहीं जानकर 'पर के कारण ज्ञाना होता है'- ऐसा मानता है। ज्ञान में ज्ञेय, ज्ञेय के कारण आते हैं, उन ज्ञेयों को जाननेरूप ज्ञानपर्याय अपने स्वकाल में स्वतः होती है; परन्तु अज्ञानी परज्ञेयों में

ज्ञानपर्याय को रोकता है। जानना तो ज्ञान-पर्याय का स्वभाव है, उसे न समझकर पर से ज्ञान होता है - ऐसा मानता है। अत: उसका जो ज्ञान पर में ही रुक जाता है, एकान्त परप्रकाशक हो जाता है, वह मिथ्याज्ञान है।

चीजें ज्ञान में जब जिस रूप में आनीं हों, वे अपने हिसाब से अपने काल में आतीं हैं, परन्तु ज्ञान वहाँ पर में ही रुक जाता है। देखो, जिसका अंश है, उसे जानने में नहीं रुका और पर को जानने में रुका !

मैंने दया पाली - ऐसा मानता है, जबकि वह पर्याय तो ऐसी होने ही वाली थी; तो भी अज्ञानी दूसरे जीव को अपने कारण से बचा हुआ मानता है, इसप्रकार उसका अंश पर में रुक जाता है, अंशी ध्रुवस्वभाव स्वयं कोरा ही रह जाता है। मैंने दया पाली, मैंने ब्रह्मचर्य पाला इसमें ही ज्ञान का रुक जाना ज्ञान की विपरीतता है। ज्ञान स्वयं स्वयं को जानता हुआ राग और पर को जानता है। जिसप्रकार का राग होनेवाला था अथवा जिसप्रकार का निमित्त आनेवाला था, उसे जानता हुआ ही ज्ञान प्रकट होता है - ऐसा नहीं मानता। बस यही अज्ञानी की भूल है।

आहार पदार्थ का ग्रहण-त्याग किया - यह तो स्थूल भूल है। आहार का त्याग किया, इस कारण ज्ञान की प्राप्ति हुई - यह भी बड़ी भूल है। तथा ज्ञान पर्याय पर में ही अटकी, स्व को नहीं जाना; अत: पर में अटका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

परपदार्थों में परिवर्तन होने पर अपने में ही परिवर्तन हुआ - ऐसा अज्ञानी मानता है। आत्मा स्व-पर को जाननेवाला है अर्थात् पर को जानने की शक्ति भी अपने स्वसामर्थ्य से ही प्रकट होती है - अज्ञानी ऐसा जानता नहीं है; क्योंकि वह स्वभाव से पराङ्मुख है। भले ग्यारह अंग और नौ पूर्व को जान ले, पर वह मिथ्यादृष्टि है। निगोद से लेकर नवमी ग्रैवेयक तक के सभी मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान से पराङ्मुख हैं। अज्ञानी मानता है कि - स्त्री-कुटुम्ब आदि निमित्त पलटने पर मैं पलट गया।

घर में रहता था, तब कहता था कि ५ किलो केरी (कच्चा आम) लाओ - इत्यादि। अब वैसे निमित्त नहीं हैं; सो यह तो निमित्त बदलने का काल है, तेरा काल नहीं है। मुनि बनने पर क्या बदला ? परपदार्थ बदले हैं, पर उसमें तेरा क्या बदला ? तू अपनी पर्याय को ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की ओर झुका ! वही तेरा बदलना है।

पहले घर में रोटी बनाता था, तब आरम्भ था; अब उसका त्याग हुआ, अतः आरम्भ छूट गया। परन्तु यह तो बाह्य परिवर्तन हुआ, यह उसका अपमा काल था, इसमें तेरा काल कहाँ आया ? और वे बदले हैं, इसलिए जानने की पर्याय हुयी - ऐसा नहीं है। कपड़े जीव ने नहीं छोड़े हैं, अपितु वे अपने काल में स्वयं छूट गये हैं। तथा जो ज्ञान केवल कपड़े को जानने में रुका, वह मिथ्याज्ञान है।

भगवान आत्मा में स्थायी असली शक्ति भरी हुयी है, उसे नहीं देखकर अज्ञानी पर में रुक जाता है, पर के सन्मुख हो जाता है, स्व से पराङ्मुख हो जाता है; इसलिए शरीर को आत्मरूप मानता है। आँख का ऊँचा-नीचा होना जड़परावर्तन का काल है, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मेरे कारण शरीर की अवस्था हुई। जैसी-जैसी शरीर की अवस्था हो, वैसा-वैसा मुझे ज्ञान होता है– इसप्रकार पर के कारण ज्ञान माननेवाला 'शरीर ही मैं हूँ'- ऐसा मानता है। ज्ञानपर्याय की सत्ता पर की सत्ता को देखने में रुकी; इसलिए 'पर की सत्ता ही मैं हूँ'- ऐसा मानता है, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को नहीं जानता है। मिथ्यादृष्टि जीव मुनि होकर भी शरीर को अपना मानता है, उसके ज्ञान का अस्तित्व पर में रुका हुआ है। 'मेरे राग के कारण दूसरे जीव बचे'- इसप्रकार ज्ञानपर्याय पर में रुक गयी, अपने ज्ञानस्वभाव में नहीं रुक पायी - यही मिथ्याबुद्धि है।

पर के अस्तित्व से अपना अस्तित्व माननेवाला बहिरात्मा है।

यह समाधितन्त्र है। शुद्ध चैतन्य द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही समाधि है तथा ज्ञान और आनन्दस्वभावी आत्मा के अवलम्बन से प्रगट

होने वाली शान्ति ही स्वाधीनता है। जब तक ऐसी स्वाधीन दृष्टि नहीं हो, तब तक अज्ञानी जीव पराधीन दृष्टिवाला है। पर्याय-बुद्धि जीव 'इन्द्रिय से मेरा अस्तित्व है' - ऐसी मान्यता होने से इन्द्रिय द्वारा परद्रव्यों को ग्रहण करता हैं, क्योंकि वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वभावी आत्मा को स्वाधीनतया स्वीकार नहीं करता है और 'मैं इन्द्रियों द्वारा जान्ता हूँ'- ऐसा स्वीकार करता है।

अर्थात् ज्ञान अंश द्वारा त्रिकाली द्रव्य की सत्ता का स्वीकार करना समाधितन्त्र है।

आत्मा की शान्ति शुद्ध है। यदि उसकी पर्याय स्वभाव को स्वीकार करे तो समाधि की जागृति होती है और स्वभाव को स्वीकार न करे तो जीव विपरीत परिणमन ही करता है। इन्द्रियों के अस्तित्व से अपना अस्तित्व मानता है, इन्द्रियों के परिवर्तन से अपने ज्ञान का परिवर्तन मानता है। मेरी इच्छा से इन्द्रियाँ प्रवर्तित होतीं हैं - ऐसा मानता है। मैं निमित्त हूँ तो शरीर और इन्द्रियाँ चलतीं हैं - संयोगदृष्टि वाला इसप्रकार देखता है। उसकी ज्ञानपर्याय पर के ऊपर लक्ष्य करती है और वह पर के अस्तित्व को ही देखता है। आँखें मिची हुईं हों तो मैं नहीं देखता हूँ - ऐसा मानता है।

अज्ञानी जीव स्वभाव की मुख्यता नहीं करके इन्द्रियों की मुख्यता से ज्ञान करता है। इन्द्रियों के होने से ज्ञान की अवस्था स्वीकार करता है। मेरे द्रव्यस्वभाव में से ज्ञानपर्याय आती है - ऐसा नहीं मानकर इन्द्रियादि बाह्य पदार्थों का ज्ञान मानता है।

क्रमबद्धपर्याय और अकर्ता - दोनों एक ही हैं। इन्हें नहीं जानकर अज्ञानी स्वयं को पर का कर्ता मानता है। इन्द्रियाँ कर्ता और मेरी ज्ञानपर्याय कार्य अथवा मेरी ज्ञानपर्याय कर्ता और इन्द्रियादि कार्य - ऐसा मानता है।

मुझे ज्ञान हुआ, इसलिए मैंने जीव को बचा लिया - ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञान से इन्द्रियाँ चलीं और इन्द्रियों के द्वारा परजीव को बचाया- इसप्रकार पर के अस्तित्व को अपने अस्तित्व से मानता है - यह भ्रान्ति है।

एकबार शान्ति से सुन ! आत्मा सदा ज्ञानस्वभावी है। उसी में से वर्तमान पर्याय आती है। उस पर्याय का आधार वही सामान्य ज्ञानस्वभावी आत्मा है - ऐसी दृष्टि नहीं करते हुए अज्ञानी जीव इन्द्रियों को ज्ञानपर्याय का आधार मानता है। इन्द्रियाँ हैं, इसलिए ज्ञान होता है - इसप्रकार मानता है अर्थात् निमित्त के अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व मानता है। इन्द्रियाँ पुद्गल की पर्याय हैं, किन्तु मेरा द्रव्य ज्ञानानन्द सत् है - इसप्रकार सत्ता का ज्ञान होवे तो पर-द्रव्य का ज्ञान होता है। पुद्गल परमाणु के द्रव्य-गुण कायम रहते हैं, इन्द्रियाँ उसकी विशेष हैं।

सामान्य सत्ता को स्वीकार करे तो सच्चा ज्ञान होता है। अपनी सामान्य सत्ता के कारण ज्ञान पर्याय माने तो उचित है, किन्तु ऐसा न मानकर अज्ञानी पर के कारण ज्ञानपर्याय मानता है। मैं आहार-पानी ले सकता हूँ - ऐसा मानता है।

अज्ञानी जीव मुनि के २८ मूलगुणों का पालन करता है, परन्तु ऐसा मानता है कि आहार आदि का लेना मेरी क्रिया है। मेरी ज्ञानपर्याय के कारण शरीर में व्यवस्था होती है - ऐसा मानता है। ऐसा मानने वाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। वह ज्ञानपर्याय के अंश के कारण पर में व्यवस्था मानता है। मुनिराज को चींटी देखकर उसका ज्ञान हुआ, इसलिए पैर ऊँचा किया तथा पैर ऊँचा किया, इसलिए ज्ञान हुआ - ऐसा मानता है।

शरीर की क्रिया पुद्गल के कारण है और ज्ञान आत्मा के कारण है। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से स्व-पर का ज्ञान हो जाता है, स्वयं ज्ञान में ऐसी स्व-पर प्रकाशक शक्ति है।

यहाँ पर से भेदज्ञान कराते हैं। जहाँ शास्त्र में ऐसा कथन आता है कि - इन्द्रियों और मन की सहायता से मतिज्ञान होता है। वह व्यवहार का कथन है। वस्तुतः तेरे ज्ञान का अस्तित्व इन्द्रियाँ और मन के होने से नहीं है। जो जीव परपर्यायरूप अंश के कारण ज्ञान का अंश मानता है, वह आत्मस्वभाव से पराङ्मुख है।

सम्यग्दृष्टि भले ही लड़ाई में हो, हाथी की पीठ पर बैठा हो, किन्तु वह ऐसा मानता है कि अपनी सत्ता अपने से ही है। प्रत्येक पदार्थ की अवस्था स्वयं उस पदार्थ से ही है। अज्ञानी जीव ऐसा मानता है 'मैं इन्द्रियों द्वारा जानता हूँ। जिनके कारण से ज्ञान होता है, उन इन्द्रियों की पुष्टि करूँ तो ज्ञान होता है'- इसप्रकार उस अज्ञानी का शरीरादि को पुष्ट करने का अभिप्राय टलता नहीं है। आँख में सुरमा लगाना ज्ञानवृद्धि का कारण मानता है, जबकि ऐसा नहीं है। ज्ञान का कारण इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं है।

तथापि अज्ञानी ज्ञान और इन्द्रियाँ - दोनों को एक मानता है। मेरी ज्ञानपर्याय मेरे से है - ऐसा माने, वह पास है। मेरी ज्ञानपर्याय इन्द्रियों से है - ऐसा माने वह नापास (फेल) है।

* * *

श्लोक ८ व ९

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यंच तिर्यङ्गस्थं सुराङ्गस्थ सुरं तथा॥ ८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥ ९॥

अन्वयार्थ :- (अविद्वान् नरदेहस्थं आत्मानं नरं, तिर्यंगस्थं तिर्यंच, सुरांगस्थं सुरं तथा नारकांगस्थं नारकं मन्यते) अज्ञानी जीव मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच-शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यंच, देव के देह में स्थित आत्मा को देव एवं नारकी के देह में स्थित आत्मा को नारकी मानता है। **(तत्त्वतः स्वयं तथा न)** वास्तव में स्वयं आत्मा उस प्रकार का अर्थात् मनुष्य, तिर्यंच, देव व नारकी रूप नहीं है, **(अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्यः अचलस्थितिः अस्ति)** अपितु अनन्तानन्त ज्ञानमय, अनन्तानन्त शक्तिमय स्वानुभवगम्य और निश्चल स्थिर रहनेवाला है।

भावार्थ :- मूढ़ बहिरात्मा मनुष्यदेह में स्थित आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच-देह में स्थित आत्मा को तिर्यंच, देवदेह में स्थित आत्मा को देव तथा नारकदेह में स्थित आत्मा को नारकी मानता है। परन्तु तत्त्वतः आत्मा वैसा नहीं, अपितु अनंतानंत ज्ञान-शक्तिरूप है, स्वानुभवगम्य है और स्वस्वरूप में निश्चल है।

श्लोक ८ व ९ पर प्रवचन

पर पदार्थ को अपना मानना तथा अपने से पर की अवस्था हुई मानना अविद्या है, अज्ञान है। जब किसी द्रव्य में उसकी अवस्था या कार्य उसके स्वयं के स्वकाल में होता है, तब अन्य द्रव्य निमित्तरूप में उपस्थित तो अवश्य होता है, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु उस अन्य द्रव्यरूप निमित्त से कार्य हुआ मानना अज्ञान है। आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि -

भले कोई ११ अंग का पाठी हो, फिर भी यदि वह ऐसा माने कि मेरी यह देह की क्रिया मेरे ज्ञान से होती है - तो वह भी मूढ़ है, अज्ञानी है। मनुष्य का यह शरीर जड़-पुद्गल है, अतः इस मनुष्य देह के संयोग से यदि कोई ऐसा माने कि 'मैं मनुष्य हूँ' तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि आत्मा मनुष्य नहीं है।

देखो, जब हमें मुट्ठी बाँधने की इच्छा होती है तो तदनुसार मुट्ठी बंध जाती है, चलने की इच्छा होती है तो गमन क्रिया हो जाती है, बैठने की इच्छा होती है तो हम बैठ भी जाते हैं। इसप्रकार इच्छा के अनुकूल शरीर की क्रिया होते देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, जो-जो शरीर की क्रियायें होतीं हैं, वे मेरी इच्छा से या ज्ञान से होतीं हैं; किन्तु देह की क्रिया को आत्मा की क्रिया मानना या आत्मा से हुई मानना अज्ञान है। ऐसा मानने वाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

अनादिकाल से अज्ञानी जीव शरीर में रहने वाले आत्मा का स्वरूप न जानने से एवं देह व आत्मा को एक मानने से तथा देह की क्रिया 'मैं कर सकता हूँ' अथवा देह की क्रिया 'मुझसे ही होती है'- ऐसी मान्यता से ही संसार में अटका है। तथा इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य अपने शरीर को ही 'मैं' अर्थात् आत्मा मानकर ही यह संसार में परिभ्रमण कर रहा है। मेरा आत्मा इस देह से भिन्न है, मैं अनन्त शक्ति से सम्पन्न अमूर्तिक आत्मा हूँ - ऐसा जाने बिना इस चेतन शरीर को ही मनुष्य या आत्मा समझता है। यह शरीर पुद्गल है, रूपी है, उसमें रहने वाला ज्ञानानन्द स्वभावी, अरूपी आत्मा इससे भिन्न है - ऐसा जानना। जिस तरह डिब्बे में रखी शक्कर डिब्बे से भिन्न है, उसीतरह शरीर में रहनेवाला आत्मा शरीर से भिन्न है। ऐसा न जानकर शरीर व आत्मा को एक माननेवाला जीव अज्ञानी है।आत्मा तो केवल ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है, अज्ञानी जीव अपने को वैसा ही ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी न मानकर बाह्य संयोगों के लक्ष्य

से उनके अस्तित्व के कारण अपना अस्तित्व मानता है तथा शरीर में फेरफार होने पर अपने में फेरफ़ार हुआ मानता है। 'मैं तो उस पुण्यभाव व शुभ राग का भी केवल ज्ञाता-दृष्टा, अनंतज्ञान-दर्शनमयी मूर्ति हूँ' - ऐसा न जानकर जो शरीर की क्रिया को आत्मा की क्रिया मानता है, आत्मा के अस्तित्व को पर में खोजता है, वह मूढ़ है - मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

मेरा स्वरूप पर से भिन्न है - ऐसे भाव बिना अनन्तबार व्रत तप आदि धारण किए तो भी कोई काम नहीं हुआ। शरीर की अवस्था मेरी है, मुझसे होती है - ऐसा मानकर अपने आत्मा के अस्तित्व को पर में खोजता है। चारों गतियों में प्राप्त होनेवाला शरीर पुद्गल पदार्थ है। आत्मा इससे पृथक् चैतन्य पदार्थ है, अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

अरे भाई ! शुद्धात्मा कर्मोपाधि से रहित है - आत्मा स्वयं ज्ञाता-दृष्टा अनन्त गुणों का पिण्ड एवं अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। कर्म जड़ हैं, उनसे आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं है। कर्म के निमित्त की ओर के झुकाव से जो दया-दान आदि शुभ तथा काम क्रोध आदि भाव होते हैं, भगवान आत्मा का स्वरूप उनसे भिन्न है। कर्म की ओर के झुकाव से होनेवाला विकार आत्मा में नहीं है। चैतन्यस्वभाव तो मात्र ज्ञान से भरा हुआ है। वह आत्मा मनुष्य, तिर्यंच, देव व नारकी नहीं है। मनुष्यादि चारों गतियों में भव धारण करने के बावजूद भी आत्मा उस रूप नहीं हुआ। आत्मा तो सदा ज्ञानानंद स्वरूप ही रहा है। मनुष्यादि की हिलने-डुलने रूप हुई क्रिया जड़ की क्रिया है। अज्ञानी जीवों को आत्मा को जुदा जाने बिना धर्म की प्राप्ति संभव नहीं है।

वास्तविक दृष्टि से तो भगवान आत्मा अनंतज्ञान का भण्डार एवं तीनकाल व तीन लोक को जाननेवाला है। भगवान को जो केवलज्ञानादि गुण प्रगट हुए हैं वे आत्मा में विद्यमान अनन्त ज्ञानादि शक्तियों में से प्रगट हुए हैं। यदि आत्मा में ज्ञानादिगुण न होते तो केवलज्ञानादि गुण

कहाँ से प्रगट होते ? वे गुण पुण्य में से प्रगट नहीं हुए हैं। स्वभाव में जो होता है, वही पर्याय में प्रगट होता है।

अज्ञानी जीव शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को आत्मा की अवस्थायें मानता है तथा उन्हें भली-बुरी मानकर उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पनायें करता है। 'मैं तो इन सबका केवल ज्ञाता-दृष्टा हूँ'- ऐसा नहीं मानता। यदि व्रत धारण कर लेता है तो ऐसा मानने लगता है कि 'मैं व्रत पालता हूँ। मैंने उपवास किया, इससे मेरा शरीर कृश हो गया।' इत्यादि प्रकार से जो अपने शरीर की अवस्था को अपने आत्मा की अवस्था मानता है, वह मूढ़-मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है।

शुभाशुभभावरूप आस्रवभाव से आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। आत्मा की पहचान के लिए आत्मा को अपनी वर्तमान ज्ञान की पर्याय को स्वभाव-सन्मुख करना आवश्यक है। आत्मा अपने उपयोग को अन्तर्मुख करके कभी भी स्वरूप का संवेदन कर सकता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति स्व से ही होती है। शुभराग की वृत्ति से या व्रत-तप की प्रवृति से जब आत्मानुभूति स्वरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती, तब फिर स्वरूप में स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र की प्राप्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सम्यक्चारित्र की प्राप्ति न तो इन्द्रियों के अवलम्बन से होगी, न राग के द्वारा होगी तथा न पुण्य, व्यवहार, व्रत या बाह्य क्रिया की मंदता से ही होगी। केवल आत्मज्ञान की क्रिया द्वारा ही अर्थात् उपयोग के स्व-सन्मुखता द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

भगवान पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि तेरा ज्ञानशरीर शान्ति व आनन्द रूप है। इन्द्रियों द्वारा परवस्तुओं को जानने का तेरा स्वरूप या स्वभाव नहीं है। अपने ज्ञानस्वभाव से स्वयं का अनुभव करना एवं आदर करना ही धर्म है। भगवान की वाणी तो जड़ है। उसकी ओर का झुकाव शुभराग है, उससे आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। ज्ञानी कहते हैं कि

तेरा आत्मा तुझसे ही ज्ञात हो सकता है, किसी अन्य की सहायता से नहीं। यद्यपि शिष्य को इस यथार्थ तथ्य का बोध होता है तथापि व्यवहार से ज्ञानी को निमित्त का उपकार-बहुमान आये बिना नहीं रहता। इस स्वतन्त्रता का भान जिसके द्वारा हुआ, उस के प्रति सर्वस्व समर्पण का भाव ज्ञानी धर्मात्मा को होता ही है।

देवाधिदेव ने अपनी शक्ति का किस रीति से विकास किया ? यह बात सद्गुरु के उपदेश बिना समझ में नहीं आती और समझे बिना उपकार भी कैसा ? सम्यग्दर्शन का एक भेद अधिगमज भी कहा है न ? परन्तु इस सब का अभिप्राय यह है कि जब जीव स्वयं अपने से सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब सामने गुरु निमित्त होने से ऐसा कहा जाता है कि यह गुरु के प्रसाद से हुआ है। महा विदेह क्षेत्र में बीस तीर्थंकर विराज़ते हैं। यदि जीव पर से तिरते हों तो उन परमात्माओं द्वारा अब तक सभी को तार दिया जाता। परन्तु अब तक ऐसा नहीं हुआ। वस्तुत: बात यह है कि अपना आत्मा स्वयं से ही जाना जाता है। व्रत, तप, पूजा या यात्रा आदि करने मात्र से आत्मा जानने में नहीं आता। बल्कि इन शुभ क्रियाओं व शुभ विकल्पों का भी आश्रय छोड़कर 'मेरा स्वरूप परिपूर्ण है' ऐसे विचार से अन्तर्मुख होकर जब स्वरूप में गुप्त होता है तब आत्मा का अनभुव होता है। उसके बिना अन्य साधनों से आत्मानुभव नहीं होता। जिसने अपने ज्ञान व आनन्दमय शुद्धस्वरूप को देखा व जाना है, उसे उस स्थिति से डिगाने की ताकत अन्य किसी में भी नहीं है। प्रतिकूल संयोग आत्मा का स्पर्श भी नहीं करते। आत्मा में जो रागादि होते हैं, आत्मा उनका भी स्पर्श नहीं करता। इन्द्रादि भी उसे उसके स्वरूप से विचलित नहीं कर सकते। आत्मा ज्ञान, आनन्द व वीर्य से भरा हुआ है। जब यह आत्मा स्वयं से स्वयं को जानता है, तब कोई भी ताकत उसे विचलित नहीं कर सकती। यह सम्यग्दर्शन की बात है। सम्यग्दर्शन बिना न मुनिपना सम्भव है और न श्रावकपना ही। आत्मा तो अपने ज्ञान-दर्शन

के स्वभाव में स्थिर रहने वाला परम पदार्थ है। ज्ञानी की सदैव ऐसी श्रद्धा है कि 'मैं तो केवल जानने-देखने वाला शुद्ध-स्वरूप हूँ।' जो राग में रहे या निमित्ताधीन रहे - या पुण्य की क्रियाओं में अटका रहे - उसे ज्ञानीजन आत्मा ही नहीं कहते। चाहे वह देव-शास्त्र-गुरु के राग में अटके या शरीर की क्रिया में अटके, वह आत्मा ही नहीं है। वह तो अनात्मा है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न :- क्या ऐसा मानने से संसार की व्यवस्था बिगड़ जावेगी?

उत्तर :- स्त्री, पुत्र और लक्ष्मी आदि संसार नहीं हैं। यदि ये कुटुम्ब आदि संसार होवे तो मरते समय ये कुटुम्बीजन तो कोई साथ जाते नहीं हैं, और कर्म भी जड़ हैं, वे भी आत्मा से सदा जुदे ही हैं। आत्मा उन कर्मों का कर्ता हो तब तो इस जीव के इसी दशा में रहते हुए संसार का अभाव मानना पड़ेगा और यदि ऐसा मानें कि मेरे कारण कर्म आते हैं तो वह जड़ का स्वामी हुआ, अतः वह भी मूढ़ ही है। कर्म कर्म के कारण आते हैं। मैं कर्मों का हूँ या कर्म मेरे हैं- ऐसी मान्यता ससार है। कर्म तो स्पर्श, रस, गंध व वर्ण वाली वस्तु हैं। संसार आत्मा की भूल का नाम है। आत्मा की भूल आत्मा में होती है, कर्म में नहीं होती।

कर्मपुद्गल अजीव हैं, उनकी अवस्था आत्मा के साथ उनकी अपनी योग्यता से होती है। आत्मा व कर्म - दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। कर्म की अवस्था व आत्मा की अवस्था भी दोनों जुदी-जुदी हैं। परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी राग-द्वेषरूप अवस्था कर्म के कारण होती है। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि कर्म की ओर के झुकाव से रहित हुए बिना एवं ज्ञानस्वभाव की ओर झुके बिना धर्म नहीं होता। दूध व पानी मिले दिखाई देते हैं, परन्तु दोनों का स्वाद जुदा-जुदा है। उसीप्रकार कर्म व आत्मा दोनों एक क्षेत्रावगाही हैं, किन्तु दोनों जुदे-जुदे हैं। कर्म अपनी योग्यता से आते हैं व आत्मा अपनी भूल भरी योग्यता से उनके साथ सम्बन्ध करता है। कर्म, विभाव व आत्मा तीनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं।

जैन अर्थात् जीतनेवाला। राग-द्वेष मुझमें नहीं हैं - ऐसे स्वभाव के भान द्वारा जो विकार को जीतता है, वह जैन है। ज्ञानी अपने स्वभाव में स्थिर रहता है, किन्तु अज्ञानी अपने को या तो विकारमय मानता है या कर्ममय। वह अनादि से नर-नारकादि पर्यायों को ही अपना स्वरूप मानता है। भावार्थ यह है कि अज्ञानी जीव कर्म के उदय से होनेवाली नर-नारकादि पर्यायों को ही अपनी सच्ची अवस्था मानता रहा है, इसकारण 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' ऐसा जानने का प्रयत्न नहीं किया। अनादि काल से अब तक इसे भेदज्ञान हुआ ही नहीं है।

भाई! कर्म तो जगत की धूल है ही, राग-द्वेष भी तेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा शरीर मन-वाणी से सर्वथा जुदा है। कर्म अजीव है तथा विकार आस्रव है, इसका ज्ञान कर! इनका ज्ञान तो करता नहीं है, और पाँच-पच्चीस लाख रुपया मिला तथा सुन्दर शरीर मिला, अनुकूल संयोग मिल गये तो बस उन्हें ही अपना मान बैठा है। जिसप्रकार डिब्बे से शक्कर जुदी है, उसीतरह आत्मा से शरीर जुदा है। तथा जिसप्रकार शक्कर के मैल से भी शक्कर जुदी है, उसी तरह आत्मा पुण्य-पाप की उपाधि से भी जुदा है, शुद्ध ज्ञानस्वभावी है, निर्मल शक्ति-स्वरूप है। ऐसा न मानकर ऐसा मान बैठा है कि 'मैं धनवान हूँ या मैं निर्धन हूँ, मैं पण्डित हूँ, या मूर्ख हूँ, मैं रोगी हूँ या निरोगी हूँ, मैं वणिक हूँ या ब्राह्मण हूँ इत्यादि। पर संयोगों में अपने को पर रूप मानने लगता है तथा अपनी वर्तमान अपूर्ण विकृत पर्याय में अपने को पर्यायरूप मान लेता है। अपने त्रिकाली अखण्ड चैतन्य को नहीं जानता। मैं अनन्तानंत शक्तियों का पुंज हूँ - ऐसा विवेक नहीं करता। इसकारण सांसारिक विषयसामग्री के संचय करने की वृत्ति घटती नहीं है। उसी के संग्रह करने की उधेड़बुन में लगा रहता है। परन्तु सामग्री तो जो आने वाली होगी, वही आती है। जड़वस्तु चेतन आत्मा के आधीन तो है नहीं जो इसके प्रयत्न अनुसार आवे-जावे।

जगत के पदार्थ - छह द्रव्य - आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं। जगत के जीव व पुद्गल भी परस्पर भिन्न हैं। उन्हें जैसा भगवान ने जाना है तदनुरूप उनका परिणमन उनके स्वचतुष्टय के अनुसार होता है। आत्मा तो उनका मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। ऐसा जानकर आत्मा को अपने स्वरूप में एकाग्र होना चाहिये। आत्मा की स्वरूप में एकाग्रता नहीं होती, इसकारण बाह्य वस्तुओं को अपने में या आत्मा को बाह्य वस्तुओं में मिलाना चाहता है। स्त्री पुत्रादि को अपने अनुकूल रखना चाहता है, किन्तु वे सब इसके आधीन नहीं हैं। अतः इसके अनुकूल कैसे परिणम सकते हैं ? संयोग व सामग्री अपने ज्ञान व इच्छा के कारण नहीं आती। भले ही तू अपने ज्ञानस्वभाव के ध्येय को छोड़कर पर को ध्येय बनाने का भाव करता रहे, पर तेरे भावों के कारण या भावों के अनुसार सामग्री नहीं आती।

सम्यग्दृष्टि को भी राग तो होता है, परन्तु वह ऐसा नहीं मानता कि मेरे राग के अनुसार या राग के कारण से बाह्य संयोग आते हैं। अपनी वर्तमान कमजोरी के कारण उसे संयोग न मिलने का खेद भी होता है, परन्तु उसे अपनी कमजोरी का भान है। अतः अज्ञानी की भाँति उसे विशेष आकुलता नहीं होती। तथा भूल रहित आत्मा का भान होने से अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि नहीं छूटती।

अज्ञानी पर पदार्थों के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक मानता है। आत्मा लड्डुओं को नहीं खाता, किन्तु अपने में हुए उस जाति के राग मात्र का ही अनुभव करता है, किन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैंने पर पदार्थों का उपभोग किया। पैसा जड़ पदार्थ है, पूर्व पुण्य के उदय से आता है। जीवों को पैसे की बहुत इच्छा है, परन्तु पैसा इच्छा के हिसाब से नहीं आता। धर्मी को एक पैसा न मिले और अधर्मी बहुत पैसा कमा ले तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि पैसे का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो पूर्व पुण्य के उदय के अनुसार आता है। अज्ञानी संयोगों में हर्ष - शोक करता है। लेकिन परवस्तु किसी के रखने से नहीं रहती और टालने से टलती नहीं है। अज्ञानी मुफ्त में ही हर्ष-शोक करता है।

मिथ्यादृष्टि भ्रम में पड़ा है, इसकारण उसे धर्म नहीं होता। ज्ञानी को भी निम्न भूमिका में किंचित् हर्ष-शोक होता है। किन्तु उसको भेदज्ञान वर्तता है, इसकारण तीव्र आकुलता नहीं होती। वह जानता है कि मेरे हर्ष-शोक का कारण परवस्तु नहीं है। शरीर परवस्तु है, अत: उसके कारण हर्ष-शोक नहीं होता। हर्ष-शोक आत्मा की उपाधि है - विकारीभाव है। मैं तो उससे भी पृथक् त्रिकाली ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ । ज्ञानी को ऐसा भान - भेदज्ञान है।

अज्ञानी पर से सुख-दु:ख मानता है, ज्ञानी ऐसा नहीं मानता। धर्मी को कर्म, संयोग, उपाधि व स्वभाव के मध्य भेदज्ञान वर्तता है। वह जानता है कि विकार मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो ज्ञान-दर्शन व आनन्दस्वरूप हूँ। शरीर, कर्म, राग-द्वेष सब कर्मोदय जन्य उपाधियाँ हैं। वह अपने को उनसे जुदा जानता है। आत्मा शरीर, कर्म एवं लक्ष्मी व स्त्री पुत्र आदि से जुदा है परन्तु अपने स्वचतुष्टय से जुदा नहीं है। ज्ञानी ऐसा बराबर जानता है। स्त्री-पुत्रादि यद्यपि जीव - चेतना पदार्थ हैं परन्तु मेरे आत्मा की अपेक्षा अनात्मा व मेरे जीव की अपेक्षा अजीव हैं। एक भी रजकण, कर्म व शरीर मेरा नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ - जो ऐसा निर्णय करे, उसे धर्मी कहते हैं। शरीर-वाणी अपने-अपने घर के हैं, आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है - जो ऐसा जानता है, उसे धर्म होता है। सम्यग्दृष्टि को उनसे राग होते हुए भी उनमें एकत्व नहीं है।

भरत चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियाँ थीं, परन्तु उन्हें उनमें एकत्व नहीं था। वर्तमान कमजोरी से जो राग होता है उसे भी ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानते। सुन्दर रूप, सुखद स्पर्श आदि परपदार्थ हैं, उनमें ज्ञानी आत्मा के अपनापन नहीं होता। स्त्री पुत्रादि का वियोग होने पर ज्ञानी के उनसे एकत्वबुद्धि जनित दु:ख नहीं होता। अनिष्ट या प्रतिकूल संयोगों के प्रसंग ज्ञानी को भी आते हैं परन्तु वह उन्हें परवस्तु मानता है तथा ऐसा जानता है कि परवस्तुएँ हर्ष शोक के कारण नहीं हैं। ज्ञानी को हर्ष - शोक होता ही नहीं हो — ऐसी बात नहीं हैं, परन्तु वह ऐसा मानता है कि

यह मेरे ही पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण हुआ है, परव्यक्ति या परवस्तु के कारण यह हर्ष शोक नहीं हुआ। और वह उस हर्ष-शोक के काल में भी अपने ज्ञानानंद स्वभाव के भान से अनभिज्ञ नहीं है। इस हर्ष-शोक से ज्ञान स्वभाव भिन्न है– ऐसा भान उसे बराबर वर्तता है।

श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी के मुर्दा शरीर को अपने कंधे पर ढोते हैं, तथापि उनकी श्रद्धा यथार्थ है, उसमें किंचित् भी कमी नहीं है। यह केवल उनके चारित्र मोह का दोष है। यह आत्मा भी अनादिकाल से शरीर को ढो रहा है। वस्तुतः आत्मा व शरीर में अत्यन्ताभाव है, दोनों जुदे-जुदे द्रव्य हैं। अज्ञानी को इस बात का भान नहीं है। इस कारण वह शरीर के हलन-चलन को आत्मा की क्रिया समझता है, जबकि शरीर के हलन - चलन की क्रिया शरीराश्रित है। उससे आत्मा का कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। तो भी अज्ञानी को एकक्षेत्रावगाही होने से तथा दोनों के परिणमन का समकाल होने से ऐसा भ्रम हो जाता है कि इस पर की क्रिया का कर्त्ता मैं हूँ। वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञानी की दृष्टि तो ऐसी होती है कि शरीर जड़ है, कर्म परद्रव्य हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। मुझमें हर्ष-शोक के भाव होते हैं, तो भी मैं उनसे भिन्न हूँ। मैं उनके कारण सुखी-दुखी नहीं। मेरे हर्ष विषाद रूप होने का कारण मेरी चारित्रगुण सम्बन्धी अस्थिरता जनित कमजोरी है, परद्रव्य नहीं।

भले ही रामचन्द्र जी छहमास तक लाश ढोते रहे, तथापि वे ज्ञानी थे, प्रतिक्षण उनमें शुद्धता का अंश बढ़ रहा था। अज्ञानी उन्हें संयोग से देखते हैं और ज्ञानी उन्हें स्वभाव की ओर से देखते हैं।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि मोहनीयकर्म के कारण शोक होता है। परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। हर्ष-शोक का कारण कर्म नहीं बल्कि अपने पुरुषार्थ की कमजोरी ही है। पंचम गुणस्थान में भी रौद्रध्यान का अस्तित्व है। किन्तु रौद्रध्यान का अस्तित्व मुझसे जुदा है - ऐसा भान उनके वर्तता है। अज्ञानी अनुकूलता के कारण सुख तथा प्रतिकूलता के

कारण दुःख मानता है। इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। सम्य दृष्टि संयोगों में सुख - दुःख नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में कोई परद्रव्य अनुकूल या प्रतिकूल होता ही नहीं है, यह तो राग-द्वेष के कार्य हैं। ज्ञानी को तो सभी वस्तुयें मात्र ज्ञेय हैं - ऐसा ही उनका पक्का निर्णय है।

रामचन्द्रजी सीताजी के खोने पर पशु-पक्षियों से, पहाड़ों से, वृक्षों से पूछते हैं कि मेरी सीता कहाँ है ? अरे ! मेरी सीता धर्मात्मा थी, पतिव्रता थी, उसे कौन ले गया है ? आचार्य कहते हैं कि यह श्रद्धा का दोष नहीं है। वर्तमान पुरुषार्थ की कमी का - कमजोरी का राग है, किन्तु उसी समय उन्हें अपने स्वभाव का भान है। वे अपने आत्मा की पूर्ण शुद्धता के अभिलाषी हैं। अपने ज्ञाता स्वभाव को उपादेय मानकर अन्तरात्मा होकर मोक्षमार्ग का साधन करते हैं।

अज्ञानी जो अपने शरीर को आत्मा मानते हैं, वे दूसरे के शरीर को भी जीव ही जानते व मानते हैं। दूसरे के आत्मा को शरीर, मन, वाणी वाला मानते हैं, उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं जानते। वे सबको अपनी अज्ञानमय दृष्टि से ही देखते हैं।

अज्ञानी जीव अपने शरीर के व्यापार को अपने आत्मा का कार्य मानता है, तथा दूसरे जीवों के भी शारीरिक व्यापार या कार्य को उनके आत्मा का व्यापार या कार्य मानता है। उसका मानना है कि स्त्री की देह की चेष्टायें उसका आत्मा करता है। बोलने-चालने की क्रिया को व हिलने-डुलने की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। अपनी बात की पुष्टि में तर्क यह देता है कि यदि आत्मा नहीं बोलता है, और बोलना देह की क्रिया है तो जिस देह में से आत्मा निकल जाता है, वह मुर्दा शरीर क्यों नहीं बोलता ? आदि।

उससे कहते हैं कि भाई ! बोलना पौद्गलिक भाषा वर्गणा का कार्य है और आत्मा पुद्गल परमाणु की खान है नहीं, अतः वह भाषा रूप परिणमित कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी ऐसा

मानता है कि आत्मा देह की क्रिया कर सकता है तथा वह ब्राह्य संयोग-वियोग में एकत्व बुद्धि करता है। शरीर की क्रिया को आत्मा की क्रिया कहता है। आँखें जो ऊँची - नीची होतीं हैं कान ठीक सुनते हैं भुजाएँ फड़कतीं हैं, उन्हें आत्मा की क्रिया मानता है।

उससे आचार्य कहते हैं कि अरे भाई ! वह सब तो माटी है व माटी का परिणमन है। उसमें आत्मा की इच्छा से कुछ भी नहीं होता। तथा वह कहता है कि भाई ! तुझे अच्छा बोलना आता है, मुझे तुझ जैसा बोलना नहीं आता। उससे आचार्य कहते हैं कि अरे ! यह तो जड़ का परिणमन है। भाषा बोलना कोई आत्मा का कार्य नहीं है। वे तो जड़ के अक्षर हैं, पुद्‌गल परमाणु की पर्याय हैं। परन्तु जो पर की क्रिया का स्वामी होता है वह मूढ़ है, अज्ञानी है।

अरे भाई ! यह 'समाधितन्त्र' है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र मृत्युपर्यन्त रहे व परलोक में भी रत्नत्रय साथ में जावे - ऐसा उपाय बताया गया है। इसमें आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा, देह व वाणी - तीनों भिन्न-भिन्न हैं, तो भी अज्ञानी देह की क्रिया से आत्मा का लाभ मानता है। कहता है कि मैंने स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब परिवार छोड़ा; दया, दानादि किया, अतः मुझे धर्म हुआ न ? परन्तु भाई ! उनका तो तुझसे छूटने का काल था, सो छूटे हैं; उसमें तेरा कोई कर्तृत्त्व नहीं है। आत्मा तो उनसे त्रिकाल जुदा ही है। स्वभाव विभाव से जुदा है - ऐसे निर्णय बिना तो धर्म का अंकुर ही नहीं उगता। अज्ञानी वाणी को ही आत्मा मानता है।

प्रश्न :- यदि देह में आत्मा न हो तो भी बोला जा सकता है क्या?

उत्तर :- भाई ! वाणी तो अपने कारण अर्थात् अपने स्वतन्त्र स्वचतुष्टय से निकलती है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रवाह अविरल चलता रहता है। ऐसा भान न होने से अज्ञानी देह व वाणी को आत्मा

व आत्मा का कार्य मान लेता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी बहिरात्मा अपने शरीर को ही आत्मा मानता है। वह सोचता है कि मैं शरीर को स्वस्थ रख सकता हूँ। यदि ध्यान रखूँ तो शरीर स्वस्थ व शक्तिशाली रहेगा और यदि संभाल नहीं की तो वह अस्वस्थ व कमजोर हो जायेगा। किन्तु उसका यह मानना मूढ़ता है, अज्ञान है।

आत्मा व विकार भिन्न हैं, कर्म व विकार भी भिन्न-भिन्न हैं तथा कर्म व शरीर भी जुदा हैं, किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। जीव ज्ञानस्वभावी है। शरीर-मन-वाणी अजीव हैं, पुण्य-पाप आस्रव हैं। परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। ज्ञानी को भी अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में हर्ष शोक होता है। किन्तु उसकी एक सीमा है - मर्यादा है, जिसके उपरान्त वह हर्ष शोक से रहित हो जाता है। वर्तमान में भी उसके हर्ष शोक का भाव अज्ञानी की भाँति असीमित नहीं है, मर्यादित है। राग क्षणिक है, शरीर व कर्म जुदे हैं। स्वयं आत्मा ज्ञान-स्वभावी है। ज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान है। अज्ञानी पर व पर्याय में एकत्वबुद्धि रखता है।

देखो, इच्छा होते हुए भी शरीर अपनी इच्छानुसार नहीं चलता। यदा-कदा शरीर में अपनी इच्छानुसार व्यवस्थित क्रिया होती है तो अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि मेरे ज्ञान की विलक्षणता से मेरे शरीर की अवस्था व्यवस्थित हो रही है। पुत्र-पुत्रियाँ प्यार से बापूजी ! बापूजी !! कहते हैं तो उनमें एकत्व व ममत्व होने से मन ही मन प्रसन्न होता है। परन्तु भाई ! आत्मा के कोई स्त्री-पुत्र-पुत्रियाँ नहीं हैं। आत्मा के धनवानपना व निर्धनपना भी नहीं है। आत्मा तो ज्ञानलक्ष्मी वाला है। पैसे का आना व जाना ज्ञान के कारण या बुद्धि की चतुराई से नहीं होता। आत्मा स्वयं भूल करता है, कर्म आत्मा को भ्रान्ति नहीं कराता। गलती तो स्वयं करता है और माथे मढ़ता है कर्मों के। कर्म के कारण विकार होता है - ऐसा मानने वाला जड़ को ही आत्मा मानता है। विकार चेतन की सत्स्वरूप

विकारी पर्याय है तथा कर्म अजीव की सत्स्वरूप पर्याय है। अजीव की सत्पर्याय के कारण जीव की सत्पर्याय मानने का अर्थ है एक के सत् से दूसरे के सत् को स्वीकार करना, जो सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है।

जो स्वयं के चैतन्य स्वभाव से भ्रष्ट होकर कर्म की ओर झुकता है वह दुःखी होता है। जिसकी शरीरादि में एकताबुद्धि है, वह अन्य में भी ऐसी ही एकत्वबुद्धि करता है। वह कार्माणशरीर को अपना मानता है। कर्म के कारण विकार का होना मानना और विकार को आत्मा का मानना, इसप्रकार परोक्षरूप से कर्म को ही आत्मा मानना हुआ।

ऐसे लोगों की मान्यता है कि केवली भगवान को अघातिया कर्मों के कारण संसार में रुकना पड़ता है। विकार टल गया परन्तु पूर्व के जो कर्म बंधे हैं, वे कर्म कम्पन कराते हैं - ऐसा मानने वाले कर्म को ही आत्मा मानते हैं

सम्यग्दृष्टि को किंचित् राग वर्तता है। यदि राग न हो तो वह केवली हो जावे। राग स्वयं का अपराध है। कर्म के कारण राग नहीं होता। कर्म अजीव है, राग आस्रव है, जीव शुद्ध है - ऐसा तीनों का भेदज्ञान वर्तता है। कर्म के कारण विकार हुआ हो - ऐसा नहीं है। केवली भगवान के योगों के कम्पन की योग्यता स्वयं के कारण है। असिद्धत्वभाव जीव का स्वतत्त्व है। अज्ञानी अपनी दृष्टि से ही पर को देखता है, इसकारण उसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आता। अतः आगम के आलोक में ही वस्तु का यथार्थ निर्णय करना चाहिए, तभी यथार्थ वस्तुस्वरूप ख्याल में आ सकता है।

जीव उपयोग लक्षण से लक्षित है तथा जड़ अनुपयोग लक्षण से लक्षित है। बहिरात्मा शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था मानता है। लोक में आत्मा व शरीर के घनिष्ठ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। इसकारण शरीर व आत्मा का स्वतन्त्र परिणमन होते हुए भी, आत्मा की इच्छा के अनुरूप शरीर का परिणमन होने के कारण शरीर के कार्य को

आत्मा का कार्य मान लेता है। जबकि आत्मा तो केवल जानने-देखने वाला ज्ञाता-द्रष्टा है। जाननेरूप क्रिया से पर में व्यवस्थित या अव्यवस्थित कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। जो ऐसा मानते हैं कि यदि हम शरीर का ध्यान रखते हैं तो वह ठीक तरह से चलता है, स्वस्थ रहता है, अन्यथा वह कहीं भी गिर सकता है, बीमार पड़ सकता है, वे ऐसा मानने वाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इसप्रकार जब इच्छानुसार व्यवस्थित बोलने की क्रिया, बाहर में स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब का पालन-पोषण-संरक्षण या धनादि सम्पत्ति का आना एवं सामाजिक प्रतिष्ठा स्वतः प्राप्त होते हैं तो अज्ञानी ऐसा मानने लगता है कि यह सब मैंने किया है। इसतरह वह स्वयं को तो पर का कर्ता-भोक्ता मानता ही है, किन्तु पर को भी अन्य-अन्य द्रव्यों का कर्ता-धर्ता मानता है। शरीर की क्रिया तो अपनी योग्यतानुसार जो होनी थी, वह होती ही है। किन्तु अज्ञानी ऐसा मान लेता है कि मैंने सदोष आहार-पानी का त्याग किया, इसकारण मैं स्वस्थ हूँ। ऐसा मानने वाले सब शरीर को ही आत्मा मान बैठे हैं।

आचार्य कहते हैं कि भाई ! आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है, ज्ञानोपयोगी है, तू उसे वैसा न मानकर शरीरवाला, स्त्री-पुत्रवाला, धनवाला मानता है - यह तेरी भ्रमणा है। तू अनुकूल को हितकारी व प्रतिकूल को अहितकारी मानता है। शरीर के नाश को आत्मा का नाश व शरीर के उत्पाद को आत्मा का उत्पाद मानता है। जबकि अस्तित्वगुण के कारण आत्मा का एक भी परमाणु नष्ट या घट - बढ़ नहीं होता; क्योंकि आत्मा अनादि-अनंत व अखण्ड सत्पदार्थ है। अज्ञानी खाने-पीने को व राग-रंग को अनुकूल मानता है, सुखरूप हितकारी मानता है। पैसा हो, स्त्री-पुत्रादि अनुकूल हों तो उन्हें सुखरूप मानता है। इस प्रकार शरीर को आत्मा मानता है; विषय सुख को हितकर मानता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि जीव बाहर से भले यह बोलता है कि यह ठीक है, यह ठीक नहीं है; परन्तु उसके अभिप्राय में बहुत फेर है। ज्ञानी तो ऐसा मानता है कि मैं तो ज्ञानलक्षण स्वभावी हूँ, जानना-देखना मेरा कार्य है। जगत के कोई भी पदार्थ अनुकूल व

प्रतिकूल नहीं हैं। ज्ञानी तो केवल जानने की क्रिया का कर्ता है। वह जानता है कि भाषा तो भाषा के कारण निकलती है, उसे इष्ट-अनिष्ट मानना ज्ञानी का कार्य नहीं है।

मिथ्यादृष्टि अनुकूल खान-पान, अनुकूल वस्त्र-बर्तन और गृहादि में हर्ष मानता है। यदि उक्त अनुकूलता न मिले तो दुःखी होता है। जिसतरह अपनी इच्छा के अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण में हर्ष विषाद करता है, उसीप्रकार अपने इष्टजनों के दुःख को देखकर भी दुःखी होता है। आचार्य कहते हैं कि जब तेरा शरीर व शरीर के अंग भी तेरे नहीं हैं और इनका प्रवर्तन भी सदा तेरी इच्छानुसार नहीं होता तब अन्य इष्टजनों का तेरी इच्छानुसार प्रवर्तन हो और जगत की अन्य भौतिक वस्तुओं का उन इष्टजनों की इच्छानुसार प्रवर्तन हो - यह कैसे सम्भव है ?

जब कोई बीमार हो, दुःखी हो, दुःख से कराह रहा हो, दमा की बीमारी से दम फूल रही हो, बोलना भी मुश्किल हो रहा हो, उस हालत में पत्नी पास हो, बेटा बगल में बैठा हो, ढेरों दवायें व डॉक्टरों की सेवायें उपलब्ध हों, फिर भी उसकी कोई मदद नहीं कर पाता। सबके देखते-देखते और बचाने का प्रयत्न करते-करते भी बिलखते हुए प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। तब वहाँ कौन क्या कर पाता है ? कदाचित् पुण्ययोग से या अपने स्वसमय की होनहार से दवा अनुकूल मिल जावे, स्त्री-पुत्रादि सेवा करनेवाले हों तो हर्षित होता है, अपने अतीन्द्रिय आनन्द को भूलकर उस बाह्य क्षणिक अनुकूलता में अटक जाता है। सेवा करनेवालों का बड़ा उपकार मानता हुआ दीन-हीन हो जाता है। तथा जिससे उक्त प्रयोजन की पूर्ति न हो, उससे द्वेषभाव करने लगता है। इस तरह अज्ञानी पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ करके सदा दुःखी ही बना रहता है। ऐसा विचार नहीं करता कि मेरा अस्तित्व मेरे कारण है, इसमें पर का कर्तृत्त्व नहीं है।

* * *

श्लोक ११

स्वपराध्यवसायेन, देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११ ॥

अन्वयार्थ :- (अविदितात्मनाम्) आत्मा को नहीं जाननेवाले अज्ञानी पुरुषों को **(देहेषु स्वपराध्यंवतायेन)** देहादि में ही अपने-परायेपन की बुद्धि या पहचान होने से **(पुत्रभार्यादिगोचरः)** पुत्र-स्त्री सम्बन्धी **(विभ्रमः वर्तते)** भ्रम होने लगता है।

भावार्थ :- अज्ञानी पुरुषों को तीन भ्रम लगे हैं —१. जिस शरीर में यह आत्मा बस रहा है उस शरीर को ही आत्मा मानना। २. जिन परशरीरों में अन्य आत्मा रह रहें हैं, बस रहे हैं, उन्हें अन्य जीव मानना। ३. जो शरीर जिस शरीर की उत्पत्ति में निमित्त है या जो शरीर जिस शरीर को रमाने में निमित्त है उसे माता-पिता या स्त्री आदि मानना। मिथ्यादृष्टि ने ये तीन प्रकार के भ्रम खड़े कर रखे हैं।

श्लोक ११ पर प्रवचन

भगवान आत्मा का स्वभाव तो जानने-देखने का है। अज्ञानी को उस आत्मा का स्वरूप नहीं जानने से तथा शरीर में अध्यवसान होने से ऐसा भ्रम हो जाता है कि शरीर ही आत्मा है। साथ ही उसे ऐसा लगता है कि घर में स्त्री हो, बाल-बच्चे हों तो घर की शोभा है। धन-दौलत बिना जीवन कैसा? अतः दस-बीस लाख की सम्पत्ति हो तो और भी अधिक शोभा है, आदि। उसका इन्द्रियों एवं उनके विषयों के प्रति प्रेम नहीं टूटता। वह चैतन्यस्वरूप को नहीं जानता।

भाई! आत्मा परद्रव्यस्वभावी या विकारस्वभावी नहीं है। बेटा-बेटी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होते हैं तो अज्ञानी खेद-खिन्न होता है। कोई-कोई तो बाह्य के प्रतिकूल प्रसंग प्राप्त होने पर इतने आकुल-व्याकुल हो जाते हैं

कि आत्मघात तक कर लेते हैं। पर में व देह में एकत्व-ममत्व करनेवाले ऐसे जीव बहिरात्मा - मूढ़ - मिथ्यादृष्टि हैं।

भाई ! शरीर की अवस्था शरीर के कारण होती है, उसमें कोई परवस्तु या परव्यक्ति उपकारी - अनुपकारी नहीं है। बुढ़ापे में आँखों में सुरमा लगाता है ताकि नेत्रज्योति बढ़े। परन्तु यह मूढ़ता है; क्योंकि एक परमाणु अन्य के लिए अकिंचित्कर है। जो पर के कार्य में निमित्त का उपकार मानते हैं उनको निमित्तों से राग-द्वेष होता ही है। उनकी अनुकूल निमित्तों में मैत्री व प्रतिकूल प्रसंगों में शत्रुता हुये बिना नहीं रहती। इस दृष्टि से भी निमित्तों का सही स्वरूप जानना कार्यकारी है।

एक रजकण दूसरे रजकण का स्पर्श भी नहीं करता। उपकार-अनुपकार करने की तो बात ही क्या करें? तो भी अज्ञानी की ऐसी धारणा है कि सुरमे से दृष्टि बढ़ती है, सुधरती है। इसीप्रकार जिन-जिन से लाभ होना मानता है उन - उन के प्रति प्रेम बढ़ता ही जाता है। उन पर से प्रेम टूटता नहीं है, मोह छूटता नहीं है। यही उसकी विपरीत मान्यता है, जो उसके मोक्षमार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। आत्मा को सदैव चैतन्यलक्षण से पहचानना चाहिये। यदि सुरमे से दृष्टि तेज होती हो तो जो-जो सुरमा लगाते हैं उन सभी की दृष्टि में तेज आना चाहिए, किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। देखनेवाले का ज्ञानोपयोग स्वयं से देखने - जानने रूप कार्य करता है, उसमें दूसरों की - नेत्रादि की या प्रकाशादि की जरूरत नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि आँखें ठीक हों तो दया पाल सकेंगे, नाक ठीक हो तो अनाज सड़ गया या नहीं - यह पता लग सकेगा, कान ठीक रहें तो शास्त्र प्रवचन सुनकर लाभ ले सकेंगे आदि। इस तरह अज्ञानी का इन्द्रिय प्रेम भी कम नहीं होता। उसे समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि भाई ! तू स्वयं स्वतन्त्रपने सबका जानने - देखनेवाला है, तुझे जानने - देखनेरूप कार्य के लिए पर की सहायता की किंचित् भी आवश्यकता

नहीं है। हाँ, ज्ञानी धर्मात्मा को भी ऐसे विकल्प आते हैं परन्तु उसका उन पर जोर नहीं है। वह उन विकल्पों का भी ज्ञाता-दृष्टा बनकर रहता है। वह जानता है कि जिससमय जिसकी जो अवस्था होनी होती है वही होती है। उसको नरेन्द्र, देवेन्द्र व जिनेन्द्र भी टाल नहीं सकते, आगे-पीछे भी नहीं कर सकते ।

वस्तुस्वरूप ऐसा होते हुए भी अज्ञानी अपने भूतकाल को स्मरण करता हुआ अनेक प्रकार से आर्त-रौद्र ध्यान करता है कि अरे ! जब मेरी पत्नी जीवित थी तो वह गरम-गरम सीरा (हलुआ) बना-बनाकर एवं मना-मनाकर खिलाती थी, समय-समय पर नाना-प्रकार के व्यंजन बनाती थी, सेवा करती थी, सुख-दुःख में सदा साथ देती थी, चिन्ता रखती थी। उसका मात्र स्मरण हो या ज्ञान करे - यह तो जुदी बात है, परन्तु उसको याद कर-करके दुःखी होता है। स्त्री-पुत्र -मित्र आदि के प्रेम में ऐसा डूबता है कि उनके वियोग के स्मरण मात्र से तड़फ जाता है। उनके वियोग में वृद्धावस्था में अपने को असहाय अनुभव करता है। शरीर की वृद्ध या युवा अवस्था को आत्मा की अवस्था मानता है। इसप्रकार अज्ञान के कारण जीव दुःखी होता है। यह सब मोह का ही माहात्म्य है।

अरे भाई ! जिसतरह पक्षी अनेक दिशाओं से आकर रात्रि में एक झाड़ पर आ बसते हैं और प्रातः काल होते ही अपनी-अपनी रुचि व योग्यतानुसार जहाँ जिसको जाना होता है स्वतन्त्ररूप से विभिन्न दिशाओं में चले जाते हैं। उसीप्रकार समस्त संसारी जीव अपनी-अपनी योग्यता व कर्मोदयानुसार जुदी-जुदी गतियों में से एक कुटुम्ब में आकर जन्म लेते हैं, साथ में रहते हैं और अपने-अपने समय में स्वचतुष्टयानुसार आयु समाप्त होने पर चले जाते हैं। वस्तुतः पर-पदार्थ का आना-जाना सुख-दुःख का कारण नहीं है। अज्ञानी शरीर-मन-वाणी को अपना मानकर दुःखी हो रहा है। सब जीव जुदी-जुदी गतियों में से आते हैं तथा पति-पत्नी-पुत्रादि के सम्बन्धरूप से इकट्ठे होते हैं। कर्म के उदयानुसार एवं अपनी-अपनी योग्यतानुसार कुटुम्ब का मिलना होता है। उसके संयोग में सुखी व

वियोग में रागवश दुःखी तो ज्ञानी भी होता है। परन्तु जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी पर के सुख से अपने को सुखी व पर के दुःख में अपने को दुःखी मानता है, अपने सुख-दुःख का कारण पर को मानता है। जबकि ज्ञानी अपने राग का व राग के कारण होनेवाले अपने सुख-दुःख का भी केवल ज्ञाता ही रहता है, वह उस राग की व सुख-दुःख की पर्याय में एकत्व-ममत्व नहीं करता - उसमें तन्मय नहीं होता। इसकारण उसके उस राग से उत्पन्न हुई पर्याय का भी कालान्तर में अल्पकाल में अभाव हो जाता है।

आचार्य अज्ञानी को समझाते हुए कहते हैं कि भाई ! तू तो ज्ञानस्वरूप है। अपने ज्ञायक को जाने बिना, ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय व श्रद्धान किए बिना तेरी आकुलता नहीं मिटेगी। अन्तरात्मा परद्रव्य से लाभ-हानि नहीं मानते। स्त्री-पुत्रादि अनुकूल हैं तथा शत्रु प्रतिकूल हैं - ऐसे विभ्रम से बचना चाहिए। यह अज्ञान ही एकमात्र दुःख का हेतु है।

* * *

श्लोक १२

अविद्या संज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽगमेव स्वं पुनरप्यभिमयन्ते॥ १२॥

अन्वयार्थ :- (तस्मात् अविद्यासंज्ञितः) उस विभ्रम से अविद्या नामक **(संस्कार)** संस्कार **(दृढ़ जायते)** मजबूत होता है **(येन लोकः पुनः अपि)** जिससे अज्ञानी जन्मान्तर में भी **(अगम् एव)** शरीर को ही **(स्वं अभिमन्यते)** आत्मा मानता है।

भावार्थ :- इस जीव को अज्ञानजनित अविद्यारूप संस्कार अनादिकाल से है। स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करने से यह संस्कार दृढ़ होता है तथा उसके कारण अन्य जन्म में भी जीव शरीर को ही आत्मा मानता है। तथा इसी कारण अज्ञानी जीव अपने प्राप्त शरीर को भी अपना आत्मा समझ लेता है। स्वयं को परका कर्ता-भोक्ता मानता है - पर के प्रति अंहकार-ममकार करता है, पर में एकताबुद्धि करता है। इससे उसे पर में इष्टानिष्ट कल्पना एवं इष्टानिष्ट कल्पना से राग - द्वेष होता है। तथा राग - द्वेष से इसका संसार चक्र चालू रहता है।

श्लोक १२ पर प्रवचन

आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, किन्तु अज्ञानी द्वारा 'मेरा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है' - ऐसा नहीं मानने से उसमें अनादिकालीन अविद्या का संस्कार पड़ा है। उसे ऐसी प्रतीति नहीं है कि आत्मा चैतन्यज्योति शुद्ध स्वभाव का पिण्ड है। वह शारीरिक क्रिया को आत्मा की क्रिया मानता है। तथा ऐसा मानता है 'कि मैं पर की मदद ले सकता हूँ, पर की मदद कर सकता हूँ। अनुकूल-प्रतिकूल परवस्तुयें जिसतरह मुझे सुख-दुःख के कारण हैं, उसीतरह अन्य जीव भी एक-दूसरे के लिए परस्पर सुख-दुःख के कारण बनते हैं' - ऐसा अज्ञानी मानता है।

भाई ! आत्मा तो सम-स्वभावी सूर्य है। जो ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं जानता वह शुभ भाव को भला व अशुभ भाव को बुरा मानता है। अनुकूल संयोगों को इष्ट व प्रतिकूल संयोगों को अनिष्ट मानता है। ऐसा माननेवाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं।

देखो, यह जड़ के संस्कार की बात नहीं है। कर्म तो मिट्टी है, परद्रव्य है। परद्रव्य न भूल करता है और न कराता है। वह भूल करने-कराने में सम्मत भी नहीं होता, क्योंकि जड़ में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है। वह तो जड़स्वभावी है और आत्मा चैतन्यस्वभावी है। अज्ञानी जड़ व चेतन के यथार्थ स्वरूप को न जानने से मिथ्यात्व के कारण परपदार्थों में ही अनुकूलता-प्रतिकूलता, संयोगों में ही अपना अस्तित्व मानता है। इससे अविद्या दृढ़ होती रहती है, अज्ञान पुष्ट होता जाता है। जो-जो भव धारण करता है उन्हीं में आत्मबुद्धि करता है, शरीर व इन्द्रियाँ ठीक हों तो मैं ठीक हूँ, ये बिगड़ जावें तो मेरा सर्वस्व चला गया - ऐसी विपरीत मान्यता से अविद्या के संस्कार ही मजबूत होते हैं।

देखो, यहाँ अविद्या से विभ्रम का संस्कार दृढ़ होता है, यह कहा है; कर्म से होता है - ऐसा नहीं कहा।

अज्ञानी जिस पर्याय में जन्म लेता है, अपने को उस पर्यायरूप मान लेता है। शरीर की सुन्दरता, इन्द्रियों की अनुकूलता और शरीर की शक्ति को अपनी - आत्मा की सुन्दरता, अनुकूलता व शक्ति मान लेता है। अर्थात् शरीर को ही अपना स्वरूप मान लेता है। भगवान आत्मा का आदर-सत्कार न करता हुआ संयोगों में ही अपनत्व स्थापित किये रहता है। वह सोचता है कि यदि अपना शरीर मजबूत होगा तो दूसरों का अच्छी तरह मुकाबला कर सकते हैं। कमजोर हों तो कैसे लड़ सकेंगे?

यद्यपि कोई किसी को मार या जिला नहीं सकता। जगत के सभी पदार्थ अपने अस्तित्व में कायम रहकर स्वयं अपनी योग्यता से पलटते

रहते हैं, तथापि अज्ञानी की ऐसी मान्यता है कि मैं पर को मार या बचा सकता हूँ। ऐसी मान्यतावाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं।

समाधि का अर्थ सम्यक् भेदज्ञान है। पर से पृथक् होकर स्वयं में एकत्व स्थापित करना ही समाधि है। समाधितन्त्र के रचयिता पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की वृहद् टीका रची है। वे कहते हैं कि भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। जगत का सूर्य तो असंख्य अरब की स्थिति वाले ज्योतिषी देवों का विमान है, जो कि स्फटिक पाषाण का है और चैतन्यसूर्य तो देह-मन-वाणी से भिन्न समस्वभावी है, अनन्त आनन्दमयी ज्ञानप्रकाश के पुंजरूप है। जो ऐसे ज्ञानसूर्य की श्रद्धा न करके आत्मा के सम्बन्ध में अन्यथा मनमानी कल्पनायें करता है वह अज्ञानी है।

कर्म के उदय प्रमाण अर्थात् डिग्री टू डिग्री राग-द्वेष-मोह करना पड़ता है - ऐसा माननेवालों की भी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा तो संसार का कभी अभाव नहीं होगा और किसी को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। अर्थात् मुक्ति के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

कर्म तो जड़ कार्माण शरीर है। जड़ कार्माण शरीर के कारण भ्रम की उत्पत्ति मानने वाले जड़ कार्माण शरीर को ही आत्मा मानते हैं। शरीर ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञान का उसको जानने का स्वभाव है। जिस समय जो वस्तु ज्ञान का ज्ञेय बनना हो वही बनती है। ऐसा नहीं जानता हुआ 'मैं शरीर की सुरक्षा करता हूँ, उसे ठीक या स्वस्थ रखता हूँ' - ऐसा मानता है। जैन साधु होकर भी यदि ऐसा माने कि पर की क्रिया मुझसे होती है, राग की मंदता से लाभ होता है, तो वह शरीर को ही आत्मा मानता है।

इस प्रकार, शरीर की अवस्था को आत्मा कर सकता है - ऐसा मानने वाले शरीर को ही आत्मा मानते हैं। तात्पर्य यह है कि यह जीव

अनादिकाल से अविद्या के कारण शरीर में ही आत्मबुद्धि करता है। अपने अज्ञान का कारण अविद्या है। शरीर व वाणी को आहार व पानी के कारण ठीक मानता है। जल-वायु परमाणु की पर्याय है, उसके कारण स्वयं को ठीक माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है।

जल-वायु के परमाणु व शरीर के परमाणु भी भिन्न-भिन्न हैं, अजीव पुद्गल पदार्थ भी अनन्त हैं, वे प्रत्येक अपने सत् रूप से स्वतन्त्र हैं। एक के कारण दूसरे में कुछ होना मानना भ्रम है। अतः जो ऐसा मानता है कि मैं पर को मार या बचा सकता हूँ, दया पाल सकता हूँ - तो यह उसका विभ्रम है - अज्ञान है। हाँ, मन्दकषाय के परिणाम से पुण्यबंध होता है। किन्तु मैंने पर को बचाया - ऐसा माने तो वह मान्यता मिथ्यात्व है।

धर्मी की करुणाबुद्धि से दुहरे छन्ने से पानी छानने की क्रिया होती है। चार हाथ आगे देखकर ही कदम रखने का भाव धर्मी को आता है। परन्तु यदि कोई ऐसा माने कि मैं इन क्रियाओं का कर्ता हूँ अथवा ये क्रियायें मैं कर सकता हूँ, तो वह उसका विभ्रम है, अज्ञान है। ज्ञानी जीव को राग का भाव आता है, परन्तु वह उसे अपनी क्रिया नहीं मानता। जब आत्मा अपने शरीर की अंगुली को भी नहीं हिला सकता तो पानी छानने की क्रिया कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता। जड़ की पर्याय जड़ के कारण होती है तो भी अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह शरीर की या पर की क्रिया मेरे से हुई। यही उसका अज्ञान है। शरीर-मन-वाणी आत्मा की अवस्था नहीं है तो भी अज्ञानी उसमें आत्मबुद्धि धारण करता है। मैं मौन से रहता हूँ, रह सकता हूँ - ऐसा माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है। वाणी की निकलने की योग्यता नहीं थी, इसीकारण वाणी नहीं निकली, भाषा पुद्गल है, वह आत्मा से नहीं होती। मैं जोर से बोल सकता हूँ या धीरे-धीरे मधुर वाणी बोल सकता हूँ - ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। ऐसा माननेवाला वाणी को ही आत्मा मानता है। आत्मा का स्वभाव अनुत्पन्न व अविनाशी है। उसे न जानता हुआ जो ऐसा माने कि

शरीरादि संयोगों में जो उत्पन्न-ध्वंस होता है, वह मेरे कारण होता है - वह उसका अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि यदि ऐसा है तो मुर्दे में हलन - चलन की क्रिया क्यों नहीं होती ? उससे कहते हैं कि भाई ! पक्षाघात हो जाने पर आत्मा के रहते हुए भी तो हलन - चलन नहीं होता। क्या इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आत्मा के कारण हलन - चलन नहीं होता? अन्यथा पक्षाघात वाले के भी हलन - चलन होना चाहिये।

आत्मा का कार्य जानने का है, सो वह अपनी जानन क्रिया का कर्त्ता त्रिकाल है। ऐसा कोई समय नहीं जब आत्मा अपनी ज्ञानक्रिया न करता हो। अतः यह अपवादरहित सिद्धांत है कि आत्मा ज्ञानक्रिया स्वरूपी है, मन-वाणी आत्मा का रूप नहीं है। अब तक इसके अज्ञानात्मक संस्कार बन रहा है, ज्ञानस्वरूपी संस्कार पड़ा नहीं है - यही इसके अज्ञान का कारण है।

* * *

श्लोक १३

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्वेतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ :- (**देहे स्वबुद्धि**) शरीर में आत्म बुद्धि करने वाले बहिरात्मा (**निश्चयात्**) निश्चय से (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**एतेन्**) शरीरादि के साथ (**युनक्ति**) जोड़ते हैं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परन्तु (**स्वात्मनि एव आत्म धीः**) अपने आत्मा में ही अपनापन करने वाले अन्तरात्मा (**देहिनः**) अपने आत्मा को (**तस्मात्**) उन शरीरादि से (**वियोजयति**) पृथक् करते हैं, अलग करते हैं।

श्लोक १३ पर प्रवचन

यह भावना प्रधान ग्रन्थ है। जीवों को अनादि से उल्टा संस्कार है। उस संस्कार को बदलने के लिए यहाँ बारम्बार अच्छे संस्कार की भावना भाते हैं। शरीर में आत्मबुद्धि करने वाले बहिरात्मा हैं। यदि कोई कहे कि जो देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं वे संक्षेप रुचिवाले समकिती हैं, किन्तु उनका यह कहना या मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जिनकी विपरीत बुद्धि नष्ट नहीं हुई हो, वह भले ही ग्यारह अंग का पाठी हो या बाह्य पूजा-पाठ करता हो, व्रत - नियम पालता हो तथापि मिथ्यादृष्टि ही है। शरीर मन-वाणी अजीव हैं, पुण्य-पाप आस्रव हैं, आत्मा ज्ञान आनन्द स्वभावी है, उसमें एकाग्रता से संवर निर्जरा प्रकट होती है, उसे जाननेवाले संक्षिप्त रुचि सम्यग्दृष्टि हैं।

अज्ञानी जीव शरीर को ही आत्मा मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मैं शरीर की क्रिया करता हूँ। जब वह लड्डू खाता है तब जीभ की क्रिया स्वतः उसकी योग्यता से होती है, किन्तु उसे ऐसा लगता है कि यह क्रिया

मैं करता हूँ, मेरे कारण ही मुँह में हलन-चलन की क्रिया होती है। जबकि मुँह या जीभ तो जड़ की पर्याय है, उसका परिणमन स्वतन्त्रतया उसके ही लक्षण से होता है, आत्मा के कारण नहीं। अज्ञानी ने अपने उपयोग को जड़ में जोड़ दिया है, इस कारण वह अपने को व शरीर इन्द्रियादि को एक मानता है। मैं जानने-देखने वाला ज्ञायक तत्त्व हूँ - ऐसा नहीं मानता। अज्ञानी ऐसा मानता है कि बढ़ई कील में हथौड़े की चोट धीरे मारता है तो कील कम गहरी जाती है और जोर से मारता है तो अधिक गहरी चली जाती है। इसी तरह पत्थर फोड़नेवाला मजदूर जैसे चाहे वैसे छोटे-बड़े टुकड़े कर सकता है आदि। परन्तु यह मान्यता मिथ्या है। चेतन आत्मा जड़ की क्रिया का कर्ता कभी भी नहीं हो सकता।

कोई पहलवान चलती मोटर को अपने हाथ से रोककर रखे, वहाँ यह जानना चाहिये कि वह मोटर उस पहलवान ने अपने बल से रोककर नहीं रखी। भई, शरीर की शक्ति से मोटर नहीं रुक सकती, मोटर स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से रुकी है। पेट्रोल भी मोटर को चलाने में या पेट्रोल का अभाव मोटर को अटकने में कारण नहीं है। यह निमित्त का कथन हो सकता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मोटर अपने स्वयं की सत्समय की योग्यता से रुकती या चलती है, अन्य के कारण नहीं। परमाणु अपना कार्य करता है और आत्मा अपना। एक-दूसरे का कार्य कोई नहीं कर सकता।

आत्मा चेतनस्वरूप है, पुण्य-पाप उसका मैल है। पुण्य-पाप सिद्धावस्था में नहीं है। जो सिद्ध में नहीं है वह आत्मा में नहीं है। जो सिद्धदशा में रहता है वही आत्मा में है, जो आत्मा में से निकल जानेवाला है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता। आत्मा चैतन्यस्वरूप व आनन्दस्वरूप है - ऐसा जाननेवाला अन्तरात्मा है। वह अपनी श्रद्धा व ज्ञान करता हुआ शरीर से भेदज्ञान कर लेता है। ज्ञानी का पर के साथ का निमित्त-नैमित्तिक भाव भी टूटता जाता है और अज्ञानी को

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का भान न होने से उसमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध जैसी विपरीत श्रद्धा दृढ़ मजबूत होती जाती है।

आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि की मान्यता यथार्थ नहीं है। भाई ! शरीर को कोई एक इंच भी नहीं चला सकता। इच्छा होते हुए भी जीव परके त्याग व ग्रहण की क्रिया नहीं कर सकता। विभ्रम के कारण नया-पुराना शरीर मिलता है। जो जड़ के काम अपने कारण हुए मानता है उसके जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। इसीकारण अज्ञानी जीव चतुर्गतिरूप संसार में भटका करते हैं। जिन्हें अपने अस्तित्व की स्वीकृति नहीं है वे पर में अपने अस्तित्व की खोज किया करते हैं। वे अनंत काल तक संसार में भटकेंगे। वे अपनी बहिरात्माबुद्धि से दुःखी हो रहे हैं।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि रोटी-कपड़ा और मकान की कमी के कारण ही मैं दुःखी हूँ। यदि यह समस्या सुलझ जावे तो मैं सुखी हो सकता हूँ। प्रतिकूल संयोग मेरे दुःख के कारण हैं । संयोगों की अनुकूलता रहे तो फिर दुःख काहे का ? अज्ञानी इसी मान्यता से दुःखी है।

भाई ! परपदार्थ दुःख कारण नहीं है। जीव अपनी कल्पनाओं से दुःखी है। शरीर के रोग के कारण दुःखी नहीं है। नारकी को नरक के क्षेत्र के कारण दुःख नहीं है, बल्कि ये सब अपनी मिथ्या मान्यताओं से दुःखी है।

शरीर की खातिर मांस खाने वाले, शराब पीने वाले नरकों में जाते हैं, देश के खातिर लोग मनुष्यों को मार डालते हैं, परन्तु भाई ! इस देश का एक परमाणु भी तेरा नहीं है। तेरा असंख्यात प्रदेशी देश जुदा है। जो तुझसे जुदा हो जाता है, वह तेरा देश नहीं है। तेरा देश तुझसे कभी जुदा नहीं हो सकता। तू अपने असंख्यातप्रदेशी आत्मा के देश को संभाल, वहीं तेरा असली देश है। यह भारत देश तो व्यवहार से कहने मात्र का तेरा देश है। अपने देश को न जानना और इसमें ही एकत्व-ममत्व करना

तेरे दुःख का मूल कारण है। स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-परिवार और समाज व राष्ट्र का देश तेरा देश नहीं है, क्योंकि यह तो तुझसे छूट जायेगा। ज्ञाता स्वभाव तेरा है, वह तुझसे कभी जुदा नहीं पड़ेगा।

अन्तरात्माओं को शरीर की व शरीर के रिश्तेदार-स्त्री-पुत्रादि की ममता छूट जाती है। कोई लकड़ी से मारे-पीटे और हम क्षमा रखें, उस पर क्रोध न करें - इतने मात्र का अर्थ ममता का छूटना नहीं है।

'छूटे देहाभ्यास तो नहिं कर्त्ता तू कर्म।
नहिं भोक्ता तू तेहनो; यही धर्म का मर्म ॥'

देह व आत्मा जुदे-जुदे हैं - ऐसा भान करे तो देहाभ्यास अर्थात् देह के प्रति ममत्वभाव छूट जाता है। तू पर का कर्त्ता नहीं है और पर तेरे कर्म नहीं हैं। भाई ! तू तो चैतन्यस्वभावी है और ज्ञान तेरा कर्म है। ऐसी मान्यता से ही भ्रम का अभाव होता है।

अज्ञानी का कहना है कि निमित्त से कार्य होता है - ऐसा मानो तो निमित्त की निमित्तता कहलायेगी। परन्तु उसकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है। ज्ञानस्वभाव में ऐसी पराधीनता नहीं है। ज्ञान तो वस्तुस्वरूप को यथार्थ समझता है। उसकी तो स्पष्ट धारणा है कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वही मेरा स्वरूप है। जानना-देखना ही मेरा स्वरूप है। जो ऐसा मानता है वही अन्तरात्मा है। जिसकी विकार व पर को धारण करनेवाली बुद्धि छूट गई है तथा जिसने स्वभाव को धारण किया है वही धर्मात्मा है, और उसकी स्वभावाश्रित क्रिया ही धर्म क्रिया है।

अज्ञानी शरीर की अवस्था को आत्मा की मानता है। यहाँ यह बात चलती है कि आत्मा को शान्ति कैसे प्राप्त हो ?

जिसकी दृष्टि उल्टी है, मान्यता मिथ्या है, ज्ञान-श्रद्धान विपरीत है, वह अनादिकाल से शरीर को ही आत्मा मानता है।

उसकी धारणा है कि यदि वह शरीर से सुखी है तो सर्व बातों से सुखी है और यदि शारीरिक दुःख से दुःखी है तो अन्य सुख सुविधायें सर्व व्यर्थ हैं। वह यह नहीं मानता कि मैं तो केवल जानने वाला हूँ और जानन क्रिया ही मेरी क्रिया है; शरीर को चलाने की या उसमें हलन चलन की क्रिया का कर्ता मैं नहीं हूँ। वह तो शरीर को ही आत्मा मानता है। मैं जुदा हूँ, शरीर जुदा है - ऐसा नहीं मानता। शरीर में हलन-चलन, खाना-पीना, गर्मी-ठंडी, भूख-प्यास, आदि की जो क्रियायें होतीं हैं, वे सब जड़ की अवस्थायें हैं, उनसे आत्मा का कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जिसे ऐसा लगता है कि ये मेरी क्रियायें हैं, मैं इनका कर्ता हूँ, वह शरीर को ही आत्मा मानता है। उसकी यह मिथ्या मान्यता ही संसार है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है - ऐसा नहीं मानकर मुझे गर्मी हो गई, सर्दी हो गई - भूख प्यास लगी है - ऐसा मानना ही अज्ञान है।

ज्ञानी को वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण आहार-पानी लेने का भाव आता है, किन्तु उसका वह विकल्प शरीर के कारण नहीं होता। खाने की क्रिया तो न ज्ञानी करता है और न अज्ञानी। अज्ञानी केवल ऐसा मानता है कि यह खाने-पीने की क्रिया मैंने की या मैं इन क्रियाओं का कर्ता हूँ। धर्मी-ज्ञानी ऐसा नहीं मानता। लक्ष्मी का आना-जाना, जीवों का मरना-जीना किसी के हाथ की बात नहीं है। सभी द्रव्यों का परिणमन स्वतन्त्र उनकी अपनी योग्यता से समय-समय पर स्वाधीनपने हुआ करता है, किन्तु अज्ञानी मिथ्या-मान्यता से उनमें कर्तृत्व की कल्पनायें किया करता है। उसे अनादिकाल से मिथ्यामान्यतारूप चुड़ैल लगी है जो विभ्रम उत्पन्न करती है।

जिस तरह लंगड़ा व्यक्ति अंधे के ऊपर बैठता है और अन्धा व्यक्ति चलने की क्रिया स्वतन्त्रपने करता है, किन्तु लंगड़ा उस चलने की क्रिया को यदि अपनी क्रिया कहे तो वह मूर्ख ही है। उसीतरह एक द्रव्य दूसरे की क्रिया करने के लिए पंगु है।

आत्मा ज्ञानचक्षु है और शरीर अंधा है। आत्मा शरीर की क्रिया करने में लंगड़ा है, पंगु है। शरीर भी आत्मा का भान करने में असमर्थ है। जिसे ऐसा भरोसा नहीं है कि - मैं ज्ञानानंदस्वभावी हूँ उसे शरीर में आत्मबुद्धि है। आत्मा भवरहित है और शरीर भवरूप है। जीव को शरीर अनंतबार नया-नया मिला व बिछुड़ा; पर जीव (आत्मा) वही का वही रहा। एक ही भव में शरीर बाल-युवा-वृद्ध-रोग-निरोगादि अनेक अवस्थायें धारण करता है, आत्मा उनके साथ जुड़ान करता है। जिसके साथ सम्बन्ध तोड़ना चाहिए, अज्ञानी उससे सम्बन्ध जोड़ता है। यही उसके दुःख का मूल है।

ज्ञानी जानता है कि देह मुझमें नहीं है, मेरा स्वरूप देह में नहीं हैं, दोनों जुदे-जुदे हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अज्ञानी उसका परिचय छोड़कर शरीर से परिचय करता है। आचार्य कहते हैं कि शरीर को अपना स्वरूप माननेरूप परिणाम का होना ही वस्तुतः भाव हिंसा है।

शरीर व कर्माण शरीर पुद्गल का पिण्ड है। अज्ञानी औदारिक शरीर तथा कार्माण शरीर को अपना मानता है। पुण्य-पापरूप विकार क्रिया से भी आत्मा भिन्न है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। शरीरादि की कैसी भी अवस्था हो, वह मेरे ब्रह्मस्वरूप आत्मा में नहीं है। मेरा आत्मा तो ज्ञानानंद स्वरूप है, पुण्य-पाप तो आस्रव-बंधस्वरूप हैं, शरीर पृथक है। जिसका पर से ममत्व छूटकर अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव में दृढ़ता होती है, वह धर्मात्मा है। जिसके मिथ्या अभिप्राय का नाश होकर सम्यक् अभिप्राय हो गया है, वह अन्तरात्मा है। मेरा स्वाभाव ज्ञानस्वरूप है। जड़ शरीर मेरे आधीन नहीं हैं। देह-मन-वाणी का स्वरूप मुझसे भिन्न है - ऐसा भान होने पर ही स्वरूप में लीनता होती है। जिसकी स्वरूप में श्रद्धा हो गई है या विश्वास प्रगट हो गया है उसके द्वारा अन्य इच्छाओं का निरोध कर उसमें ही रमने का जो प्रयत्न होता है, उसे ही तप कहते हैं। ऐसी तपस्या से जीव शरीर के बन्धन से छूट जाता है। स्वरूप में स्थिरता होने पर पूर्णस्वरूप प्रकट होने पर शरीर का एवं कर्म का बन्धन छूट जाता है और वह परमात्मा हो जाता है। इसलिये शरीर-मन-वाणी में जो अपनेपन

की बुद्धि है, उसे छोड़कर ज्ञान व आनन्द में निजत्वबुद्धि करके 'मैं चैतन्य हीरा हूँ, ज्ञान - दर्शन से परिपूर्ण तत्त्व हूँ' - ऐसी प्रतीति करने वाले को अन्तरात्मा जानो। बहिरात्मपना छोड़कर अन्तरात्मा होकर अन्तर में एकाग्र होना चारित्र है, शुक्लध्यान है एवं परमात्मा होने का उपाय है।

देखो, यहाँ समाधि की बात चलती है। जीव को तो शरीर के साथ का सम्बन्ध तोड़ना चाहिए और आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए, क्योंकि जगत के पदार्थ अपनी-अपनी निज योग्यता से पलटते हैं। उसमें किसी अन्य का कुछ भी कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व नहीं है। परन्तु जीव का वर्तमान विपरीत क्षयोपशम ज्ञान इसे विकार व शरीर एवं राग - द्वेष में जोड़ देता है। इससे यह अज्ञानी जीव समाधि का वेदन-अनुभव करने के बदले असमाधि का वेदन करने लगता है। अरे भाई ! यह समाधि की बात है। अत: बाह्य में जो पदार्थ तुझे दिखाई देते हैं, तेरा उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। तू उनके कारण नहीं, वे तेरे कारण नहीं। अत: उनमें एकत्व-ममत्व व कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि छोड़ दे। तू तो ज्ञानस्वभावी है। अत: अपने ज्ञानस्वभाव का विश्वास कर। उसके आश्रय से तू परमात्मा हो जायेगा।

यद्यपि आत्मसाधना के बीच में पापाचरण के त्यागपूर्वक व्रत-प्रतिमादि धारण करने के भाव भी होते हैं, परन्तु यहाँ उनकी बात नहीं कही। यहाँ तो उन्हें भी आस्रव कहकर उनमें भी अटकने को मना किया है, क्योंकि शरीर की क्रिया को आत्मा की क्रिया मानकर करे तब तो वह बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि ही है और उस क्रिया में धर्म माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। मैं ज्ञानानंदस्वभावी हूँ'- ऐसा विश्वास करके जो पुण्य-पाप के अहंकार-ममकार को टाले वह अन्तरात्मा है, व जो पूर्ण विकास करे वह परमात्मा है। इसलिए परमात्मा होने का प्रयत्न करना चाहिए। जिसतरह तिलों में तैल होता है, पीपल में चौसठपुटी चरपराहट है, अग्नि में उष्णता है, उसी तरह आत्मा का स्वरूप ज्ञान - दर्शन है। ऐसे स्वभाव के भरोसे परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

* * *

श्लोक १४

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादि कल्पनाः ।

सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा ! हतं जगत् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ :- बहिरात्मा को **(देहेषु)** अनेकों शरीरों में **(आत्माधिया जाताः)** आत्मबुद्धि होने से **(पुत्रभार्यादिकल्पनाः)** पुत्र, पत्नी आदि में अपनेपन की कल्पनाएँ उत्पन्न होतीं हैं, **(ताभिः)** उन कल्पनाओं से **(सम्पत्तिम्)** स्त्री - पुत्रादि की समृद्धि को **(आत्मनः)** अपनी समृद्धि **(मन्यते)** मानते हैं। **(हा ! हतं)** अफसोस है कि **(जगत्)** बहिरात्मा इस तरह नष्ट हो रहे हैं, दुःखी हो रहे हैं।

भावार्थ :- देखो, देह में आत्मबुद्धि होने से स्वदेह को स्वआत्मा माना, परदेह को परआत्मा माना। परदेहों से सम्बन्ध होने मात्र से उन्हें पुत्र, भार्या आदि मानने का भ्रम किया। तथा उनकी समृद्धि को अपनी समृद्धि समझा। इसकारण उनके सुख में अपने को सुखी व उनके दुःख से अपने को दुःखी अनुभव किया। इसतरह यह अज्ञानी जगत बर्बाद हो रहा है।

श्लोक १४ पर प्रवचन

आचार्य खेद प्रगट करते हैं। अरे ! बहिरात्मा, अज्ञानी जगत का व्यर्थ ही, बिना कारण दुखी हो रहा है। सुख के समस्त साधन-कारण स्वयं के पास सदा विद्यमान होने पर भी जगत अपनी भूल से, अपने को जाने बिना अपना घात कर रहा है। यद्यपि प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वभावी है, किन्तु उसे भूलकर, अपने ज्ञानस्वभाव को न जानकर शरीर को आत्मा मानता है, शरीर के सगे-सम्बन्धियों को, स्त्री पुत्रादि परिवार को एवं धनादि को अपना स्वरूप मानता है। उनकी हानि अपनी हानि, उनका लाभ अपना लाभ मानता है। यहाँ तक कि पुत्र में अपनी आकृति उतरी है, उसके नाक, कान, आँख, हाथ-पैर और बुद्धि भी मेरी जैसी है, मेरा अंग-अंग उसमें उतर आया है। परन्तु भाई यह तो जड़-माटी का परिणमन है, उसमें कहाँ

मेरा आत्मा है और कहाँ उसका? वह तो हम सबसे अत्यन्त भिन्न है। *अज्ञानी कहता है कि यह मेरी अर्द्धांगिनी है, सुख-दुःख में काम आती है आदि। तथा ज्ञानी संसार में होते हुए भी स्त्री-पुत्रादि के प्रति एकत्व-ममत्व* नहीं करते। उनकी व्यवहार की भाषा भले ऐसी हो कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे पिता-माता हैं आदि, परन्तु श्रद्धा में सबको अपने से भिन्न मानते हैं।

समयसार के निर्जरा अधिकार में ऐसा कथन आया है कि जगत में 'अकस्मात्' नाम की कोई वस्तु नहीं है। अकस्मात् कुछ होता ही नहीं है। जो होता है वह सब सर्वज्ञ के ज्ञान में अनंतकाल पहले से जाना हुआ है और वस्तु के परिणमन के क्रम में अनादिकाल से नक्की है। अज्ञानी को पता नहीं है, इस कारण उसे हर बात नई-नई सी लगती है तथा सम्भावना के विरुद्ध सब काम अकस्मात् होने लगते हैं।

वह कहता है कि ये जेवर, वस्त्र, कार, बंगला आदि मेरे हैं, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि ये सब तेरे हैं तो इन्हें कभी तुझसे अलग नहीं होना चाहिए। सदा तेरे साथ ही रहने चाहिए। तुझे शरीर में आत्मबुद्धि है; इस कारण तू स्त्री-पुत्रादि को अपना मानता है।

कर्म के उदय के कारण राग नहीं होता। पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि कर्म का विपाक कर्म में है। तेरी उल्टी मान्यता के कारण ही यह सब रागादि की उत्पत्ति तुझमें होती है। जो अपने दोष को कर्म के माथे मढ़ता है, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा अपने ज्ञाता स्वभाव को नहीं समझता है।

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्तस्वरूप निज पद की प्राप्ति के सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। जहाँ निज-पद का ज्ञान हुआ, वहाँ निमित्तादि का भी यथार्थ भान होता ही है। ज्ञानी को निमित्तादि व्यवहार का यथार्थ भान होने से उसका व्यवहार बिगड़ता नहीं है, बल्कि और भी व्यवस्थित हो जाता है। वह निमित्तों व संयोगों के अधीन भी नहीं होता और उनकी सत्ता से इन्कार भी नहीं

करता। उसे अनेकान्त स्वरूप निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-पर्याय आदि सबका यथार्थ भान हो जाता है।

अज्ञानी जीव को अज्ञानभाव के कारण तृष्णा बहुत बढ़ जाती है। वह पुत्र-पुत्री, मकान-गाड़ी-बाड़ी आदि संयोगों में एकत्व-ममत्व करता है। वह ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा है - इस बात को भूल जाता है। वस्त्रादि के त्याग मात्र से अपने को साधु समझने लगता है। अधिक शिष्य हो जाने पर अपने को बड़ा साधु मानने लगता है। माला बढ़िया हो, पिच्छी-कमण्डल बढ़िया हो, शिष्यमंडली अच्छी हो, भक्तों से घिरा रहता हो तो अभिमान करता हैं। यह उसका मिथ्या अभिप्राय है, तृष्णा है। परवस्तु को अपनी मानकर उससे अपना बड़प्पन मानने में लज्जा आनी चाहिए। परिग्रह संज्ञा के बढ़ने में अपना बड़प्पन समझना अज्ञान का ही परिणाम है।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, मेरा बड़प्पन मात्र मेरे इस ज्ञायक-स्वरूप के कारण ही है, अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। बाह्य समृद्धि को अपनी समृद्धि मानकर अहंकार करता है। जिसे अपनी आत्मा की श्रद्धा नहीं है, वह ही ऐसा मानता है। अत: प्रत्येक प्राणी को यह समझना चाहिए कि मेरी तो बस ज्ञानानन्द सम्पदा है, अन्य कोई लौकिक सम्पदा मेरी नहीं है। मेरे काम की भी नहीं है। मेरा उससे किसी प्रकार का कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं, जिसके कारण वह मेरे सुख-दु:ख का कारण बन सके।

यह समाधितन्त्र अधिकार है। समाधि अर्थात् आत्मा का आनन्द। इस दृष्टि से यह आत्मा को सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र होने का अधिकार है। भगवान आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। अज्ञानी ने उसे जानने के लिए अन्तर्मुख दृष्टि नहीं की और शरीर में एवं शरीर से सम्बन्धित परपदार्थों में अहंकार व ममकार नहीं छोड़ा तथा ज्ञान व आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में प्रवेश नहीं किया। अत: आत्मा के वैभव का पता नहीं चला। जिसतरह कोई मकान के बाहरी हिस्से को ही देखा करे तो उसे मकान के अन्दर की समृद्धि का पता नहीं चलता, उसीतरह कोई आत्मा

की बाह्य दान-पुण्य आदि क्रियाओं को ही देखा करे, अन्तर्दृष्टि से आत्मा के अन्तरंग वैभव को न देखे तो उसे आत्मा के वैभव का पता नहीं चलता।

मैंने दान दिया, रुपया-पैसा, अनाज-पानी, वस्त्रादि दिए, ब्रह्मचर्य पाला, तीर्थयात्रा की, विषय का सेवन नहीं किया - इसप्रकार अज्ञानी की दृष्टि देह की क्रिया में ही अटकी रहती है। देहादि की क्रिया में थोड़ा भी निमित्त बने तो अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह सब काम मैंने ही किया है। देह ठीक रहे तो धर्मसाधना अच्छी हो सकती है - इसतरह देह की क्रिया की मगनता में आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द नहीं आ पाता।

मैं अपरिमित ज्ञान व आनन्द की शक्तिवाला हूँ - अज्ञानी को ऐसी प्रतीति नहीं आती। इसकारण इसे देह की क्रिया में ही ममत्व बना रहता है। योगसार शास्त्र में कहा है कि पंडितजनों को तो शास्त्र ही उनका संसार है। अर्थात् शास्त्र ही उनके विचरण करने की दुनिया है। वे शास्त्रों को छोड़कर अन्यत्र जावें ही कहाँ ? परन्तु वर्तमान की स्थिति तो कुछ अन्य ही नजर आती है। उन्हें अन्तर में ज्ञानानन्द का स्वाद आना चाहिए। क्योंकि जिसे बाहर में स्वाद आवेगा, उसे अन्तर के आनन्द का स्वाद नहीं आ सकता।

अज्ञानी छोटी-छोटी बातों में हर्ष-विषाद करता है। घर में नया बर्तन आवे तो हर्षित होता है, एक काँच का गिलास टूट जावे तो खेदखिन्न होता है। शिष्यादि या पुत्रादि यदि आज्ञा में रहें तो हर्ष , न रहें तो विषाद किया करता है। रुचिकर भोजन में प्रसन्नता व अरुचिकर भोजन में नाराजगी प्रगट करता है। इस तरह क्षण-क्षण में रुष्ट-तुष्ट होकर पापास्रव करता रहता है। तथा ज्ञानी को कभी भी बाह्य सामग्री से बड़प्पन महसूस नहीं होता। अज्ञानी शरीर को ही आत्मा जानता-मानता है, अत: यह मेरी स्त्री, यह पुत्र, यह शिष्य आदि मानता रहता है। अपने अन्दर जो निधि है, उससे परिचय न होने से उसमें प्रवेश नहीं करता। तात्पर्य यह है कि बाह्य दृष्टिवाले बाह्य पदार्थों में ही अपनत्व की कल्पना किया करते हैं।

अरे भाई ! मेरी ज्ञानानन्द सम्पत्ति के सिवाय अन्य कोई सम्पत्ति मेरी नहीं है।

स्वयं को या अपने कुटुम्बियों को यदि कोई बड़ी लौकिक पदवी मिले, तो अज्ञानी को अन्दर में उत्साह बढ़ता है। किसी खेल प्रतियोगिता में, भाषण में, लिखने में, परीक्षा में अपना लड़का अव्वल नम्बर (प्रथम पोजीशन) में आ जावे तो अज्ञानी को ऐसा हर्ष होता है मानो कोई अद्भुत् निधि मिल गई हो। अरे भाई ! इसमें तेरा क्या है ? इसमें तू अपने असली आनन्द को खो रहा है, इसमें हर्षित हो-होकर तू सच्चे सुख से दूर हो रहा है। अज्ञानी अनुकूलता में जितना हर्षित होता है, प्रतिकूलता में उतना ही दुःखी होनेवाला है।

आचार्य को जरा-सा साधर्मी वात्सल्य एवं करुणाबुद्धि है। अतः अज्ञानी के अज्ञान पर खेद प्रगट करते हुए उसे सावधान करते हैं कि जो तू इस जगत के बाह्य पदार्थों में बिना कारण हर्ष-विषाद कर रहा है तथा अपने चैतन्यस्वरूप को भूल रहा है, यह अफसोस की बात है। तू स्वरूप को समझ और इस बहिरात्म दृष्टि को छोड़। इस अज्ञानता के कारण ही जीव धोखा खा रहा है। इसप्रकार जगत के अज्ञानी जीव प्रतिपल भावमरण करके अपना संसार बढ़ा रहे हैं।

आत्मा की जाति को जाने बिना यह भूल हो रही है। आत्मा स्वयं एक सत्-चित् व आनन्दमय परम पदार्थ है। बहिर्बुद्धि उस अंतर ज्ञानानन्द की सम्पत्ति की सँभाल नहीं करता। केवल अशुभभाव से बचने के प्रयत्न में धर्म मान बैठा है। परन्तु आत्मभान बिना यह अशुभ भाव से भी नहीं बच सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना शुभाशुभ की भी सही पहचान नहीं हो सकती।

* * *

श्लोक १५

मूलं संसारदुःखस्य देहे स्वात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यावृतेन्द्रियः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ :- (देहे आत्मधीः) देह में आत्मबुद्धि होना ही **(संसारदुःखस्य मूलं)** संसार के दुःख का मूल कारण है। **(ततः एनां त्यक्त्वा)** इसलिए इस शरीर की आत्मबुद्धि को छोड़कर **(बहिः अव्यावृतेन्द्रियः)** बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर **(अन्तः)** अंतरंग में - आत्मा में **(प्रविशेत्)** प्रवेश करो।

भावार्थ :- संसार के क्लेश का मूल कारण शरीर में आत्मबुद्धि करना ही है। इसकारण मुमुक्षु इस दुर्बुद्धि को छोड़कर बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति न करता हुआ अपने अन्दर अर्थात् आत्मा में प्रवेश करे।

तात्पर्य यह है कि संसार के सभी क्लेशों का मूल कारण शरीर को ही आत्मा मान लेना है। इस कारण जो सर्वक्लेशों से छूटना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे शरीर को आत्मा मानने की कल्पना को छोड़कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों का व्यापार न करके अपने शुद्ध अंतस्तत्त्व में उपयोग को लगावें।

श्लोक १५ पर प्रवचन

इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि होना ही संसार के दुःख का मूल कारण है। इस देह के परमाणु मेरे हैं - ऐसी मान्यता तथा अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को नहीं जानने-मानने वाली बुद्धि ही जीव के दुःख का मूल कारण है। जब तक आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप को न माने, तबतक शरीर की क्रिया को अपनी माने बिना नहीं रहता। वह सोचता है कि यदि शरीर की क्रिया मेरी न होती तो मृत्यु के उपरान्त यह शरीर क्यों

नहीं चलता ? अत: वह शरीर को सचेतन ही मानता रहता है। तभी तो कहता है कि मैंने सचित्त हरीकाय सब्जी का त्याग किया है। बाहर में पच्चीस प्रकार की सचित्त-हरी सब्जियाँ मिलतीं हैं, मैंने केवल पाँच हरी सब्जियों को अपने भोजन में रखा है एवं शेष २० को अभयदान दे दिया है। आज अष्टमी है, इसलिए मेरे हरी सब्जी का त्याग है। आज मैं केवल केले ही खाऊँगा आदि। इसप्रकार भी अज्ञानी जीव सचित्त शरीर में जीव की मान्यता रखता है। यद्यपि हरितकाय सचित्त फलादि का त्याग हिंसा के बचाव की दृष्टि से उचित ही है, परन्तु जड़ शरीर को जड़ न जानकर उसे ही जीव जानना-मानना और उसके अन्दर विद्यमान जीव की पहचान न करना तो अज्ञान ही है न ? वास्तव में ऐसे अज्ञानी को भक्ष्याभक्ष्य का भी यथार्थ विवेक नहीं होता। वह तो देखा-देखी व कुल परम्परा से ही ऐसी बातें बनाता है।

भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा है। अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। धर्मी-चक्रवर्ती आदि को भी राग तो होता है, परन्तु वे आत्मा के स्वरूप व स्वामित्व को भली-भाँति पहचानते हैं।

अतः आचार्य कहते हैं कि शरीर में आत्मपने की मिथ्या बुद्धि छोड़कर तथा बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति रोककर अंतरंग आत्मा में ही प्रवेश करो।

प्रश्न :- यहाँ शिष्य पूछता है कि क्या आत्मा बाहर में कहीं चला गया है, जो तुम आत्मा में प्रवेश करने को कह रहे हो ?

उत्तर :- अज्ञानी का उपयोग बाहर में ही भटका करता है। जिस तरह खिलाड़ी लड़के दिनभर घर से बाहर ही अपने यार-दोस्तों के साथ खेला करते हैं, भोजन के समय भी घर नहीं आते, उनकी माँ घर में प्रतीक्षा करती रहती है 'कि अब तक नहीं आया। इसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने निजघर को छोड़कर (आत्मस्वभाव से भ्रष्ट हुआ) बाह्य विषयों में भटका

करता है। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में नहीं आता अर्थात् अपने उपयोग को आत्मा के स्वभाव में नहीं लगाता। वह तो शरीर की स्वस्थता, सुन्दरता, बाहर की अनुकूलता एवं धनादि के संग्रह में ही अपना जीवन सार्थक व सफल समझता है।

बाह्य अनुकूलता में जितना राग होता है, प्रतिकूलता में उतना ही द्वेष होता है। अन्य प्रकार से कहें तो जिसे प्रतिकूलता में जितना अधिक द्वेष होगा, उसे अनुकूलता में उतना ही अधिक राग होगा। जब तक इस जीव की बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक आत्मा के साथ शरीर का संबंध होता रहता है एवं भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं। जब इस जीव का शरीरादि परद्रव्यों में से सर्वथा अंहकार-ममकार छूट जाता है तब किन्हीं भी बाह्य पदार्थों में अहंकार-ममकार नहीं रहता।

* * *

श्लोक १६

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ :- **(अहं)** मैं **(पुरा)** अनादिकाल से **(मत्तः)** आत्मस्वरूप से **(च्युत्वा)** च्युत होकर **(इन्द्रियद्वारैः)** इन्द्रियों द्वारा **(विषयेपु)** विषय में **(पतितः)** पतित हुआ **(ततः)** और **(तान्)** उन विषयों को **(प्रपद्य)** प्राप्त होकर **(तत्त्वतः)** वास्तव में **(मां)** अपने आप को **(अहं इति न वेद)** मैंने आत्मारूप से नहीं जाना, पहिचाना।

भावार्थ :- अंतरात्मा अपनी-अपनी पूर्व बहिरात्म अवस्था के बारे में विचार करता है कि अहो ! मैंने अनादिकाल से आत्मस्वरूप से च्युत रहकर, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहकर और उनमें ही आत्मबुद्धि करके अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं जाना।

जबतक जीव को अपने चैतन्यस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तबतक वह अपने आत्मस्वरूप से च्युत रहकर बाह्य इन्द्रिय-विषयों को सुखदायक और उपकारी मानकर उनसे अति आसक्त रहता है, उनमें आत्मबुद्धि करता है। परन्तु जब उसे अपने निज चेतन और पर अचेतन पदार्थों या इन्द्रिय-विषयों का भेद विज्ञान होता है और अपने निराकुल चिदानंद सुधारस का स्वाद आता है तब उसे बाह्य इन्द्रिय-विषय भले-बुरे नहीं लगते, केवल ज्ञेयरूप भासित होते हैं।

श्लोक १६ पर प्रवचन

'अनादिकाल से मैं स्वयं को भूलकर आत्मा का स्वरूप अन्यथा मानकर बाह्य विषयों में सुखबुद्धि से पतित हुआ।'

देखो, यहाँ ऐसा नहीं कहा कि मैं जड़कर्म तथा शरीर के कारण रखड़ा हूँ (रुला हूँ), परन्तु यह कहा कि मैं स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दमय

ज्ञातास्वभाव को भूलकर इन्द्रिय-विषयों में पतित हुआ हूँ। यह हमारी स्वयं की भूल है, दूसरों की भूल नहीं है।

हे भाई ! वीतरागी देव की कही हुई हित की बात तूने कभी सुनी नहीं। वस्तुतः बात यह है कि कोई भी जीव स्वयं तो पर का कुछ कर नहीं सकता, परन्तु भ्रम से ऐसा मानता है कि मैं इच्छा करूँ तो शरीर चलता है। यदि ऐसा हो तो बीमार स्त्री को निरोगी क्यों नहीं कर लेता ? आत्मा ज्ञानरूप है, वह ज्ञान के अलावा कुछ भी करने में अशक्य होने पर भी 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी नित्य हूँ, उस ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा के आश्रय में सुख है' - यह बात नहीं बैठी, इसलिए परवस्तु में भला-बुरा मानकर परसन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर नहीं आता।

इस जीव के संसार में रखड़ने के दो कारण हैं। एक तो - अन्तर में विद्यमान ज्ञानानन्दस्वभावी अतीन्द्रिय आत्मा में न झुकना तथा इन्द्रिय के विषयों को भला मानकर उन्हीं में अटका रहना। दूसरे - चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा को नहीं जानना और इन्द्रिय के विषयों को उपकारी जानकर उनमें ही अटक जाना। वास्तविक निजस्वरूप की तो आज तक कभी सम्भाल की नहीं, बड़े लोग अपने पीछे जो धन-वैभव छोड़ गये, केवल उसी की संभाल में लगा रहा। तथा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव जो तेरे अन्तर का निधान बता गये हैं, उसको जानने की दरकार नहीं की, जिज्ञासा से उसे जानने का प्रयत्न व परिश्रम नहीं करता। बस, यह तेरी ही भूल है। यदि कर्म तुझे भूल करावे तो उस भूल का मेटना तेरे आधीन नहीं रहता। ऐसी पराधीनता वस्तुस्वरूप में नहीं है। अतः तू अपनी भूल को स्वीकार कर उसे मेटने का प्रयत्न कर।

यदि स्वयं ने भूल की हो तो ही उसे टालकर स्वयं भूलरहित हो सकता है, इसलिए भूल के कर्ता-हर्ता तुम ही स्वयं हो। अपना शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप सदा सुख से भरपूर है, उसको भूलकर शरीर, स्त्री, पुत्रादि एवं धन - धान्यादि धूल में सुख माना है। जो सदा जड़रूप है उसे आत्मा

कभी छूता नहीं; क्योंकि आत्मा तो सदा चैतन्य, आनन्दमय एवं अरूपी है। उसे तो जाना नहीं, पहचाना नहीं और आत्मा को शरीरादि के साथ सम्बन्ध वाला माना। ज्ञानी तो तीनों काल पर से अपनी भिन्नता विचारता है। वह मानता है कि अज्ञानदशा में मैं ही अपनी मिथ्या रुचि से रखड़ा हूँ, कुगुरु के उपदेश से नहीं रखड़ा। ज्ञानी जानता है कि सब अपनी अपनी रुचि से बात मानते हैं। पुत्र अपने पिता की नहीं मानता; यदि कोई बात मानता दिखाई देता है, तो जितनी उसे रुचे उतनी मानता है। अत: इसने मेरा कहा माना - ऐसा मानना भ्रम है। अज्ञानी शरीर को आत्मा मानने के कारण पुण्य-पाप और उनके निमित्तों में ममता करता है। जबतक इस अज्ञानी जीव को अपने चैतन्यस्वरूप का भान नहीं हुआ, तबतक पर को अपना मानता है। प्रथम ही (मैं) पर से जुदा और अपने चैतन्यभाव से एकमेक हूँ - ऐसा जाने तो निर्विकारी स्वभाव का भरोसा आवे।

वस्तु का स्वभाव ही वस्तुत: वस्तु का धर्म है। ज्ञान-श्रद्धा-वीर्य आत्मा के गुण अथवा स्वभाव हैं। स्वभाव, स्वभाववान से अभिन्न है। अत: शरीर-मन-वाणी, स्त्री-पुत्र, धनादि से आत्मा सदा भिन्न है तथा क्षणिक रागादि से भी त्रिकाली चैतन्यस्वभाव भिन्न है। ऐसी अतीन्द्रिय ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा करके जब आत्मा उसमें एकाग्र होता है, तब चिदानन्द अमृतरसमय निराकुल ज्ञानानन्दी सुधारसमय आत्मा में से पर्याय में आनन्द आता है। उस आत्मानंद के आगे पांच इन्द्रियों के विषय कालकूट विष समान अथवा भयंकर सर्प समान मालूम पड़ते हैं। सर्वश्रेष्ठ मधुर भोजन सर्प के विष समान लगते हैं अर्थात् ज्ञानी केवल अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द अमृतस्वरूप के आश्रय से प्रगट हुआ निराकुल आनंदरस का स्वाद चाहता है और उस एक का ही आदर करता है। संसार के अन्य किसी अंश का आदर नहीं करता।

अज्ञानी राग का स्वाद लेता है, और ज्ञानी ज्ञान का स्वाद लेता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समाधि है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसा निर्णय करना चाहिए। पैसा आदि अजीव हैं, पुण्य-पाप विकार हैं। ऐसा

निर्णय करना चाहिए कि 'ये मेरे में नहीं हैं।' इसप्रकार इनको परज्ञेय के समान जानना चाहिए और 'मैं ज्ञानानंदस्वरूप हूँ ' - इसप्रकार स्वज्ञेय में भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य है - ऐसा अन्तर में अवधारण करना चाहिए। पुण्य-पाप दुःखदायक हैं, अजीवादि मेरे से पृथक् हैं - ऐसा निर्णय करने पर संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं। यह आत्मा जानने-देखनेवाला है - इसका निर्णय होने पर आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। जीव ज्ञाता स्वरूप है, पुण्य-पाप के भाव चैतन्यस्वरूप में नहीं। जो स्त्री, कुटुम्ब, स्पर्श, रस, गंध आदि को इन्द्रिय द्वारा लक्ष्य में लेता है, वह वास्तविक तत्त्व ख्याल में नहीं लेता।

भगवान, भगवान की वाणी, यश-प्रतिष्ठा आदि और प्रशंसा वाचक शब्द आदि सब इन्द्रिय विषय हैं। स्वभाव की ओर के झुकाव को छोड़कर विषयों को हितरूप मानने में आत्मज्ञान का अभाव है। विषय तो ज्ञेय हैं, वे हमारे लिए सुन्दर (इष्ट) और असुन्दर (अनिष्ट) नहीं होते, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ - इसप्रकार तत्व का निर्णय करने पर सच्ची बात ख्याल में आती है। ज्ञानी को भी विषयों को भोगने का परिणाम आता है, परन्तु ज्ञानी उस परिणाम को काले नाग जैसा देखते हैं।

अजीव अजीव में हैं, अजीव मुझमें नहीं हैं। स्त्री स्त्री में है, स्त्री का मुझमें सर्वथा अभाव है; क्योंकि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। अतः जो विभाव परिणाम आता है वह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो तीनों काल अपने स्वभावरूप ही हूँ - ऐसा निर्णय होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है और पुण्य-पाप भाव परज्ञेय के समान जानने में आते हैं। अजीव द्रव्य का परिणमन जीव के आधीन नहीं होने पर भी अज्ञानी जीव को उसका परिणमन सुखदायक मालूम पड़ता है। भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभावी हैं। चैतन्य आत्मा का गुण है - ऐसा जानने से भेदभाव प्रगट होता है। आत्मा को जब शरीर और पुण्य-पाप से भिन्न स्वयं का ज्ञान होता है तब चिदानंद का स्वाद आता है।

एकान्ततः राग-द्वेष में अटकने से दुःख का स्वाद आता है तथा जड़ पदार्थ एवं रागद्वेष की अटकन छोड़ने से और मात्र उसके ज्ञाता दृष्टा रहने से चिदानन्द का स्वाद आता है। क्रिया का मैं कर्ता हूँ तथा पुण्य-पाप का अस्तित्व मेरे से है - ऐसी मान्यता वाले जीव को राग-द्वेष का स्वाद आता है। समस्त बाह्य पदार्थ चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा से भिन्न हैं। संयोग की क्रिया आत्मा के आधीन नहीं है। आत्मा तो चिदानन्दस्वरूप है। इसप्रकार जब उपयोग अपने आत्मा में लगता है तब अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है।

ज्ञानी को राग तो होता है लेकिन ज्ञान के स्वाद के सामने राग की मिठास नहीं होती। ज्ञानी का उपयोग जब पर तरफ जाता है तो उसे आकुलता होती है। अस्थिरता में दुःख लगता है, बाह्य इन्द्रियों के विषय सुन्दर नहीं लगते, स्वभाव की सुन्दरता को छोड़कर दूसरा कोई सुन्दर नहीं लगता।

इसप्रकार जो चैतन्य स्वभाव में नमता है वह पुण्य-पाप के भावों में नहीं नमता, क्योंकि आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है - ऐसा निर्णय होने पर राग की तरफ का झुकाव स्वतः छूट जाता है। बाह्य विषयों में आसक्ति होने पर भी उनका आदर नहीं होता , रुचि नहीं होती।

जिसे बाह्य पदार्थ में सुन्दरता लगती है उसे अपना आत्मा सुन्दर नहीं लगता। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि को लग्न (शादी-ब्याह) करने का भाव ही नहीं आता।भाव तो आता है, आ सकता है, पर बहुमान नहीं आता।

देखो, सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के ९६,००० रानियाँ होते हुए भी उसे उनका बहुमान नहीं होता। चक्रवर्ती को देव भी नमस्कार करते हैं, जय-जयकार करते हैं। परन्तु भाई ! ये तो सब बाहर का ठाठ है। मेरा वैभव तो मुझमें है, ये ठाठ तो सब सड़े तिनके के समान हैं।

जिसने अपने चैतन्यस्वभाव का निर्णय - ज्ञान किया, वह विषय-रस को तो काले नाग जैसा देखता है, यह सब सम्यक्त्व की महिमा है। जिस प्रकार मछली पानी में से निकलकर रेत में आवे तो दुःख एवं अग्नि में आवे तो अति दुःख होता है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है - ऐसे भान वाले जीव को शुभराग आने पर दुःख और अशुभ राग आने पर काले विषधर के समान अति दुःख भासित होता है। ऐसे भाव बिना साधु होना ठीक नहीं है।

मिथ्यादृष्टि साधु पर की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। परन्तु भाई ! ज्ञानस्वरूप आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है। लक्ष्मी चंचला है। स्त्री-पुत्रादि ठगों की टोली है। लक्ष्मी एवं लक्ष्मी की तरफ के झुकाव में आत्मा का हित नहीं है। पर की ओर का झुकाव जहर है। इसतरह पुण्य-पाप ज्ञानी को जहर के समान लगते हैं।

बाह्य पदार्थ को कोई अपनी इच्छा के अनुसार परिणमा नहीं सकता और स्वयं परिणमित बाह्य पदार्थों को कोई रोक भी नहीं सकता।

सम्यग्दृष्टि के राग होने पर भी उसकी दृष्टि सदैव आत्मा के ऊपर है और अज्ञानी आत्मा को छोड़कर परपदार्थ की लीनता में आनन्द मानता है। यहाँ बाह्य पर-पदार्थों को छोड़ने - ग्रहण करने या उनमें फेर फार करने की बात नहीं है, क्योंकि जिस पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होनी निश्चित है उसे कौन बदल सकता है? और कौन उसकी रचना कर सकता है ? पर का परिणमन पर के आधीन है। उसे मैंने परिणमाया - ऐसा मानने वाला मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

जब अज्ञानी की परिणति या उपयोग स्त्री-पुत्रादि से हटकर देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति की ओर जाता है, तब वह ऐसा मानने लगता है कि 'मैंने ज्ञेय का त्याग किया और शुभ भाव किये हैं,' परन्तु उसका ऐसा मानना अज्ञान है, क्योंकि जब देव-शास्त्र-गुरु से उपयोग हटकर

स्त्री-पुत्रादि पर जाता है तो वह उस अशुभ क्रिया का भी कर्त्ता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वस्तुतः कोई भी किसी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है।

तत्त्व के निर्णय में यह सब बात आ जाती है। तत्त्व का निर्णय होने पर जीव राग को अहितकर एवं स्वभाव को हितकर जानता है। निमित्तों को एवं राग को भी जीव न मिला सकता है और न टाल ही सकता है।

आरम्भ परिग्रह जीव की पर्याय में होता है पर में नहीं। स्त्री-पुत्रादि का राग अशुभ है एवं देवादि की श्रद्धा का राग शुभ है। भगवाना आत्मा तो कषाय रहित है उसे छोड़कर कषायरूप परिणमन करना ही आरम्भ-परिग्रह है। अकषायस्वरूप की दृष्टि न होने पर जो कषाय होती है, वही आरम्भ है और उसकी जो पकड़ है वह परिग्रह है। परन्तु यह सब आत्मा की पर्याय में होता है, पर के कारण नहीं होता। चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियां एवं ९६ करोड़ पैदल सेना के होते हुए भी वह अल्प परिग्रही है, क्योंकि राग की एकता टूटने पर उसके अल्प आरम्भ है। इससे यह सिद्ध होता है कि आरम्भ परिग्रह का नाम बाहर से नहीं, बल्कि अन्दर से है। अर्थात् अन्तरदृष्टि से देखा जाय तो स्थिरता- अस्थिरता से ही आरम्भ परिग्रह का माप होता है, क्योंकि तंदुलमच्छ की काया (शरीर) अंगुल के असंख्यातवें भाग है, लेकिन अन्तर में कषाय (एवं कषाय की एकता) होने से उसके आरम्भ-परिग्रह बहुत है। इसके विपरीत चक्रवर्ती के बाह्य वैभव अमाप होते हुए भी आरम्भ अल्प है क्योंकि वह अजीव को अजीव के रूप में देखता है (निश्चय करता है)। इसप्रकार आत्मभान होने से वह अपरिग्रही है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को आत्मा का भान होने पर गोष्ठी कथा आदि का रस नहीं रहता, उन्हें राग की रुचि नहीं है। इसलिए धर्मात्मा को संसार की कथा का रस नहीं रहता। यद्यपि वे लड़के-लड़कियों की शादी ब्याह

आदि करते हैं, पर उन्हें इन सब बातों में उत्साह नहीं आता है। धर्मी को तो केवल आत्मा की कथा में रस है, इसलिए उसको शास्त्रप्रवचन एवं कथावार्ता में एक आत्मा ही दिखाई देता है। इसके विपरीत अज्ञानी अजान व्यक्ति को कौतूहल में रस आता है। परन्तु आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी के कौतूहल का नाश हो जाता है, पाँच इन्द्रियों के विषयों का ध्येय छूट जाता है। ज्ञानी को विषयों का राग होने पर भी उसे ज्ञेयाकार नहीं मानता और भगवान आत्मा में प्रेम के सामने शरीर में ममता एवं रुचि नहीं रहती। मैं दूसरों की प्रशंसा करूँ, दूसरे मेरी प्रशंसा करें - इन बातों में ज्ञानी को रंच मात्र भी रस नहीं होता। मन की चिन्ता एवं अस्थिरता घट जाती है। यही तत्त्वज्ञान का फल है। सम्यग्दृष्टि वर्तमान आनंद के सामने पूर्व का खेद करता है कि मैंने जो पर में *मिठास मानी थी* वह *मेरी* मूढ़ता थी एवं पूर्व के कौतूहल में जो प्रेम किया था उसका पश्चाताप करता है। पैसा सुख का कारण है - लड़की की शादी योग्य स्थान में हो तो अच्छा, सम्यग्दृष्टि ऐसे पूर्व मिथ्यात्व भावों का पश्चाताप करता है। यह सब सम्यक् भेदविज्ञान की महिमा है।

* * *

श्लोक १७

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

अन्वयार्थ :- **(एवं)** आगे कहे जाने वाले कथनानुसार **(बहिर्वाचं)** बाह्यार्थ वाचक वचनप्रवृत्ति का त्याग करके **(अन्तः)** अन्तरंग प्रवृत्ति को भी **(अशेषतः त्यजेत्)** सम्पूर्णरूप से त्याग देना चाहिए। **(एषः योगः)** यह समाधि **(समासेन)** संक्षेप रूप में **(परमात्मनः प्रदीपः)** परमात्मस्वरूप की प्रकाशक है।

भावार्थ :- तात्पर्य यह है कि जैसा आगे बताया जायेगा, तदनुसार स्वतंत्र वस्तुस्वरूप की भावना करके बहिरंग व अंतरंग कर्मो का त्याग करके आत्मस्वरूप में ही चित्तनिरोध करे तो परमात्मस्वरूप का दर्शन हो सकता है।

श्लोक १७ पर प्रवचन

अब आचार्य आत्मा को जानने का उपाय कहते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा बाह्य पदार्थ को कहनेवाले वचन की प्रवृत्ति का त्याग करता है एवं ऐसा मानता है कि वचन को मैं कैसे कर सकता हूँ। यह मेरे अधिकार की बात नहीं है। वचन की प्रवृत्ति को छोड़ना - यह तो निमित्त का कथन है। जब आत्मा का ज्ञान श्रद्धान होने पर आत्मा का उपयोग आत्मा में लगता है तब वचन बोलने का राग उत्पन्न ही नहीं होता।

वास्तव में देखा जाय तो वचन प्रवृत्ति उस समय होनी ही नहीं थी, आत्मा ने भाषा को नहीं रोका। धर्मात्मा जब अंतरात्मा का विचार करता है तब वचन की प्रवृत्ति होती ही नहीं और उपयोग के स्वभावसन्मुख होने पर अंतरंग विकल्प स्वतः ही छूट जाते हैं तब अंतरंग विकल्प ज्ञानी ने छोड़े - ऐसा कहते हैं।

आत्मा का उपयोग स्वभावसन्मुख हो - ऐसा निर्णय करना चाहिए। आत्मा के ऊपर चैतन्य का ट्रेडमार्क है। आत्मा जानने-देखनेवाला है - ऐसा निश्चय होने पर विकल्प नहीं उठता। बाह्याभ्यन्तर जल्प छूट जाते हैं, क्योंकि चिंता का निरोध वह समाधि है और उस चिंता का निरोध स्वभाव के भान होने पर होता है। पर से एवं राग से छूटकर जब स्वभाव में एकत्व होता है तभी आत्मा शुद्ध होता है। यह स्वभावसन्मुख होने का सच्चा उपाय है। अनादिकाल से जो पर का लक्ष्य है उसे निर्णय करके स्व तरफ लाना सच्ची क्रिया है। अर्थात् जो उपयोग तत्त्व के संदेह में था उसे निःसंदेह आत्मसन्मुख करना ही सच्ची क्रिया है। वाणी एवं विकल्पों से हटकर स्वभाव में ठहरे (जुड़े) वह योगी है, वही पूर्ण परमात्म पद को प्राप्त करता है। आत्मा क्या है? ज्ञेय क्या हैं? इन्द्रियाँ क्या हैं? इनके अथवा सात तत्त्व के निर्णय बिना यह जीव योगी नहीं होता, मात्र बाह्य जंगल में जाने से जीव योगी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा बाह्य संयोग में लगा हुआ होने पर भी श्रद्धा से योगी है।

देखो! इस १७वीं गाथा में पराश्रय छोड़कर आत्मा को जानने का उपाय बताया है। बाद में १८वीं गाथा में आत्मा का धर्म कैसे प्रकट होता है यह बतायेंगे। स्त्री-पुत्र, धन-धान्य, देव-गुरु-शास्त्र बगैरह परद्रव्य हैं, उनमें मैं नहीं। धन-शरीरादि परद्रव्य के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। व्रत-तप-जाप के शुभराग से भी धर्म नहीं होता। धर्मी जीवों को इन सब बातों का ज्ञान होते हुए भी विशेष निर्मलता प्रगट करने के लिए ध्यान आदि का अभ्यास करना आवश्यक है।

सम्यग्ज्ञानी की जो स्वरूप में लीनता होती है, वहीं समाधि है।

शरीर मन वाणी जड़ हैं, वाणी स्थूल भाषा है, इनका लक्ष्य छोड़कर अन्तर्मुखी हो एक ज्ञानानंदस्वरूप में एकाग्र होना तथा अंतरंग में जो सूक्ष्म भाषा रूप मनोजल्प एवं शुभाशुभ विकल्प उठते हैं वह भी मैं नहीं हूँ

और उनसे मेरा कुछ भी लाभ नही है— ऐसा प्रतीति पूर्वक मैं भक्ति करूँ, शास्त्र वाचूँ, जाप करूँ, ध्यान करूँ इत्यादि विकल्पों का अवलम्बन छोड़कर इन्द्रियों के शब्दादि विषयों की ओर से भी उपयोग को हटाकर एकाकार निर्मलानंद ज्ञानानन्द स्वरूप में लीनता करना ही समाधि है। ऐसी स्वसन्मुखता रूप समाधि से ही शुद्धात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। लोक जिसे समाधि मानता है, वह सच्ची समाधि नहीं है। अन्दर मन सम्बन्धी शुभाशुभ इच्छा को छोड़कर ज्ञानमात्र स्वरूप में सावधानी पूर्वक निश्चल रहना ही समाधि है।

अंतर में (स्थित) सहज स्वभाव को ध्येय बनाकर उसमें एकमेक (तन्मय) होने से विकल्प नहीं उठते। सर्वप्रथम 'जैसे ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा हैं वैसा ही मैं हूँ'— ऐसा निर्णय करना चाहिये। आजतक जितने परमात्मा हुए हैं वे सब पराश्रय रहित स्वद्रव्य के अवलम्बन से ही हुए हैं। वचन का विकल्प होने पर भी उसका आश्रय करने योग्य नहीं है, बल्कि राग के समय भी राग रहित निर्मल स्वभाव में स्थिर हो जाना योग्य है। धर्मी ऐसी भावना निरन्तर भाता है। भेदविज्ञान अथवा अन्तर एकाग्रता के लिए पुण्य पाप भाव साधन नहीं है, क्योंकि शरीर मन वाणी जड़ हैं, उनमें सहाय करने की चैतन्य की ताकत नहीं है। आत्मा स्वयं ही षट्कारक शक्ति से स्वतन्त्ररूप से परिणमन करने में प्रभु है, परन्तु अज्ञानी उक्त बात को स्वीकार नहीं करता। विकल्प हटाने नहीं पड़ते, बल्कि शुभाशुभ रागरहित एकरूप शुद्धात्मद्रव्य में तन्मय होने से बाह्य वचन एवं अभ्यंतर विकल्प टूटते हैं। अर्थात् बाह्यान्तर विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। इस प्रकार यह उपाय ही परमात्मस्वरूप को प्रकाशित करने वाला दीपक कहा जाता है।

सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि तीनों काल में सुख का मार्ग तो यही है, दूसरा नहीं।

आत्माने अनन्तकाल से स्वरूप से बाहर ही भ्रमण किया है। यह खाऊँ, यह न खाऊँ, इसप्रकार बोलूँ या मौन रहूँ आदि अनेक प्रकार के विकल्प करके आत्मा बाह्य प्रवृत्ति में अटका रहा। यदि आत्मा हेय-उपादेय का स्वरूप जानकर स्वद्रव्य में लाभ मानकर पंचेन्द्रियों की सन्मुखता छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख हो तो अन्तर्मुखदृष्टि एवं स्थिरता से श्रद्धा-ज्ञान एवं आत्मिक शान्ति प्रकट होती है। दूसरे किसी भी उपाय से आत्मकार्य सिद्ध नहीं होता। जाप करूँगा तो शान्ति होगी आदि सारी बातें खोटी हैं। भाई ! यह पुण्य-पाप का भाव आत्मा का प्रकाशक नहीं है; क्योंकि यह तो अंधकार है।

प्रभु ! एकबार सत्य निर्णय तो कर ! हाँ तो भर ! भाई ! अन्य प्रकार से सुखशान्ति की प्राप्ति नहीं होती। यह सम्यग्दर्शनमय समाधि का अधिकार है। देखो, मरण समय शारीरिक साता का अनुभव हो वह आत्मा की समाधि नहीं है। समाधि के लिए श्वास रोकने आदि की बात भी जैन दर्शन में नहीं कही।जैन दर्शन में तो सर्वप्रथम चैतन्य के एकत्व को जानकर उसमें स्थिरता करने का अभ्यास (प्रयत्न) ही सच्ची समाधि है। बाकी तो मरते समय अज्ञानी जीव श्वास के सही न चलने, कफ के प्रकोप हो जाने आदि की वेदना में भयभीत हो जाता है। ऐसे बेभान होकर अज्ञानी ने अनन्त बार बालमरण किया है। कोई वैद्य डॉक्टर मृत्यु से बचा नहीं सकता। हार्टफैल हो जाता है, परन्तु भाई ! शरीर आत्मा की वस्तु कहाँ ? शरीर की श्वास आदि जीव की इच्छा के आधीन नहीं है। इसलिए प्रथम ही शरीर की ममता को छोड़ ! शरीर का अस्तित्व आत्मा के कारण नहीं है। तथा आत्मा का अस्तित्व शरीर के कारण नहीं है। शरीर में सुख-दुःख का वेदन नहीं होता। आत्मा ही अकेला सुख-दुःख रूप से परिणमन करता है और अपने अज्ञान से पर में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है।

प्रश्न :- मृत्यु नजदीक आने पर शान्ति तो रखनी चाहिए न ?

समाधान :- जो जीव अभी भेदविज्ञान करके निर्मल ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा का निर्णय नहीं करता, चैतन्यस्वभाव परम शांत और निराकुल आनन्दस्वरूप है, जो उसमें रुचिकर शान्ति प्रकट नहीं करता, वह मरते समय शान्ति कैसे प्राप्त करेगा ?

देखो ! राजा के शरीर में यदि ताव (बुखार) आये तो ऐसा नहीं कहते कि आपको ताव आया है, बल्कि ऐसा कहते हैं कि हे राजन् ! हे अन्नदाता ! क्या आपके दुश्मन को बुखार आया है? चिकित्सक को बुलाऊँ ? उसीप्रकार वास्तव में अपने शरीर (दुश्मन) की अवस्था जैसी होनी है वैसी ही होती है। परन्तु आत्मा तो उससे भिन्न है, यह बात कौन सुने, कौन माने ? आत्मा तो एकसमय में पूर्ण ज्ञानघन है। उसकी रुचि करके स्वसन्मुख ज्ञान और लीनता करे तो सम्यग्दर्शन और शान्ति उत्पन्न होती है। ये सम्यग्दर्शन और शान्ति प्रथम ही ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि जो आत्मा का स्वरूप है वह ही पर्याय में प्रगट हो सकता है। आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है, जाननेवाला है, करने वाला नहीं। इसलिए प्रथम ही उस आत्मा को पर से जुदा जानकर निरन्तर भेदविज्ञान की भावना करनी चाहिए।

यदि जीव पहले से ही निर्णय कर ले कि यह आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता, मात्र जाननेवाला है, प्रत्येक आत्मा स्व - पर का मात्र ज्ञाता है, कर्त्ता नहीं; तब सच्ची शांति रहती है। आत्मा ज्ञानानन्द परमात्मा के समान है, उसके आश्रय से शांति और समाधान होता है, दूसरे के आधार से नहीं।

आत्मा तीनों काल शरीर, वाणी और पर से जुदा ही है। आत्मा अनन्त परपदार्थों से जुदा ही है। देव गुरु का आत्मा भी तेरे लिए शरण

नहीं, निश्चय से तू स्वयं ही अपने लिये शरणरूप है, परन्तु व्यवहार में *निमित्त के उपचार और विनय से* देवादि शरणरूप कहे जाते हैं।

वास्तव में जीव के लिए स्वसम्वेदन रूप समाधि ही हितकर है। शरीर-मन-वाणी के अवलम्बन रहित सुन्दर आत्मा के अवलम्बनरूप जो शान्ति है वह ही जन्म-मरणादि आताप को हरनेवाली परम औषधि है। बाह्य में पुण्योदय होय तो औषधि मिले, परन्तु वह आत्मा को (मरण से) बचा नहीं सकती। यहाँ तक कि इन्द्रादि तक सहायक हों परन्तु मरण से बचा नहीं सकते। एक द्रव्य अपने से भिन्न दूजे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। अरे ! स्वयं देव और उनका राजा इन्द्र भी आयु पूर्ण होने पर मरणदशा को प्राप्त होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं वे बहुत काल तो तत्त्वविचार और जिनेन्द्रदेव की पूजा भक्ति धर्मश्रवण धर्मचर्चा में बिताते हैं, बाद में आयु पूर्ण होने के पहले ही उन्हें ज्ञान हो जाता है।

इन्द्र मरणकाल में जिनप्रतिमाजी के चरणों में नमस्कार कर भेदज्ञान में सावधानीपूर्वक भक्ति से नमस्कार मंत्र बोलता - बोलता देह छोड़ता है। जिस प्रकार बादल बिखर जाते हैं, उसीप्रकार शरीर के परमाणु उड़ जाते हैं। इन्द्र साष्टांग नमस्कार पूर्वक भगवान के चरण कमल में हाथ रखकर नमस्कार करता - करता देह छोड़ता है। वहाँ से चयकर मनुष्य होता है। यदि ज्ञानी हो तो अपनी अधूरी साधना पूरी करके मोक्ष जाता है। कोई उसी भव से, कोई एकावतारी होकर, तथा कोई कुछ भव धारण कर मोक्ष जाता है। इसलिए स्वसन्मुख ज्ञान की एकतारूप समाधि का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

वास्तव में स्वसन्मुखता रूप स्वानुभव से ही भेदविज्ञान की सिद्धि होती है, प्राप्ति होती है। और वह भेदविज्ञान ही जन्म-मरणादि रोग से, रागादि रोग से बचने का अमोघ (अद्वितीय) उपाय है।

वचनामृत वीतराग का, परमशांत रस मूल।
औषध जो भवरोग का कायर को प्रतिकूल॥

देखो ! सर्वज्ञ का परमहित रूप उपदेश परम अमृत है, आत्मा शरीर का कुछ भी नहीं कर सकता, वाणी बोल नहीं सकता, शरीर को अनुकूल नहीं रख सकता। यह बात देह में आत्मबुद्धिवाले को प्रतिकूल लगती है। अज्ञानी को सत्य बात सुनने में आये तो रुचती नहीं और कहता है कि यह तो निश्चय की बात है और हम तो व्यवहारी हैं, इसलिए हम से तो निश्चय नहीं हो सकता। अज्ञानी ऐसा कहकर सत्य का अनादर करता है।

* * *

श्लोक १८

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन् ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ :- (मया यत रूपं दृश्यते) मेरे द्वारा जो शरीरादि रूपी पदार्थ दिखाइ देते हैं वे **(तत् सर्वथा न जानाति)** अचेतन होने से कुछ जानते नहीं हैं **(तथा) (जानत् रूपं न दृश्यते)** जो जाननेवाला चेतन आत्मा है, वह अरूपी होने से मुझे दिखाई नहीं देता **(ततः अहं केन् सह ब्रवीमि)** तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ ?

श्लोक १८ पर प्रवचन

इन्द्रियों के द्वारा मुझे जो कुछ दिखाई देता है, वे सब तो रूपी पदार्थ जड़ हैं, अचेतन हैं, इसकारण वे तो कुछ जानते नहीं हैं और जो अन्य चेतन पदार्थ हैं, वे इन इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं हैं, तो फिर मैं किसके साथ बातचीत करूँ ? किससे बोलूँ, कैसे बोलूँ ? अतः वार्तालाप करने का विकल्प ही व्यर्थ है। यद्यपि आत्मा द्वारा तो वाणी बोली ही नहीं जा सकती, तथापि भूमिकानुसार बोलने के विकल्प उठते हैं, अतः ज्ञानी उन विकल्पों को तोड़कर अन्तरोन्मुख वृत्ति द्वारा निश्चल होकर स्वसंवेदन करने का प्रयत्न करता है।

इसके विपरीत अज्ञानी तो ऐसा मानता है कि "मैं बोल सकता हूँ और दूसरे (जीवों) को उपदेश देने से स्व-पर को लाभ होता है।" परन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है। पर से हानि-लाभ या पुण्य-पाप नहीं होता। स्वयं शुभराग रूप परिणमित हो तो पुण्य होता है और अशुभभाव रूप परिणमित हो तो पाप होता है। वाणी से तो आत्मा को लाभ होता ही नहीं, परन्तु वाणी संबंधी शुभराग से भी धर्म नहीं होता। अज्ञानी को यह भ्रम होता है कि किसी के आशीर्वाद से आत्मा का कल्याण होता है। आशीर्वाद से धनादि मिल जायेगा - ऐसी आस्था अज्ञानी के होती

है। सम्यग्दृष्टि की बात ही जुदी है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने लायक भद्र मिथ्यादृष्टि जीव भी किसी कुदेव को नमन नहीं करता।

अज्ञानी तो क्षेत्रपाल, पद्मावती एवं अन्य देवी-दिहाड़ी को मानता-पूजता है। अत: उसके तो पुण्य का भी ठिकाना नहीं है। धर्मी-ज्ञानी जीव तो शुभ राग को भी जहर मानते हैं और सर्व विकल्पों से मुक्ति चाहते हैं। आचार्यदेव भावलिंगी संत हैं। वे रागादि विकल्पों को तोड़ने का उपाय कहते हैं। (जीव) स्वभाव से बाह्य वाणी के जल्प से और आभ्यंतर राग से रहित होता है।

ज्ञानी विचारता है कि "चक्षु द्वारा तो शरीरादि जड़ अचेतन दिखाई देता है फिर मैं किसको शिक्षा दूँ (उपदेश दूँ) और किसके साथ वार्ता करूँ? अर्थात् (मुझे) तो स्वसन्मुखता पूर्वक ज्ञानानन्दरूप स्वसंवेदन में ही रहना ठीक है। इसी में मेरा हित है। शेष तो सब विकल्प हैं। स्वसंवेदन में स्थिर रहने में ही सार है।"

जिनके (इन्द्रियों) द्वारा जड़ वस्तु जानने में आती है, उनके द्वारा चेतन वस्तु जानने में नहीं आ सकती। आत्मा परजीवों के द्वारा और इन्द्रियों के द्वारा जानने में आये - ऐसा नहीं है तथा कोई भी दूसरों के आत्मा को इन्द्रियज्ञान से नहीं जान सकता। आत्मा स्वसन्मुख दृष्टि द्वारा स्वसंवेदन से जानने में आता है। जीव यदि ऐसा स्वसन्मुख होने का प्रयत्न करें तो स्वयं को प्राप्त कर सकते हैं।

ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि "परजीवादि के साथ हमारा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। संसार में भी जिसके पास ज्ञान (विवेक) हो, उसी के साथ वार्तालाप करना योग्य है। बाहर में तो केवल शरीर ही दिखाई देता है, उसके साथ क्या वार्तालाप करूँ? और परजीव तो अंतर्दृष्टिगम्य अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप हैं, (अत:) वे तो अपनी स्वयं की योग्यता से ही समझ सकते हैं। से स्वयं इन्द्रिय द्वारा अपने आत्मा को नहीं जान सकते। तथा मेरे वचन तो परजीव को समझाने में निमित्त भी नहीं हैं। देखो!

जब उसकी इन्द्रियाँ ही उसके ज्ञान में कारण नहीं, तो मैं दूसरे जीवों को समझा सकूँ - ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है ?"

देखो, यहाँ निमित्त-उपादान की स्वतन्त्रता बताकर निमित्ताधीन दृष्टि को उड़ाया है। कोई (जीव) समझता है, तो वह अपने उपादान की तैयारी से ही समझता है। जब जीव यथार्थ निर्णय करके स्वसन्मुख होता है तभी समझता है, क्योंकि उसका आत्मा उसके ज्ञान से ही जानने में आता है - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। इन्द्रियाँ आत्मा को नहीं जानतीं। ज्ञानी तो केवल अपने (स्वयं के) आत्मा को ही जान सकते हैं। जड़ और चेतन की सदा स्वतंत्रता है।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि "मैं दूसरों को उपदेश दूँ तो ठीक रहेगा। फालतू बैठे रहने में अच्छा नहीं लगता।" पर यहाँ तो कहते हैं कि सर्वत्र आत्मा अकेला (ही) है, उसे कोई (अन्य पदार्थ) साधक-बाधक नहीं हो सकता। अज्ञानी स्वयं को भूलकर कल्पना में दूसरे (पदार्थों) को निमित्त बनाता है। और (पर के ऊपर) आरोप (दोषारोपण) करके उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानता है। मैं दूसरों को समझा सकूँ - यह अशक्य है। ऐसा कहकर आचार्यदेव ने निमित्त को अत्यन्त गौण कर दिया है। वहाँ कहा है कि निमित्त से समझते नहीं हैं। स्वयं समझे तब ही दूसरे को ज्ञान करने में निमित्त कहा जाता है।

भाई ! निमित्त तो मात्र जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं। दूसरा जीव समझे तो अच्छा है, अधिक शास्त्र हों तो धर्म का बहुत प्रचार हो - ज्ञानी को ऐसे विकल्प तो आते हैं, परन्तु उन विकल्पों से परजीवों का कुछ लाभ हो - ऐसा नहीं है। तीर्थंकर नामकर्म के बंध से भी अपने आत्मा को लाभ नहीं। यह परमपूज्य देव हैं - ऐसा शुभराग आवे, उससे भी आत्मा को लाभ नहीं। देखो ! अज्ञानी को ऐसी सत्य बात भी नहीं रुचती।

प्रश्न - क्या तीर्थंकर और उनकी वाणी आत्मा के लिए उपकारी नहीं हैं ?

समाधान - जब आत्मा स्वयं मिथ्यात्व छोड़कर बलपूर्वक स्वरूप का यथार्थ निर्णय करे तब तीर्थंकरादि व्यवहार से उपकारी कहे जाते हैं। पर से लाभ-हानि नहीं हो सकता। निज आत्मा के आश्रय से ही लाभ मानकर जब जीव स्वभाव-सन्मुख होता है तब व्यवहार से दूसरे द्रव्यों (निमित्तों) को उपकारी कहा जाता है।

* * *

श्लोक १९

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं, यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे, यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥

अन्वयार्थ :- (परै अहं प्रतिपाद्यः) अन्य के द्वारा मैं कुछ सीखने योग्य हूँ अर्थात् अन्य उपाध्यायादि मुझे कुछ सिखाते हैं अथवा **(अहं परान प्रतिपादये)** मैं किसी अन्य को कुँछ सिखाता हूँ या सिखा सकता हूँ - (यदि मैं ऐसा विकल्प करता हूँ) **(तत् मे उन्मत्तचेष्टितं)** तो वह मेरी पागलपन की चेष्टा है। **(यत् अहं निर्विकल्पकः)** क्योंकि मैं तो निर्विकल्पक हूँ अर्थात् वचन विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

श्लोक १९ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य कहते हैं कि मैं शिष्यादि को समझाता हूँ या उपाध्याय आदि मुझे समझाते हैं, ऐसा मानना पागलपन है ; क्योंकि आत्मा वचन विकल्पों से अग्राह्य है। ये विकल्प तो रागभाव हैं। चारित्रमोह जनित राग आत्मा का विकारीभाव है। राग में आत्मा को समझाने की योग्यता नहीं है। मैं मुझसे ही समझ सकता हूँ, दूसरी वस्तु तो निमित्तमात्र है। यही समाधि का स्वरूप है। मैं दूसरे से और दूसरा मुझसे समझ सकता है - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। स्वयं स्वयं से समझे तो वाणी निमित्त कहलाती है, क्योंकि जो प्रतिपादन करता है वह भेद से करता है और मैं तो अभेदस्वरूप हूँ। 'आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करता हुआ' - यहाँ एक आत्मा ही तीनपने को प्राप्त हुआ - ऐसे भेद से समझाया है। परन्तु आत्मा तो भेदरूप नहीं है, वह तो अभेद-अखण्ड एकरूप ही है। मैं स्वरूप से एक हूँ, विकल्पों से (मेरा स्वरूप) नहीं समझा जा सकता, ज्ञान से ही समझा जा सकता है। जो समझने/समझाने का राग होता है, वह उन्मत्त चेष्टा है। अज्ञानी जीव शुभ राग में संवर-निजरा मानते हैं; पर भाई ! वह भूल है, क्योंकि शरीर शरीर के कारण एवं आत्मा आत्मा के कारण है। आत्मा ज्ञाता है। अज्ञानी

आत्मा के स्वरूप को यथार्थ न जानकर अभिमान करता है कि "पर से मैं समझूँ और राग से परजीव को समझाऊँ"; परन्तु यह सब उम्माद है। राग को लाभदायक मानना बड़ा पागलपन है। वास्तव में आत्मा समस्त वचन विकल्प से अग्राह्य है, ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्रोध करने से घर के लोग सुधर जायेंगे - ऐसा नहीं है। ऐसा न मानकर उसने क्रोध को करणीय माना। इसीकारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि घर में कुत्ते आदि रखने चाहिएँ। स्वयं का चैतन्य आत्मा स्वयं के ज्ञान से ख्याल में आये - ऐसा है। व्यवहार से अपना और पर का लाभ होता है - ऐसा मानना यथार्थ नहीं है।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो भगवान उपदेश किसलिए देते हैं ? मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि मिथ्यादृष्टी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना। यही उत्तम उपकार है। श्री तीर्थंकर-गणधरादि भी ऐसा ही उपाय (उपकार) करते हैं। इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

समाधान - भगवान का उपदेश अपनी तत्समय की योग्यता से सहज निकलता है। उन्हें उपदेश देने का विकल्प नहीं होता; क्योंकि वे अब विकल्प रहित वीतरागी हो गये हैं। हाँ, छद्मस्थ गुरुओं को विकल्प होता है, इसकारण ऐसा कहा है। यहाँ तो यह बताना है कि विकल्प निरर्थक हैं। छद्मस्थ जीवों को राग है और यदि पूर्व का संस्कार हो तो ऐसा विचार भी आता है कि अमुक व्यक्ति तत्त्व की बात समझ जावे तो अच्छा है। परन्तु उस राग या विकल्प से वह जीव समझ ही जायेगा या मैं समझा ही दूँगा - ऐसा बिल्कुल नहीं है, क्योंकि राग में व वाणी में समझाने की योग्यता नहीं है।

यह परसन्मुखता छोड़कर स्वभावसन्मुख दृष्टि करने की बात है। यद्यपि शास्त्रों में प्रायश्चित आदि देने का कथन आता है, उपदेश देने की बात भी आती है। पर शास्त्रों में जिन नाना नयों की अपेक्षा से कथन

होता है, उस अपेक्षा को समझ लेना चाहिए। आचार्य देव यहाँ तो कह रहे हैं कि तुझे जो पर को समझाने या पर से समझने का राग आता है, वह तेरा पागलपन है। यद्यपि भूमिका के अनुसार अस्थिरता के कारण ऐसा राग व विकल्प आता है, परन्तु उसे जहर जानो। केवल स्वभाव सन्मुख होना ही अमृत है। जब जगत के साथ का मेल छूटे तब सर्वज्ञ के साथ मेल बैठ सकता है। जगत के समक्ष सच्चा अभिप्राय प्रगट हो और वह विरोध न करे तो यह उसका धन्य भाग है। जगत में अधिकांश तो सत्य के विरुद्ध ही हैं, अन्यथा वे संसार में कैसे रहते ?

मोक्ष मार्ग व सत्य को स्वीकार करनेवाले तो जगत में थोड़े ही होते हैं। छठवें गुणस्थान के मुनि को अल्पराग है। उनके उपदेशादि के राग को भी प्रमत्त (उन्मत्त) कहते हैं, पागल जैसी चेष्टा कहते हैं, क्योंकि वस्तु वचन-विकल्पों से ग्राह्य नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय प्रभु है। वह इन्द्रियों व राग से पकड़ में नहीं आता।

आत्मा ज्ञान व आनन्द सहित है। ऐसी स्वभावदृष्टि करके स्थिर रहना ही आचरण है। बीच-बीच में जो रागादि आता है, वह आत्मा का आचरण नहीं है। मैं राजा हूँ या रंक हूँ, दीन हूँ या धनी हूँ, गुरु हूँ या शिष्य हूँ - ऐसे अनेक विकल्पों से आत्मा का वास्तविक स्वरूप पकड़ में नहीं आता। अतः विकल्पों का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि आत्मा वचन विकल्पों से ग्राह्य नहीं है। मैं तो आत्मज्ञान से ग्राह्य हूँ। आत्मा का स्वरूप निर्विकल्प चैतन्य ज्योतिमय है। जो आत्मा का है वह कभी आत्मा से भिन्न नहीं होता और जो भिन्न है वह कभी मिलता नहीं है। ऐसा ही आत्मा का स्वरूप है।

* * *

श्लोक २०

यदग्राह्यं न गृहणाति, गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ :- (यदग्राह्यं न गृहणाति) जो कर्मोदय के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न हुए क्रोधादि अग्राह्य भाव हैं, उन्हें शुद्धात्मा ग्रहण नहीं करता। **(गृहीतं नापि मुंचित)** तथा जो ज्ञानादि गुण आत्मा ने अनादि से ग्रहण कर रखे हैं, उन्हें कभी छोड़ता नहीं है। **(जानाति सर्वथा सर्वं)** और जो सम्पूर्ण पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से - सर्वप्रकार से जानता है **(तत् स्व संवेद्यं)** वह अपने अनुभव में आनेवाला चैतन्य द्रव्य **(अहम् अस्मि)** स्वयं मैं ही हूँ।

श्लोक २० पर प्रवचन

जो स्वभाव को ग्रहण करता है तथा विकार को छोड़ता है, वह सम्यग्दृष्टि है। धर्मी की दृष्टि कहाँ है? तथा दृष्टि का विषयभूत आत्मा कैसा है? एवं सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को कैसा मानता है? - इन प्रश्नों के संदर्भ में उत्तर देते हुए कहा गया है कि आत्मा शरीर, मन, वाणी को ग्रहण नहीं कर सकता। पुण्य-पाप के भावों को आत्मा ग्रहण नहीं करता। ऐसे ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा में दृष्टि करना अन्तरात्मापना है। आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञान-दर्शन की मूर्ति है, शुद्ध चैतन्य-स्वभाव है, ज्ञानी उस आत्मा की रुचि करते हैं। जिसे पुण्य-पाप के भावों में रुचि है, उसे आत्मा की यथार्थ रुचि नहीं है। शरीर, मन व वाणी तो रूपी, मूर्त व अजीव हैं। आत्मा उन्हें ग्रहण नहीं करता। वे पृथक पदार्थ हैं। आत्मा की विकारी अवस्था में पुण्य-पाप शुभाशुभ भाव होते हैं; उनकी रुचि करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा ज्ञान व आनन्दस्वरूप है, जो पुण्य-पाप को ग्रहण करता है, वह आत्मा नहीं है। पुण्य-पाप क्षणिक विकार हैं। विकार को ग्रहण करे तो आत्मा आत्मा नहीं रहता।

भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं शान्ति का पिण्ड है। इसे आत्मा ने अनादि से ग्रहण कर रखा है, अतः इसे छोड़ता नहीं है तथा पुण्य-पाप को ग्रहण नहीं करता - ऐसे आत्मा की जो श्रद्धा करता है, वह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञान से आत्मा का वेदन करता है तथा शरीर-मन-वाणी एवं पुण्य-पाप को केवल जानता है। आत्मा अनन्त सर्वज्ञ स्वभावी, पूर्ण दर्शनस्वभावी, पूर्ण चारित्रस्वभावी, पूर्ण शान्तस्वभावी है। वह अपने गुणों को नहीं छोड़ता है, विकार को अपना स्व नहीं मानता है। जो सम्पूर्ण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानता है, वह अनुभवगम्य आत्मा ही मैं हूँ। मैं ज्ञान से ज्ञान को जानता हूँ। ज्ञान से ज्ञान का अनुभव करता हूँ।

प्रश्न :- ऐसा अनुभव व ज्ञान करने से धर्म कैसे हो जाता है?

समाधान :- अरे भाई ! कोरा दया पालन या व्रतादि कर लेना धर्म नहीं है। अपने-पराये के भेदज्ञान बिना धर्म नहीं होता। तेरी पर्याय में जो दया-दानादि के भाव होते हैं, वे पुण्य हैं। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव पाप हैं। उन्हें अपना मानना अधर्म है। तथा उनसे भेद विज्ञान करके उनसे भिन्न, मात्र शुद्ध चैतन्य तत्त्व को ही निज आत्मा जानना-मानना एवं उसी में जमना-रमना धर्म है। ऐसे सम्यग्दर्शन के भान बिना व्रत-तप आदि सब निष्फल हैं। मैं निमित्त, शरीर, मन, वाणी से नहीं जान सकता। इसप्रकार जो आत्मा की एवं पर व पर्याय की श्रद्धा करता है, उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

जब तक अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य तथा क्षायिक समकित प्रगट नहीं हुए, तब तक पर्याय में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि पुरुष अपनत्वरूप से ग्रहण नहीं करता। जब तक पर्याय में पूर्ण विकास नहीं हुआ हो तब तक पुण्य-पाप के भाव

होते तो हैं, तथापि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा उन्हें ग्रहण नहीं करता। विकार अग्राह्य है; आत्मा उसे स्वरूपपने से नहीं स्वीकारता। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-पाप के भाव को अपना मानता व जानता है। ज्ञानी की दृष्टि में वे सब अग्राह्य हैं। आत्मा एक परमाणु का भी ग्रहण-त्याग नहीं करता। ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है। सब वस्तुएं स्वयंसिद्ध हैं, उनका कोई बनाने-बिगाड़ने वाला नहीं है। आत्मा भी किसी का कर्ता-हर्ता व धर्ता नहीं है, पुण्य-पाप के विकार को ग्रहण नहीं करता तथा अपने स्वरूप को छोड़ता नहीं है। मैं तो ज्ञान-दर्शन-आनन्द का वेदन करनेवाला हूँ, पुण्य-पाप का वेदन करनेवाला नहीं। सभी पदार्थों को जानने-देखनेवाला हूँ। ऐसी श्रद्धा करने से अन्तरात्मा होता है।

इसप्रकार के आत्मज्ञान होने के पूर्व मेरी ऐसी चेष्टा थी - ऐसा अन्तरात्मा जीव विचार करता है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। शरीर-मन-वाणी अजीव हैं; पुण्य-पाप आस्रव तत्त्व हैं। मैंने विकार का ग्रहण कभी नहीं किया व स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है - ऐसा जाननेवाले अन्तरात्मा हैं। इससे विपरीत मान्यतावाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हैं।

* * *

श्लोक २१

उत्पन्न पुरुष भ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्ते चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात्॥ २१ ॥

अन्वयार्थ :- **(स्थाणौ)** ठूँठ में **(उत्पन्न पुरुष भ्रान्तेः)** उत्पन्न पुरुष की भ्रान्ति से **(यद्वत्)** जैसी **(विचेष्टितम्)** विपरीत चेष्टा होती है **(तद्वत्)** उसी प्रकार **(देहादिषु)** शरीरादिक में **(आत्मविभ्रमात्)** आत्मबुद्धि उत्पन्न होने से **(पूर्वं)** पहले **(मेचेष्टितम्)** मेरी चेष्टा हुआ करती थी।

भावार्थ :- अन्तरात्मा विचार करता है कि जिसप्रकार कोई व्यक्ति भ्रम से वृक्ष के ठूँठ को पुरुष समझकर उससे अपने उपकार - अपकार आदि की कल्पना करके सुखी-दुःखी होता है, उसीप्रकार मैं भी मिथ्यात्व अवस्था में भ्रम से शरीरादि को आत्मा समझकर उससे अपने उपकार-अपकार की कल्पना करके सुखी-दुःखी हुआ - सो यह मेरी अज्ञानता की चेष्टा थी। वह ठूँठ को पुरुष समझता है और मैं शरीर को आत्मा, तो मुझमें और उसमें क्या अन्तर रहा ? दोनों की चेष्टाएँ एक जैसी अज्ञानमय ही तो हैं।

श्लोक २१ पर प्रवचन

अज्ञानी को शरीर में आत्मा मानने की भ्रान्ति हुई है, शरीर में आत्मबुद्धि हुई है। जिसतरह लौकिक जनों को भ्रम से वृक्ष के ठूँठ में 'यह पुरुष है' ऐसी भ्रान्ति हो जाती है तो वे उससे भ्रमित होकर विपरीत चेष्टा करते हैं, उसीप्रकार अज्ञानी को शरीर-मन-वाणी में आत्मबुद्धि का भ्रम होने से उनमें विपरीत चेष्टा होती देखी जाती है। जबकि शरीर-मन-वाणी जड़ हैं, अचेतन हैं। अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि मैं शरीर से हिलता-डुलता व चलता - फिरता हूँ; वाणी से बोलता हूँ; इन्द्रियों से भोग भोगता हूँ। उसे ऐसा भान नहीं है कि शरीर माटी है, आत्मा नहीं है। वह तो शरीर को ही आत्मा मानता है।

भाई, जिसतरह कोई लकड़ी के ठूँठ को पुरुष माने तो उसे लोक में मूर्ख माना जाता है, ठीक इसीप्रकार जो शरीर-मन-वाणी आदि को आत्मा (जीव) मानेगा, वह मूर्ख (अज्ञानी) ही है।

जिसतरह कोई राजा के पुतले को राजा समझ कर उसे भाँति-भाँति के कपड़े और गहने पहनाए, उसकी नानाप्रकार से सेवा करे, चँवर ढोले, सुबह से शाम तक उसकी सेवा में उपस्थित रहे और ऐसा कहे कि आज मैंने राजा की खूब सेवा की। जबकि यह राजा कहाँ है ? यह तो राजा का पुतला है, इसकी सेवा में समय व श्रम व्यर्थ ही जाता है। ठीक इसी भाँति अज्ञानी जीव अनादि से शरीरादि को आत्मा मानकर अपना समय व श्रम व्यर्थ गँवा रहा है।

जिसतरह जानवरों को भ्रम उत्पन्न करने के लिए खेतों में खड़े किये गये लकड़ी के पुतले (विजूके) को कोई व्यक्ति आदमी समझकर उससे बातें करे तो उसे जगत मूर्ख ही मानेगा, अज्ञानी ही मानेगा। उसी प्रकार जो कोई शरीरादि को आत्मा मानकर उससे चेतन जैसा व्यवहार करे तो वह मूर्ख-अज्ञानी ही माना जायेगा।

अज्ञानी जीव शरीर की स्वस्थता के लिए सुबह से शाम तक विचार करता है, उसके लिए टाइमटेबल से चलता है, व्यायाम करता है, उसे अनुकूल रखने की नानाप्रकार से चेष्टा करता है और ज्ञानानन्दमय आत्मा की किंचित् भी परवाह नहीं करता, उसके हित का जरा भी ध्यान नहीं रखता।

भाई ! भाषण देना आत्मा का कार्य नहीं, यह तो भाषावर्गणा का परिणमन है, जड़ की पर्याय है। भाषा आत्मा के कारण नहीं निकलती है, परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं घंटे-दो-घंटे व्याख्यान करता हूँ तो हजारों लोगों को प्रभावित कर देता हूँ। यह उसका अज्ञान है। भाषा आत्मा में नहीं है, भाषा बोलना आत्मा का कार्य भी नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। शरीर-मन-वाणी में आत्मा को देखना -मानना अज्ञान है।

संयोग आत्मा के स्वभाव में मदद या सहायता भी नहीं करते; दोनों द्रव्य पूर्ण स्वतन्त्र हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और शरीर जड़स्वरूप है।

भाई ! परपदार्थ उपकारी व अनुपकारी नहीं हैं। आत्मज्ञान होने से पहले शरीर को ही आत्मा और स्त्री-पुत्रादि को अपना मानता था। तथा ऐसा मानता था कि उत्तम संहनन होवे तो ही केवलज्ञान होगा; वाणी होगी तो ही उपकार हो सकेगा। परन्तु भाई ! वाणी जड़ का परिणमन है, उत्तम संहनन पुद्गल की पर्याय है और केवलज्ञान आत्मा की पर्याय है। दोनों में केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। तथा सभी उत्तम संहननवालों को केवलज्ञान होगा ही - यह जरूरी नहीं है। हाँ, जिन्हें केवलज्ञान होना होता है, उनके उत्तम संहनन होता है - यह बात पक्की है। उसीप्रकार जिनका कल्याण होना होता है, उन्हें दिव्यवाणी निमित्त होती है। इनमें भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। वाणी तो पौद्गलिक वर्गणायें हैं, अतः 'आत्मा बोलता है या नहीं' यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अज्ञानी ऐसा मानता है कि शरीर स्वस्थ (ठीक) रहे तो धर्म कर सकते हैं तथा शरीर ही ठीक न रहे तो धर्म कैसे कर सकते हैं ? कहा भी है - 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'; परन्तु भाई ! शरीर उपकारी या अनुपकारी नहीं है; क्योंकि वह परद्रव्य है।

तत्त्वार्थसूत्र में जो जीव व पुद्गल के परस्पर उपकार की बात आती है, वह तो निमित्त का कथन है। निमित्त देखकर उस पर आरोप करके ऐसा कहा जाता है। जिसतरह 'गुरु शिष्य का उपकार करता है' - यह निमित्त का कथन है ; उसीतरह वहाँ जीव व पुद्गल के उपकार की बात कही गई है। वहाँ तो सुख के निमित्तों की तरह दुःख के निमित्तों को भी उपकार में गिनाया है।

देखो ! यदि निमित्तों से ही उपकार होता होवे तो विदेह क्षेत्र में तो तीर्थंकर सदैव विद्यमान हैं, उनके सम्पर्क में आने वाले सभी जीवों

का उपकार हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा तो होता नहीं। हमें तुम्हें भी अनेक बार केवलियों का समागम मिला है ; पर केवली जैसा निमित्त मिलने पर भी हमारा-तुम्हारा उपकार कहाँ हुआ ? इससे स्पष्ट है कि निमित्त उपकारी-अनुपकारी नहीं हैं।

यदि निमित्तों से उपकार होता हो तो अब तक हम सब तिर जाते। हाँ, यदि हम स्वयं अपने आत्मा को सँभालें और स्वसम्मुख होने का पुरुषार्थ करें तो भगवान की मौजूदगी हमारे तिरने में निमित्त कही जावेगी। जो बाह्य पदार्थों से उपकार-अनुपकार मानते हैं, वे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हैं। अपने आत्मा के सिवाय अन्य कोई भी उपकारी-अनुपकारी नहीं है। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को भूल कर पर को अपना मानना या उसे उपकारी-अनुपकारी मानना भ्रम है।

मात्र दान में बहुत सारा रुपया देना पुण्य नहीं है; बल्कि उससे राग घटना, कषाय की मन्दता होना पुण्य है। इसीकारण यदि कोई मान के पोषण के लिए दान देता है तो उसे पुण्य के बजाय पाप का ही बन्ध होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि पर के ग्रहण-त्याग रूप निमित्त से भी उपकार-अनुपकार नहीं होता।

* * *

श्लोक २२

'यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथा चेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥'

अन्वयार्थ :- (यथा स्थाणो पुरुषाग्रहे निवृत्ते) जिसप्रकार वृक्ष के ठूँठ में 'यह पुरुष है' ऐसी भ्रान्ति दूर होने पर **(असौ चेष्टते)** वही पुरुष उसके प्रति उपकार-अनुपकार की चेष्टा त्याग देता है **(तथा देहादौ)** उसीप्रकार देहादि में **(आत्म विभ्रमः विनिवृत्ता)** आत्मपने का भ्रम दूर होने पर **(चेष्टः अस्मि)** देहादि के प्रति मेरी अपनत्व की चेष्टायें छूट जातीं हैं।

श्लोक २२ पर प्रवचन

धर्मी जीव पहले अज्ञान अवस्था में क्या मानता था और अब ज्ञान होने पर उसकी मान्यता में कितना क्या परिवर्तन हुआ है - यह बात यहाँ स्पष्ट की गई है। स्थाणु अर्थात् वृक्ष के ठूँठ में मनुष्य की भ्रान्ति से भ्रमित व्यक्ति जिसतरह उस ठूँठ से मनुष्यवत् व्यवहार करता है; ठीक उसीप्रकार अज्ञानी जीवों को देह में जीव का भ्रम हो जाने से देह के साथ जीव जैसा व्यवहार करता है। तथा जब उसका यह भ्रम टूट जाता है अर्थात् जब वह ठूँठ को ठूँठ समझ लेता है तब उसका वह भ्रम टूट जाता है। इसीप्रकार पहले अज्ञान दशा में शरीर को ही आत्मा मानता था। शारीरिक अनुकूलता में अपने को सुखी एवं शारीरिक प्रतिकूलता में अपने को दुःखी मानता था। पहले वह पाँचों इन्द्रियों की अनुकूलता से सुख मानता था। इस तरह वह अपने स्वभाव से च्युत होकर पर में सावधान रह रहा था, मोहवश शरीर को अपना स्वरूप मानता था। स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को नहीं पहचानता था। जब यह अज्ञानी जीव अज्ञान भाव से शरीरादि को अपना मानता हुआ शरीर व इन्द्रियों का दास बना हुआ था, तब ऐसा मानता था कि पाँचों इन्द्रियाँ ठीक हों तो ही सुख की प्राप्ति

हो सकती है। सच्ची समझ होने पर वही जीव अब ऐसा मानता है कि मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, देह से काम नहीं होता। इन्द्रियाँ ठीक हों तो ज्ञान होता है - यह भूल भरी मान्यता अब निकल गई है। अत: अब वह ऐसा मानता है कि ज्ञान इन्द्रियों से नहीं, आत्मा से होता है। इन्द्रियाँ तो निमित्त मात्र हैं। उनसे आत्मा को कोई हानि-लाभ नहीं है। धर्मात्मा ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञान सामान्य हूँ, सामान्य में से विशेष ज्ञान आता है। इसकारण वह इन्द्रियों का दास नहीं है। जो ऐसा मानता है कि आँख, कान आदि इन्द्रियाँ ठीक रहेंगी तो ज्ञान सही होगा, ठीक तरह देख सुन सकेगा, बिना देखे सुने सही जानकारी कैसे हो सकती है, वह मिथ्या दृष्टि अज्ञानी अधर्मी है। उसे वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान नहीं है। यथार्थ ज्ञान श्रद्धान वाला या सच्ची दृष्टि वाला पुरुष पर से अपना भला-बुरा अथवा उपकार-अपकार नहीं मानता। यदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता हो तो सब को एक-सा ही ज्ञान होना चाहिए, परन्तु सभी को एक जैसा ज्ञान तो होता नहीं है, इसलिए इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी तो ऐसा मानता है कि :-

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख हो घर में माया।
तीजा सुख कुलवन्ती नारी, चौथा सुख पुत्र आज्ञाकारी॥

परन्तु यह मान्यता भूल भरी है। वस्तुत: सुख पराश्रित नहीं है। सच्चे सुख की प्राप्ति तो पूर्ण स्वाश्रित व स्वाधीन है। आत्मा स्वयं सुख का सागर व आनन्द का धाम है। लोक में भी यही कहावत है कि :-

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं, कर विचार देखो मन मांहीं।'

कार्माण शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है ऐसा जाने बिना इन्द्रियों का दास हुए बिना नहीं रहता। जो पर की अनुकूलता से अपनी अनुकूलता एवं पर की प्रतिकूलता से अपनी प्रतिकूलता मानता है, वह पर का दास है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि कर्म के अनुसार अनुकूलता व प्रतिकूलता मिलती है, परन्तु यह मान्यता भी ठीक नहीं है। कर्म तो निमित्तमात्र हैं।

ज्ञानी तो ऐसा जानते हैं - मानते हैं कि आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द स्वभावी है, वही सर्वोत्तम है। आत्मा के द्वारा ध्यान रखने से शरीर ठीक नहीं रहता। आत्मा जो उपाय करता है वह आत्मा का विचार (उपाय) आत्मा में रहता है। शरीर की व्यवस्था जड़ में रहती है; नैमित्तिक अवस्था जब होनी हो तब होती है। उससमय आत्मा का विकल्प निमित्त कहलाता है, परन्तु निमित्त के कारण वस्तु व्यवस्था बनती-बिगड़ती नहीं है। संयोग से आत्मा का बिगाड़-सुधार भला-बुरा मानना अज्ञान है।

धर्मात्माओं को सात तत्त्वों का विवेक वर्तता है। शक्ति रूप से तो सभी में ज्ञान है। परन्तु आत्मज्ञान होने पर ज्ञानादि गुणों में विशेष निर्मलता प्रगट होती है। शरीर के एक-एक रज-कण जुदे-जुदे हैं परन्तु वे जड़ हैं। आत्मा एक है, अखण्ड है और चैतन्य स्वरूप हैं। आत्मा गुणी है, ज्ञान दर्शन उसके गुण हैं। ज्ञानी धर्मात्मा ऐसा जानता है कि दया-दान चैतन्य स्वरूप नहीं हैं, वे आस्रव हैं; शरीर-मन-वाणी अजीव हैं; आत्मा ज्ञान स्वरूप है। शरीर व कर्म मुझसे जुदे हैं, अचेतन हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। ऐसा जानने से एवं श्रद्धा करने से आत्मा में जो निर्मलता प्रगट होती है वह संवर है, निर्जरा है। तथा आत्मा की पूर्ण शुद्ध-निर्मल दशा का प्रगट होना मोक्ष है। भेदविज्ञान से ऐसा तत्वार्थ श्रद्धान होता है।

अज्ञानी जीव की शरीर में एकत्व-ममत्व बुद्धि होती है। वह शरीर की प्रशंसा करने से प्रसन्न होता है तथा निन्दा करने से दुखी होता है; क्योंकि वह शरीर को ही आत्मा मानता है। मेरा स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष ये जो सात तत्त्व कहे हैं, मैं उनमें से चैतन्य स्वरूपी जीव तत्त्व हूँ, शरीर-मन-वाणी अजीव स्वरूप हैं, पुण्य पाप आस्रव स्वरूप हैं, विकार में अटकना बंध है, स्वभाव से प्रगट होती हुई निर्मल पर्याय संवर व निर्जरा तत्त्व है तथा पूर्ण निर्मल पर्याय मोक्ष तत्त्व है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को सात तत्त्वों के विषय में

यथार्थ श्रद्धा होती है। तथा उसे पूर्ण विश्वास होता है कि भेद विज्ञान से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सम्भव है। शरीर, इन्द्रिय, वाणी में ठीक-अठीक मानना, ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्ट मानना भ्रम मय है। शरीर ठीक रहे तो प्रवचन आदि सुनने आ-जा सकते हैं, शरीर ठीक न रहे तो धर्म - कर्म नहीं हो सकता - अज्ञानी ऐसा मानता है। परन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

अरे भाई ! सुनने के राग से काम नहीं होता, स्वभाव की एकाग्रता से काम होता है। पुण्य-पाप-पर से लाभ मानना असमाधि है। तथा स्वभाव से लाभ मानना समाधि है।

आत्मा जब अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को प्राप्त करे, तभी कार्यकारी है। समवशरण में अनंत बार गया, परन्तु 'आत्मा शुद्ध स्वभाव का पिण्ड है' - इस दृष्टि (श्रद्धा) के बिना लाभ नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के भी यद्यपि बाह्य प्रवृत्ति होती है, पर उसका ऐसा अभिप्राय छूट गया है कि शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ या शरीर की क्रिया मुझसे होती है। जो थोड़ा बहुत राग आता है, उसमें हित बुद्धि नहीं है। यह श्रद्धा की अपेक्षा की बात है। श्रद्धा पलटते ही आचरण तदनुकूल हो ही जावे - यह जरूरी नहीं है। श्रद्धा के अनुकूल आचरण तत्काल हो ही जावे - यह जरूरी नहीं है। श्रद्धा के अनुकूल आचरण में समय लग सकता है। अतः उसे उस दृष्टि से ही देखना चाहिए। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियाँ होतीं हैं, तथापि उसे उनका एवं उनके राग का स्वामित्त्व नहीं होता। वह तो अपने चैतन्य स्वभाव का स्वामी है। यदि वह राग का स्वामी बने तो मिथ्यादृष्टी है। तथा यदि वह ऐसा माने कि अब मुझे शरीर की क्रिया को रोकना है, पहले मैं व्यायाम करता था, अब मैंने व्यायाम करना बन्द कर दिया है - ऐसा मानने वाला जड़-शरीर को ही आत्मा मानता है, अतः उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

भाई ! पर पदार्थ तेरे अधीन नहीं हैं, संसार में पर से लाभ-अलाभ मानना अज्ञान है। ज्ञानी के शरीरादि के प्रति राग होते हुए भी उसे ऐसी मान्यता नहीं है कि शरीर से लाभ होता है। इस कारण वह पर और पर्याय में परिवर्तन की बुद्धि को छोड़कर आत्म चिन्तन में प्रवृत्ति करने का प्रयत्न करता है।

धर्मी विचारता है कि मैं पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक नहीं हूँ। यद्यपि नारकी जीव नपुसंक हैं, तथापि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। और अपने को नारक पर्याय से पृथक् ज्ञायक स्वरूप आत्मा के रूप में जान-देख व अनुभव कर सकते हैं।

* * *

श्लोक २३

येनात्मनाऽनुभूयेऽहं, आत्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहु ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ :- **(येन आत्मना)** जिस चैतन्य स्वरूप के द्वारा **(अहम्)** मैं **(आत्मनि)** अपने आत्मा में **(आत्मना)** अपने स्वसंवेदन ज्ञान से **(आत्मना एव)** आत्मा के आधार से ही **(अनुभूये)** अनुभव में आता हूँ, **(सः)** वह शुद्धात्मस्वरूपमय **(अहं)** मैं **(न तत्)** न तो नपुंसक हूँ, **(न सा)** न स्त्री हूँ, **(न असौ)** न पुरुष हूँ, **(न एकः)** न एक हूँ, **(न द्वौ)** न दो हूँ, **(वा)** अथवा **(न बहुः)** न बहुत हूँ।

भावार्थ :- मैं स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ। अर्थात् मैं सदा चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदन-गम्य हूँ, जिसमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक तथा एक, दो, बहुत आदि संख्या के विकल्पों का अभाव है।

अन्तरात्मा जीव विचारता है कि जीव में स्त्री-पुरुषादि का व्यवहार केवल शरीर के कारण है। एक, दो व बहुवचन का व्यवहार भी शरीराश्रित है। शरीर तो मेरा रूप ही नहीं है। मेरा शुद्ध स्वरूप तो पूर्ण निर्विकल्प ही है। मुझमें लिंग-भेद तथा वचन-भेदों का विकल्प किस प्रकार घटित हो सकता है? यह स्त्रीत्वादि धर्म तो कर्मोत्पादित देह का स्वरूप है, मेरा स्वरूप नहीं है।

श्लोक २३ पर प्रवचन

मैं अपने आत्मा को चैतन्य-स्वरूप आत्मा के द्वारा आत्मा के स्वसंवेदन ज्ञान के आधार से आत्मा में ही अनन्यता रूप अनुभव करता हूँ, वहीं मैं हूँ। इसके सिवाय स्त्री-पुरुष वगैरह चिह्न अथवा एक-दो वगैरह संख्या के विकल्प मैं नहीं हूँ। स्व-संवेदन-गम्य चैतन्य ही मेरा चिह्न है। स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि चिह्नों से तो शरीर की पहचान होती है। ये तो

शरीर के चिह्न हैं। इनसे आत्मा की पहचान नहीं होती। व्याकरण की विभक्तियाँ आदि आत्मा का स्पर्श नहीं करतीं। आत्मा भाषा द्वारा ग्राह्य नहीं है। आत्मा तो स्वयं अपने से ही स्वसंवेदन-गम्य है। ऐसे आत्मा को जो जानते हैं, उन्हें ही सच्ची आत्मभावना होती है। उन्हें ही समाधि की, सुख, शांति अथवा धर्म की प्राप्ति होती है।

समाधि के लिए देहादि से भिन्न स्वसंवेद्य ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की भावना का यह वर्णन चलता है। पुरुषत्व, स्त्रीत्व वगैरह शरीर के आकार हैं। वे मेरे स्वरूप नहीं हैं। इसीप्रकार तत्सम्बन्धी विकार भी उपाधिभाव हैं। वे सब मेरे स्व-संवेद्य आत्मा से बाह्य हैं। तथा मैं एक हूँ, अनेक हूँ, इत्यादि विकल्पों से भी मैं पार हूँ। बाह्य लिंग एवं संख्या के भेदों से पार ज्ञानानन्द स्वरूप ही मैं हूँ।

शरीर आधेय व मैं उसका आधार भी नहीं हूँ। शरीर व आत्मा के साथ आधेय-आधार सम्बन्ध नहीं है। उसीप्रकार ज्ञानादि गुण आधार एवं आत्मा आधेय - ऐसा आधार-आधेयपने का भेद भी अपने एकाकार स्वरूप में नहीं है। आधार-आधेय के भेद से आत्मा अनुभव गम्य नहीं होता, मैं भेद के विकल्प से रहित निर्विकल्प स्वसंवेदन गम्य हूँ। इस प्रकार धर्मी जीव अपने आत्मा की भावना करते हैं।

* * *

श्लोक २४

यदभावे सुषुप्तोहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ :- (यत् अभावे) जिस शुद्धात्मस्वरूप के अभाव में **(अंह)** मैं **(सुषुप्तः)** सोया हुआ पड़ा था, अज्ञान अवस्था में था। **(पुनः)** और **(यद्भावे)** जिस शुद्धात्मस्वरूप के सद्भाव में **(व्युत्थितः)** जाग गया, यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा, **(तत्)** वह शुद्धात्मस्वरूप **(अतीन्द्रियम्)** इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य **(अनिर्देश्यम्)** वचनों से अगोचर और **(स्वसंवेद्यम्)** स्वानुभवगम्य है। वह **(अहम् अस्मि)** मैं हूँ।

श्लोक २४ पर प्रवचन

शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति न होने से मैं अब तक गहरी नींद में सोए पुरुष के समान अपने स्वरूप से बे-खबर था। अकेले दया-दानादि बाह्य धर्म-क्रियाओं के विकल्पों में अटके रहना और शुद्धस्वरूपकी पहचान न होना गहरी निद्रा में सोने जैसा ही है। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूपी है। जो रागादिभाव उत्पन्न होते हैं, वे व्यवहार से ज्ञेय हैं। परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। शरीर की क्रिया मेरी क्रिया नहीं है। मैं तो शरीर व रागादि से भिन्न एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपी ही हूँ - ऐसे भान के अभाव में जीव मोहनींद में मूर्छित ही है। और तो और, आत्मा के भान बिना धार्मिक चर्चा-वार्ता, गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास एवं आत्मा के गुण-गुणी भेद आदि व्यवहार की चर्चा करनेवाला भी आत्मा के कार्य में सोया हुआ ही है, क्योंकि आत्मा जो पूर्णानन्द से भरा हुआ है, उसे न जानकर वह विकल्पों में अटक गया है। उसे पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ, पर की रुचि में रुक गया है। अपने स्वरूप में जागृत-सावधान नहीं हुआ।

एक आत्मज्ञान के अभाव में सातों तत्त्वों व नवों पदार्थों का ज्ञान अधूरा रह जाता है। शुद्धात्मा के भान से सातों तत्त्वों का ज्ञान यथार्थ हो जाता है और आत्मजागृति हो जाती है। मैं ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ- ऐसा अनुभव होने पर जागृति होती है। मैं ज्ञान-आनन्दमय निर्विकारी आत्मा हूँ -' ऐसे अनुभव की प्राप्ति से जागृत हुआ हूँ। यथावत् वस्तुस्वरूप को समझने लगा है। शरीरादि अजीव भासित होने लगे हैं। पुण्य-पाप आस्रव को हेय रूप से जानने एवं सवंर-निर्जरा व मोक्ष को उपादेयरूप जानने का यथार्थ श्रद्धान हो जाता है। शुद्धात्मा के ज्ञान के अभाव में सातों तत्त्वों का ही यथार्थ भान नहीं होता।

शुद्धात्मा के भान होने से सातों तत्त्वों का यथार्थ भान हो जाता है। मैं ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य हूँ, निर्विकारी हूँ - ऐसा आत्मानुभव होने पर ही जागृति होती है। केवल व्यवहार से जागृति नहीं होती।

जब तक अपने शुद्धात्मा और सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक असमाधि ही है। भगवान आत्मा पुण्य-पाप की रुचि के कारण आत्मा की ओर से बेखबर रहता है, इसकारण उसे किसी भी पदार्थ का यथार्थ भान नहीं होता। जैसे ही पुण्य-पाप का सही स्वरूप समझ में आया वैसे ही सभी तत्त्वों का यथार्थ भान हो जाता है। जिसने एक को नहीं जाना, उसने किसी को भी नहीं जाना।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप है। शुभ राग की रुचि ही गाढ़ निद्रा है। उसे शुभ का भी यथार्थ भान नहीं है। अरे भाई ! आत्मा पुण्य-पाप रहित है - ऐसा ज्ञान होने पर पुण्य-पाप का यथार्थ ज्ञान होता है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, अतः सुनने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। शुभराग से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। मेरा स्वरूप अतीन्द्रिय है। राग की एकता से स्वभाव की एकता नहीं होती। जब स्वभाव की एकता होती

है तब राग की एकता टूट जाती है। आत्मा वचन से अगोचर है। वचन तो निमित्त मात्र है। 'आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है' - ऐसा वचन से कहा जाता है, परन्तु उसका पूर्ण स्वरूप वचन से नहीं कहा जा सकता। वह तो अनुभवगम्य है, अतीन्द्रियस्वरूप है। वह अपने से ही अपना वेदन कर सकता है।

तत्त्व को समझने में ही यथार्थ पुरुषार्थ है। जब तक अपने ज्ञानानन्दस्वरूपी शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं हुई थी, तब तक परसन्मुख दृष्टि में लाभ मान रखा था। भाई ! दया-दान-व्रत में आत्मा नहीं है। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि व्रत-उपवास करने से, तीर्थयात्रा, दान-पुण्य आदि करने से धर्म की प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुस्वरूप को समझे बिना धर्म का आरम्भ नहीं होता। आत्मा की यथार्थ समझ में ही सच्चा पुरुषार्थ प्रगट होता है।

जो व्यवहार में जागृत हैं वे निश्चय में सोते हैं। जो निश्चय में जागते हैं वे व्यवहार में सोते हैं। ज्ञानी बाह्य में ऊँघता हो तो भी अन्तर में जागृत है। मिथ्यादृष्टि बाह्य में जागृत हो तो भी अन्तर में आत्मज्ञान न होने से मोहनिद्रा में ही सोया है। जो पुण्य परिणाम में लाभ मानता है, वह व्यवहार में तो जागृत है, पर धर्म में जागृत नहीं है। जो व्यवहार में जागता है, वह निश्चय में सोता है। संसार के रागी जीव व्यवहार में जागते हैं, व्रत-तप भक्ति आदि का तो ध्यान रखते हैं, परन्तु आत्मा से अनभिज्ञ रहते हैं। व्यवहार का आश्रय छोड़कर आत्मा के स्वभाव का आश्रय करे तभी व्यवहार भी निमित्त कहा जाता है। निमित्ताधीन दृष्टि वाला तो सोया हुआ ही है और उपादान दृष्टिवाला जागृत है।

मोक्षप्राभृत की ३१वीं गाथा में यही बात स्पष्ट रूप से आई है। तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी निश्चय-व्यवहार का स्वरूप समझाते हुए यह आधार दिया है। जो व्यवहार का आदर नहीं करते वे निश्चय में जागते हैं।

भाई ! आत्मा पर के किसी परमाणु की भी क्रिया नहीं कर सकता। शब्द ऐसे के ऐसे अज्ञानी भी कहता है परन्तु उसके भाव के समझने में भारी भूल है। देखो, बौद्धमत में भी समकित शब्द आता है, पर भाव व लक्षण में सर्वथा भिन्न है। राग को जीतकर स्वभाव में आना - ऐसे लक्षणवाले शब्दों का भाव तो कोई जुदा ही है, जिसे अन्यमती पा ही नहीं पाये।

जिनकी तत्त्वों में व देव-शास्त्र-गुरु की समझ में भूल है, उनके शब्द भले एक जैसे हों, पर भाव व लक्षण में फेर रहता है, इसीकारण उनकी सम्पूर्ण मान्यता में फेर रहता है।

यहाँ आचार्यदेव ने निश्चय-व्यवहार की बात स्पष्ट की है। कहा है कि जो व्यवहार में जागता है, वह अपने कार्य में अर्थात् निश्चय में सोता है। तथा जो निश्चय में जागता है वह व्यवहार में सोता है। शब्द एक से होने पर भी भावों में या अभिप्राय में फर्क होता है। अतः शब्दों का सही अभिप्राय समझना चाहिए।

* * *

श्लोक २५

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २५॥

अन्वयार्थ :- (बोधात्मानं मां) शुद्ध ज्ञानस्वरूप निज आत्मा को **(तत्त्वतो प्रपश्यतः)** द्रव्यस्वभाव से अनुभव करनेवाले जीव के **(अत्रएव)** इस जन्म में ही **(रागाद्याः क्षीयन्ते)** राग-द्वेषादि विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं। इसलिए ज्ञानी कहते है कि **(ततः मे)** इस कारण मेरा **(न कः चित् शत्रुः न च प्रियः)** न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। अर्थात् द्रव्यस्वभाव का अनुभव करनेवाले ज्ञानी को राग-द्वेष का अभाव हो जाने से उसको कोई भी शत्रु-मित्र भासित नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तु स्वरूप का अनुभव करता है, तब उसकी राग-द्वेष रूप इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नष्ट हो जाती है। तथा बाह्य वस्तुओं को बाधक - साधक माननेवाले जीवों के प्रति वह उदास भाव से - उपेक्षा बुद्धि से प्रवर्तता है। इसकारण वह न तो किसी को शत्रु मानता है और न मित्र ही मानता है। इसप्रकार आत्मस्वरूप की भावना के बल से उसके राग-द्वेषादि का नाश होने पर उसे किसी के प्रति शत्रु-मित्र का भाव नहीं रहता।

श्लोक २५ पर प्रवचन

यह समाधितन्त्र का अधिकार है। आत्मा के स्वभाव में एकाग्रता ही समाधि है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान व आनन्द है, उसमें एकाग्र होना ही धर्म व मोक्षमार्ग है। यहाँ इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि धर्मात्मा कैसा होता है ? आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले के रागादिभावों का अभाव होने से शत्रु-मित्र की कल्पना नहीं होती।

अविरत सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परपदार्थ में कुछ भी फेर-फार करनेवाला नहीं है। मेरी पर्याय में जो

राग-द्वेष होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है।' इस चिन्तन से ज्ञानी को परपदार्थ के कारण इष्ट-अनिष्ट कल्पना नहीं होती। ज्ञानी विचारता है कि 'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, कोई भी पदार्थ आवे या जावे - उनसे मुझे क्या प्रयोजन? दया-दान-व्रतादि शुभविकार रूप रागादि भाव भी मेरे नहीं एवं उनकी भावना करनेवाला भी मैं नहीं हूँ। ये शुभ विकार हैं तथा हिंसादि पापभाव अशुभ विकार हैं; मेरा स्वरूप तो इन सबसे भिन्न ज्ञानस्वरूप है।' अज्ञानी दया-दानादि पुण्य भावों को तथा काम-क्रोधादि पाप भावों को अपना स्वभाव मानता है। पर की क्रिया का कर्ता स्वयं को मानता है, शरीर की हलन-चलन रूप क्रिया का कर्ता स्वयं को मानता है; अपने को स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-परिवार का पालनहार एवं धन-दौलत-मकान-दुकान और देश-राष्ट्र का रक्षक और निर्माता मानकर उनमें अहंकार-ममकार करता है। इससे वह मात्र राग-द्वेष की ही रचना करता है। पर में तो कुछ फेर-फार कर नहीं सकता। इससे अपने अन्दर मात्र आकुलता ही उत्पन्न करता है। पर के समीप जाना व पर में कुछ फेरबदल करना तो इसके वश की बात है नहीं, क्योंकि पर तो अजीव तत्त्व हैं। अजीव में जीव कर ही क्या सकता है? कुछ भी नहीं।

यह समाधितन्त्र है, अतः यहाँ सारभूत प्रकरण लिया है। धर्मात्मा विचार करता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। परपदार्थ के समीप मैं कभी जाता ही नहीं हूँ। मुझमें जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें भी मैं केवल जानता ही हूँ। बस यही श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।

मुनिराज पूज्यपाद नग्न दिगम्बर मुनिवर थे, वे वन में रहते थे। वे कहते हैं कि अपने आत्मा का अनुभव करनवालों के ही रागादि का नाश होता है। अपने निजात्मा में आनन्द है। वास्तव में अपना आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अपने आत्मस्वभाव में व्रत, तप, दया, दान आदि शुभ राग नहीं हैं। परमार्थ से निज स्वरूप का अनुभव करने से राग द्वेषादि भावों का नाश हो जाता है। यहाँ अस्थिरता सम्बन्धी राग-द्वेष की गिनती नहीं है। पर

में मित्र - शत्रु की विपरीत मान्यता से जो राग-द्वेष होता है, उसे अपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। शरीर तो जड़ है, वह अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान की क्रिया का कर्ता हूँ - ऐसी भावना करने वाले को राग-द्वेष का अभाव हो जाता है।

धर्म कैसे होता है - यह बात लोगों ने आज तक सुनी नहीं है। अज्ञानी अध्यात्म के नाम पर भी मिथ्यात्व का ही सेवन करता है। ज्ञानी के भी पुरुषार्थ की कमजोरी से पुण्य-पाप का भाव होता है, पर ज्ञानी ऐसा मानता है कि वे मेरे स्वभाव में नहीं हैं। आत्मा का तो मात्र ज्ञान व आनन्द स्वभाव है। ऐसे स्वरूप के भानवाले को राग-द्वेष की एकत्व बुद्धि छूट जाती है और वीतराग स्वरूप धर्म का लाभ होता है।

ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव में इष्ट-अनिष्टपना नहीं होता। ज्ञानी को ऐसी दृढ़ श्रद्धा है कि मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है। सम्यग्दृष्टि लड़ाई में जाते समय हाथी पर बैठा है, परन्तु वह अपने में हो रहे सभी प्रकार के राग-द्वेष के भावों को उस समय भी अपने ज्ञान का ज्ञेय ही मानता है। वह राग-द्वेष के समीप नहीं जाता, अर्थात् वह राग-द्वेष में तन्मय नहीं होता। वह हथियार उठाते समय भी ऐसा मानता है कि मैं हथियार उठा ही नहीं सकता। जिस प्रकार कोई आकाश-कुसुम नहीं तोड़ सकता, उसी प्रकार आत्मा शरीरादि पर की क्रिया नहीं कर सकता। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। जो यत्किंचित् रागादि होते हैं, वे आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं। अपने ज्ञानस्वभाव में ऐसा निर्णय करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म है, वही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। कोई भी परद्रव्य शत्रु व मित्र नहीं है - ऐसी दृष्टि के बिना धर्म प्रगट नहीं होता।

यद्यपि वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से ज्ञानी को भी रागभाव आता है, परन्तु दृष्टि में फेर नहीं है। राग-द्वेष आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी है - ऐसी श्रद्धा में कोई फेर नहीं हैं। खाने-पीने में, पुत्र-पुत्रियों के शादी-ब्याहों में, विषयादि के भोगने में जो रुपया खर्च

करता है, उनमें जो रागादिभाव होते हैं, ज्ञानी उन्हें अपनी कमजोरी मानता है। उसीप्रकार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में आमन्त्रण पत्रिका में लिखता है कि हमारा अहोभाग्य है कि हमारे यहाँ जिनमंदिर का निर्माण हुआ है, उसमें भगवान विराजमान होंगे; इस अवसर पर त्यागीवर्ग साधु-संत एवं विद्वज्जन पधारेंगे; आपके आने से धर्म की प्रभावना विशेष होगी आदि। पर वह सब शुभ राग है। ऐसे शुभाशुभ भाव से रहित ज्ञानस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म है। अपने आत्मा का स्वभाव तो जानना-देखना है। अपने आत्मा की पर्याय में कमजोरी से ये शुभाशुभ भाव होते हैं। तथा आत्मा में अन्तर्मुख होकर स्वभाव की एकाग्रता से राग का क्षय होता है और धर्म की प्राप्ति होती है।

धर्मात्मा विचार करते हैं कि मेरा कोई शत्रु -मित्र नहीं है। वे पर को इष्ट मानकर उसमें राग नहीं करते व अनिष्ट मानकर उसमें द्वेष नहीं करते। पुरुषार्थ की कमजोरी से राग द्वेष होते अवश्य हैं, पर वे उन्हें अपना स्वभाव नहीं मानते।

भाई ! धर्म अपूर्व वस्तु है। अज्ञानी ने अनादि काल से आज तक समय मात्र भी धर्म नहीं किया। देखो, जब वासुदेव का पुण्य क्षीण हुआ तो द्वारिका नगरी ७ माह तक जलती रही, सोने का गढ़ घास की भाँति सुलगता रहा, समस्त कुटुम्बीजन जल-जल कर भस्म हो गये। सम्पूर्ण नगरी में करुण क्रन्दन, हाहाकार मच गया। सब लोक नारायण कृष्ण को पुकारते थे कि हे कृष्ण ! बचाओ ! बचाओ ! हम जल रहे हैं ! पर कौन किसको बचा सकता है? जब कृष्ण अपने माँ-बाप को बचाने जावें तो आकाश से देव वाणी होती थी कि माँ-बाप नहीं निकल सकते। तुम तो अपने प्राण बचाओ, तुम बाहर निकल जाओ। ऐसा होते हुए भी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पर पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट नहीं मानते। वे जानते हैं कि पर में कोई कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता। मैं भी पर में कोई फेर-फार करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। मेरा आनन्द मेरे पास है, उसे कोई नहीं जला सकता। भूमिकानुसार अपने को विकल्प आते हैं,

इससे व्यवहार में कहने में आता है। परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं कि परपदार्थ की अवस्था में फेर-फार करने की मेरी ताकत नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता होना ही धर्म है।

अज्ञानी जीव ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। जबतक जीव निज आनन्दमय निराकुल सुधा का पान नहीं करता, तब तक अज्ञानी है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसके साथ आनन्द भी अविनाभावी है। जिस प्रकार शक्कर में सफेदी व मिठास एक साथ हैं, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान व आनन्द एक साथ हैं। पुण्य-पाप के विकार स्वभाव में नहीं हैं। संयोग पृथक् हैं। जबतक स्वभाव का ज्ञान नहीं होता, तब तक बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानते हैं। पदार्थ स्वयं में इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं। अज्ञानी संयोग-वियोग में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। वस्तुतः देखा जाय तो संयोग-वियोग भी पुद्गल के परमाणुओं की अवस्था है। उससे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसप्रकार तरंगें आतीं - जातीं हैं, वैसे ही पदार्थों में फेर-फार होने का नाम ही संयोग-वियोग है। उससे आत्मा का क्या सम्बन्ध? नदी में पानी आता देख अज्ञानी प्रसन्न होता है, पर जो पानी आ रहा है वह जा भी रहा है न? वह कहाँ ठहरा है? पर आज्ञानी की इतनी सूक्ष्म दृष्टि कहाँ है? वह तो पानी के स्थूल समूह को देखकर प्रसन्न हो रहा है। परन्तु वह पानी कहाँ है जो आया था? वह तो कभी का जा चुका है। निरन्तर आने वाला निरन्तर जा भी रहा है; संयोग के पीछे वियोग लगा ही है। जो भी स्त्री-पुत्र-परिवार संयोग में आए प्रतीत होते हैं वे भी अपने-अपने कारण आए हैं और अपने-अपने कारण अपने समय में चले जानेवाले हैं। वे किसी अन्य के कारण न आये हैं, न ठहरे हैं और न जावेंगे ही। वे तो सब स्वतन्त्र अपने-अपने हेतु से आते-जाते हैं। किन्तु अज्ञानी ऐसा न मानकर उनमें एकत्व-ममत्व व कर्तृत्व - भोक्तृत्व का अभिमान लेकर बैठ जाता है, यही इसके दुःख का मूल है।

अरे ! अपने गले के अन्दर जो जरा-सा कफ अटक जाता है, जब हम उसे ही नहीं निकाल पाते हैं तो पर में क्या फेर-फार कर सकेंगे ? परन्तु अन्तर में यह सच बात बैठती नहीं है। अत: राग वश अज्ञानी कभी तो लड़के को पढ़ाने-लिखाने की चिंता करता है, कभी उसके शादी-ब्याह की फिक्र करता है तथा कभी उसको धंधा-रोजगार में लगाने की कोशिशों में दिन-रात एक कर देता है। और जब वह लड़का इसकी आज्ञा में नहीं रहता तो फिर उससे द्वेष करने लगता है। जबकि पर तो कोई इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं। फिर भी पर पदार्थों का संयोग व वियोग ठीक नहीं - अज्ञानी सदा इसी चिन्ता में चिन्तित रहता है।

संयोग-वियोग में लाभ माननेवाले अज्ञानी के राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही है। अज्ञानी ऐसा भी कुतर्क करता है कि कार्य होने में शास्त्रों में दो कारण कहे हैं - (१) निमित्त (२) उपादान। अत: दोनों से ही कार्य होता है, परन्तु वहाँ एक उपादान कारण ही कार्य का यथार्थ नियामक कारण है, दूसरा निमित्त कारण तो मात्र आरोपित कारण है - ऐसा वह नहीं मानता। संयोग से या निमित्तों से लाभ-हानि मानने वालों को राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते। ज्ञानी तो समझता है कि राग-द्वेष पर के कारण नहीं होते। तथा स्वभाव में भी राग-द्वेष नहीं होते। केवल अपने वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से ही राग-द्वेष का जन्म होता है। वह रागादिभाव भी ज्ञानी का ज्ञेय है - ऐसा जानकर ज्ञानी अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में मग्न रहता है।

ज्ञानी जीव विचार करता है कि - मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूँ। ऐसी ही अनुभूति जब गहरी होने लगती है तो वह सुखी हो जाता है। और वह निराकुलता रूप अनुभूति ही धर्म है।

* * *

श्लोक २६

मामपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६ ॥

अन्वयार्थ :- **(मां)** मुझको अर्थात् मेरे अमूर्तिक आत्मा को **(अपशयन्)** न देख सकने से **(अयं लोकः)** यह लोक - ये सारे जगत के प्राणी **(न मे शत्रुः)** मेरे शत्रु नहीं हैं। **(न च प्रियः)** और मित्र भी नहीं हैं तथा **(माँ)** मेरे आत्मा के स्वरूप को (प्रपश्यन्) यथार्थतया देखने - जाननेवाला **(अयंलोकः)** यह लोक - ये जगत के ज्ञानी जन भी **(न मे शत्रु न च प्रियः)** न मेरे शत्रु हैं और न मेरे प्रिय हैं।

भावार्थ :- ज्ञानी जीव ऐसा विचार करते हैं कि जगत में मेरा कोई भी शत्रु-मित्र नहीं हैं। क्योंकि जो स्व-संवेदनज्ञान से शून्य अज्ञानी जन हैं, वे तो अपने प्रगट इन्द्रियज्ञान से इन्द्रियज्ञान के अगोचर अमूर्तिक आत्मा को जानते-देखते नहीं हैं। और बिना जाने-पहिचाने किसी में शत्रु-मित्र का भाव हो ही नहीं सकता, अतः वे मेरे शत्रु-मित्र नहीं हैं।

तथा ज्ञानीजन स्व-पर के शुद्धात्मस्वरूप को जानते हैं। अतः उनकी श्रद्धा में इष्टानिष्ट कल्पना का अभाव हो जाने से राग-द्वेषादि का भी अभाव हो गया है, इसकारण वे भी मेरे शत्रु-मित्र नहीं हैं।

श्लोक २६ पर प्रवचन

ज्ञानी विचार करते हैं कि परिचय में आने पर ही कोई मित्र अथवा शत्रु बन सकता है। जब अज्ञानी को मेरा परिचय ही नहीं है तो परिचय के बिना मैं उसका या वह मेरा शत्रु या मित्र कैसे हो सकता है ? अज्ञानी मुझे देखता ही नहीं है। क्योंकि मेरा स्वरूप ज्ञानघन है, जो उसे इन चर्म-चक्षुओं से तो दिखाई दे नहीं सकता। तथा जिस भेद-ज्ञान की आँखों से वह आत्मा दिखाई देता है, वह ज्ञान उसके है नहीं। मेरे परिचय

में नहीं आने वाला तथा मेरे स्वरूप को नहीं जाननेवाला अज्ञानी मेरा शत्रु-मित्र कैसे बन सकता है ?

वस्तुतः, जिसने अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप देखा हो, वही मेरे आत्मा के स्वरूप को जान सकता है। ज्ञानी को ऐसा तत्त्वज्ञान हो जाने से सहज ही शत्रु-मित्र का भाव टूट जाता है। तथा जो आत्मा को जानते ही नहीं हैं, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, वे अज्ञानी भले ही इस शरीर से शत्रुता रखें, परन्तु मेरे आत्मा के तो वे भी शत्रु व मित्र नहीं हैं। क्योंकि बिना जाने-पहचाने कोई शत्रु-मित्र कैसे बन सकता है ?

श्लोक २६ के भावार्थ पर प्रवचन

निज आत्मा को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनानेवाले आत्मज्ञानी हैं। ऐसे आत्मज्ञानी जीव विचार करते हैं कि - 'शरीर-मन-वाणी और राग-द्वेष पर हैं तथा मैं शुद्ध ज्ञायक द्रव्य हूँ।' निज आत्मा को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाने पर ही जीव ज्ञानी या सम्यग्दृष्टी नाम पाता है। सम्यग्दृष्टी को शरीर, मन, वाणी, पुण्य-पापादि सब ज्ञेय रूप से ही जानने में आते हैं। 'मैं निश्चय से अपना ज्ञाता हूँ, अन्तरात्मा के स्वरूप को जानता हूँ' - ज्ञानी को ऐसी अटूट श्रद्धा होती है।

यद्यपि पाँच महाव्रतादि पालन करने का परिणाम, निःशंकित आचार पालने तथा शास्त्र लिखने-पढ़ने का भाव भी ज्ञानी को आता है, तत्सम्बन्धी राग भी होता है, परन्तु वह उस राग का स्वामी नहीं है। सम्यग्दृष्टी के जो विवाहादि होते हैं, वह उनका कर्ता नहीं, मात्र ज्ञाता रहता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा के जानने पर उसमें वर्तते हुए शुभ राग का ज्ञान भी ज्ञानी को होता है। आत्मज्ञानी विचार करता है कि प्रसंगवश अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों की कल्पना भी आती है, परन्तु उनमें ज्ञानी के एकत्व, ममत्व न होने से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं होती। अतः ज्ञानी का अज्ञानी व ज्ञानी कोई भी शत्रु व मित्र नहीं है।

अज्ञानी जब ज्ञानी के आत्मा को जानता-पहचानता ही नहीं है तो उसके प्रति शत्रुता व मित्रता की भावना उत्पन्न ही कैसे होगी ?

यहाँ कोई यह कह सकता है कि यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी युद्ध करने को क्यों निकलता है ?

समाधान यह है कि अपने वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण चारित्रमोह सम्बन्धी राग-द्वेष विद्यमान है, इसकारण युद्ध तो करता है; परन्तु वह आत्मज्ञान में उसे परज्ञेय रूप से जानता है। विरोधी हिंसा के परिणाम ज्ञानी की भूमिका में भी आते हैं, परन्तु अमुक जीव मेरा दुश्मन है - ऐसा नहीं मानता। यही कारण है कि उनके द्वारा बिना कारण जीवों का घात नहीं होता।

धर्मात्मा सभी जीवों को भगवान आत्मा के रूप में ही देखते हैं, शत्रु-मित्र की अवस्था रूप से वे किसी को देखते ही नहीं हैं, अतः धर्मात्मा की नजर में कोई शत्रु-मित्र नहीं है। ज्ञानी विचारता है कि मैं राग-द्वेष रहित हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। जिसे ऐसा भान हुआ है, वह विज्ञ है। वह किसी अन्य को शत्रु-मित्र नहीं मानता।

यद्यपि क्षायिक सम्यग्दृष्टी भरत व बाहुबली - दोनों मानकषाय वश परस्पर में लड़े थे, परन्तु वे आत्मज्ञान से भ्रष्ट नहीं हुए थे। उनका मान में एकाकार नहीं हुआ था। उन्हें आत्मज्ञान था, अतः वे अपने स्वरूप को जानते थे। परजीव के ज्ञानस्वरूप को भी जानते थे, पर के आत्मा को एवं रागादि को व्यवहार से, व अपने निजात्मा को निश्चय से जानते थे। शरीर की क्रिया आत्मा से नहीं होती - ऐसा वे जानते थे। आत्मज्ञानी का परसम्बन्धी ज्ञान भी सच्चा ही होता है। इससे ज्ञानी को किसी के प्रति भी शत्रु-मित्र की भावना नहीं होती। पाप-पुण्य में एकत्वबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा है। आत्मार्थी उस बहिरात्मापने को छोड़कर आत्मा का अनुभव करनेवाला सम्यग्ज्ञानी है। स्व का ज्ञान होने पर पर का भी यथार्थ ज्ञान हो ही जाता है। इसकारण वह पर को भी भगवान आत्मा

के रूप में देखता है, अतः उसके शत्रु-मित्र का भाव नहीं होता। 'ये केवली भगवान हैं, इसलिए मुझे इनके प्रति राग उमड़ता है' - ऐसा माननेवाले को मिथ्यादृष्टी कहा गया है। 'यह शत्रु है इसलिए इसके प्रति मुझे द्वेष होता है' - ऐसा मानने वाला भी मिथ्यादृष्टी है; क्योंकि यह पर्यायबुद्धि है और दो द्रव्यों में कर्ता- कर्मपना मानना है। ज्ञानी को स्वद्रव्य का ज्ञान है तथा पर के आत्मा का भी यथार्थ ज्ञान है, इससे उसे शत्रु-मित्र की कल्पना नहीं होती।

'आदिपुराण' में कथन आता है कि भगवान के जन्मसमय पर इन्द्र तांडवनृत्य करता हैं, उन्हें सुमेरूपर्वत पर ले जाता है, फिर माता को सौंपता है। आठ योजन का कलश भरकर पानी से जन्माभिषेक करता है, इन्द्र बालक तीर्थंकर के समक्ष नृत्य करता है। आत्मज्ञानी जीव ऐसी नानाप्रकार से भक्ति कैसे करता है ? यह बात अज्ञानी के चित्त में नहीं बैठती। परन्तु भाई ! भूमिकानुसार ज्ञानी को भी शुभ राग आता है, इस कारण वह भी नृत्यादि करके अपना भक्ति भाव प्रगट करता है; पर वह जानता है कि यह भक्ति भाव शुभ राग है, वीतरागता रूप धर्म नहीं, अतः उसे आत्मज्ञान यथावत् रहता है, वह आत्मज्ञान से भ्रष्ट नहीं होता।

गृहस्थ की भूमिका में शुभ राग भी आता है और अशुभ भी आता है; परन्तु ज्ञानी स्व व पर को भलीभाँति भिन्न-भिन्न जानता है, और उनके स्वतन्त्र परिणमन को भी जानता है। अतः उसमें शत्रुता-मित्रता की दुर्भावना पैदा नहीं होती।

अतः उसकी दृष्टि में अज्ञ व विज्ञ कोई भी शत्रु-मित्र नहीं है।

* * *

श्लोक २७

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्म व्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्व संकल्प वर्जितम्॥ २७॥

अन्वयार्थ - (एवं) इसप्रकार **(बहिरात्मानं त्यक्त्वा)** बहिरात्मापन का त्याग करके **(अन्तरात्मव्यवस्थितः)** अन्तरात्मा में व्यवस्थित होकर तथा **(सर्वसंकल्पवर्जितं)** सर्व संकल्पों से रहित होकर **(परमात्मानं)** परमात्मा की भावना कर।

भावार्थ - सर्वप्रथम जीव बहिरात्मापन का त्यागकर आत्मस्वरूप के सन्मुख होता है। उसके बाद क्रम क्रम से पुरुषार्थ बढ़ाते हुए सर्व विकल्पों से रहित होकर ज्ञानानन्द स्वरूप परमात्मा की आराधना करता है। अर्थात् ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में लीन होकर तद्रूप बनने की भावना भाता है। यही परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है।

श्लोक २७ पर प्रवचन

आत्मा के मननपूर्वक ध्यान करना ही परमात्मा बनने का सही उपाय है।

मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है तथा मैं भी किसी का शत्रु-मित्र नहीं हूँ - ऐसे विचार से जीव बहिरात्मदृष्टि का त्याग करता है। पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, परन्तु उनमें रुचि नहीं है। अपने ज्ञानानन्द चैतन्य स्वभाव में व्यवस्थित रहने की ही भावना रहती है। वह विचार करता है कि 'पर की सहायता करना या पर से सहायता लेना मेरा स्वभाव ही नहीं है। इन्द्रियाँ स्वस्थ हों; आहार-पानी बराबर यथासमय लूँ; चश्मा, सुरमा आदि की बराबर व्यवस्था रहे तो बुद्धि का विकास होता है' - ज्ञानी के ऐसी मान्यता का नाश हो गया है।

प्रश्न - तो फिर ज्ञानी चश्मा लगाता ही क्यों है ?

उत्तर - भाई ! परपदार्थ को कौन ला सकता है? कौन हटा सकता है या दूर कर सकता है? परन्तु अज्ञानी के चित्त में यह बात बैठती नहीं है।

निश्चयनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय से कल्याण होता है। कोई कहता है कि नय तो जड़ है, परन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है। नय तो प्रमाण का अंश है। वस्तुतः नय तो ज्ञान है। शब्दनय तो उपचार है। अज्ञानी शब्दनय को वास्तविक कहते हैं और ज्ञाननय को उपचार कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि शुभ राग को भी छोड़कर स्वभाव का ज्ञान करना। छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को शारीरिक रोगादि की पीड़ा के कारण जो आर्तध्यान होता है, वह उनकी पुरुषार्थ की कमजोरी से होता है, शरीर में हुए रोगादि की पीड़ा के कारण नहीं। जो आर्तध्यान का कारण रोगादि को मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जो ऐसा मानता है कि मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ, ज्ञान के आश्रय से ही आत्मलाभ होता है, वही स्वभाव में स्थित होता है। जो व्यवहार में सोता है, उदास रहता है, वही निश्चय में जागता है, निश्चय में स्थित होता है। निश्चय में स्थित जीव राग से धर्मलाभ की मान्यता का त्याग कर देता है तथा शत्रु-मित्र के संकल्प को त्याग देता है।

सम्यग्दृष्टि को राग आता है, परन्तु वह उस राग में स्थित नहीं होता। वह तो स्वभाव में ही स्थित है। सर्व शुभाशुभ संकल्प छोड़ चुका है। निमित्त का लक्ष्य छोड़कर किसी को भी अपना शत्रु-मित्र न मानता हुआ ज्ञानी स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करता है। वह ऐसा विचारता है कि पुण्य-पाप से छूटकर स्वभाव के समीप होना ही समाधि है।

निमित्त व पुण्य से लाभ है - ऐसी बुद्धि छोड़ने पर तथा संयोग व संयोगीभाव को हेय समझने तथा स्वभाव को उपादेय मानने पर रागादि स्वतः हेय हो जाते हैं। आत्मस्वरूप का ज्ञान करनेवाले के स्वज्ञेय का ज्ञान करने पर जगत के द्वन्द्व आदि की चिन्ता से मुक्ति मिल जाती है।

गुण-गुणी का भेद भी द्वन्द्व है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ - ऐसे द्वन्द्व आदि से भी मुक्ति मिल जाती है। आत्मा से उत्पन्न स्वाधीन सुख के लिए आत्मा की आराधना अथवा स्व में एकाग्रता करना अर्थात् आत्मा जो शुद्ध आनन्द स्वरूप है, उसमें एकाग्रता करना ही सच्ची समाधि है।

* * *

श्लोक २९

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ :- (मूढ़ात्मा) अज्ञानी बहिरात्मा **(यत्र विश्वस्ततो)** जिन शरीर-स्त्री-पुत्र-मित्रादि बाह्य पदार्थों में विश्वास करता है - अर्थात् मैं इनसे सुखी होऊँगा, ये मेरे सुख के साधन हैं - ऐसी अटूट आस्था रखता है, **(ततो नान्यद् भयास्पदम्)** उन शरीरादि बाह्य पदार्थों जैसा जगत में अन्य कोई भय का व चिन्ता का स्थान नहीं है। अर्थात् ये ही सर्वाधिक भयकारक हैं - निरन्तर इनके प्रतिकूल प्रवर्तन की आशंका बनी रहती है। तथा **(यतःभीतः)** जिस परमात्मस्वरूप के अनुभव से यह डरता है **(ततः अन्यतः)** उससे बढ़कर अन्य कोई **(आत्मनः)** जीव को **(न अभयस्थानम्)** निर्भयता का स्थान नहीं है।

भावार्थ :- शरीर, पुत्रादि जो भय के स्थान हैं, दुःख व आकुलता के कारण हैं, उनमें बहिरात्मा आत्मबुद्धि करके विश्वास करता है तथा परमात्मस्वरूप जो निर्भयता का स्थान है, परम शरणरूप है, सुख का कारण है, उसके संवेदन को कष्टरूप या कष्टकारक मानकर उससे डरता है।

अज्ञानी बाह्य शरीरादि में सुख मानकर उसमें निःशंकपने प्रवृत्ति करता है; परन्तु वस्तुतः वे सब मृगतृष्णा के समान हैं। उनमें सुख नहीं है। वे किसी को भी शरणभूत नहीं हैं, अभय के स्थान नहीं हैं। एक शुद्धात्म स्वरूप ही शरणभूत है, अभयरूप है। तथा वही जगत के जीवों को भव-भय से रक्षा करनेवाला परम तत्त्व है। परन्तु जिस तरह ज्वरवाले को मीठा दूध भी कडुवा लगता है, उसी तरह बहिरात्मा को परम सुखदायी परमात्मस्वरूप की भावना भी कष्टदायी लगती है।

श्लोक २९ पर प्रवचन

अज्ञानी बहिरात्मा शरीर, स्त्री, पुत्र आदि में अपनापन मानता है। रुपया-पैसा, हीरा-मोती-माणिक, मोटर-गाड़ी को एवं इनसे प्राप्त आबरू-इज्जत को अपनी मानता है। उसे इनमें ऐसा विश्वास है कि इनसे ही मैं सुखी हूँ। यदि ये न हों तो मैं दुःखी रहता, ये ही मेरे सुख के साधन हैं, इन्हीं से मेरी इज्जत-आबरू व प्रतिष्ठा है; जबकि ये सभी एकमात्र दुःख के ही स्थान हैं, भय के ही हेतु हैं। इनके विपरीत धर्मसाधन को कष्टकारक मानता है, जो वस्तुतः कष्ट दूर होने में साधनभूत है।

भाई-भाभी, लड़का-लड़की, रुपया-पैसा आदि के बारे में अज्ञानी ऐसा मानता है कि मौका पड़ने पर ये ही साथ देंगे। परन्तु भाई ! सभी संयोग तो एक क्षण में वियोग में बदल जाते हैं - ऐसा प्रतिदिन देखने में आता है। किन्तु मोहवश अज्ञानी को यह बात बैठती नहीं है। अतः वह इन अशरणभूत-अनित्य-क्षणिक संयोगों को शरणभूत और चिरस्थाई मानकर उनमें विश्वास कर लेता है। परन्तु ये सब तो भय के स्थान हैं, निर्भयता के नहीं। त्रास के स्थान हैं, आकुलता के स्थान हैं। वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है। केवल अपना ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा ही एकमात्र सुख का स्थान है, आनन्द का भण्डार है। उसका भरोसा छोड़कर अज्ञानी स्त्री-पुत्रादि के मोह में पड़ा हुआ है।

वोटास ग्राम की सत्य घटना है कि एक घर में २० व्यक्ति थे, जिनमें से १९ मर गये, केवल एक अकेला बचा रहा। जिस मण्डप में विवाह हुआ था, उसी मण्डप में वर भी वधू को असहाय व अकेला छोड़कर चिरकाल के लिए चला गया। जिस पर जीवन भर सुख पाने का विश्वास किया था, वही दगा दे गया। जिस शरीर पर नाज करते हैं, वह भी एक दिन छोड़कर चला जायगा, आँखों की दृष्टि चली जायेगी; कान की श्रवण-शक्ति समाप्त हो जाएगी, स्मृति भ्रष्ट हो जायेगी, क्योंकि ये सब चीजें क्षणिक हैं, भय के स्थान हैं। एकमात्र आत्मा ही निर्भयता

का स्थान है। अपना भगवान आत्मा जो परमानन्दस्वरूप है, अज्ञानी उससे डरता है। जिसतरह राजा के पास जाने में डर लगता है, उसीतरह आत्मराजा के पास जाने में डरता है। जिससे डरे उसके पास कैसे जा सकेगा? अरे भाई ! आत्मा तो त्रिकाल ज्ञान व आनन्द से भरपूर है। ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का बना हुआ है। उससे डर कैसा? अरे ! आज तक जितने भी परमात्मा बने हैं, वे सब आत्मा के आलम्बन से ही बने हैं। प्रभु तू ! स्वयं परमात्मा है। परन्तु तेरी दृष्टि व विश्वास बाह्य पदार्थों में अटका है, जमा है, बस इसी से आत्मा में जाने मात्र से तुझे भय लगता है। परन्तु भाई ! आत्मतत्त्व भय का स्थान नहीं है। वह तो अनन्त निर्भयता का स्थान है। अरे ! आत्मा के सिवाय अन्य कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ भय व आकुलता न होती हो।

हे नाथ ! आपकी सेवा करनेवाले अभय अखेद होते देखे जाते हैं। परिणामों में पुण्य-पाप की चंचलता होना ही भय है। शरीर स्वस्थ रहे, रुपया-पैसा खूब हो, लौकिक समृद्धि बढ़ती रहे - यह कामना ही भय का लक्षण है। आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है। उसकी बात सुनते ही अज्ञानी को भय लगता है। तभी तो कहता है कि आत्मा की ऐसी बड़ी-बड़ी बातें मत करो, मुझे इनसे डर लगता है, मैं आत्मा की तुम्हारी ये बड़ी-बड़ी बातें सुनकर कहीं पागल न हो जाऊँ! कषाय की मंदता भी भय का स्थान है, क्योंकि वह कषाय की मन्दता पुनः तीव्र कषाय रूप हो जाती है। देखो ! कैसी विचित्रता है ! जो निर्भयता का स्थान है उससे भय लगता है। और जो भय के स्थान हैं - ऐसे विषय-कषायों को निर्भयता से भोगता है। अरे भाई ! यह तेरा महा अज्ञान है। इसे छोड़ और आत्मा की रुचि कर ! ऐसा करने से ही तू पूर्ण निर्भय और सुखी हो सकेगा।

***

श्लोक ३०

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तवं परमात्मनः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ :- (**सर्वेन्द्रियाणि संयम्य**) सर्व इन्द्रियों को वश में करके (**स्तिमितेन**) स्थिर होकर (**अन्तरात्मना**) अन्तरात्मा द्वारा (**क्षणं प्रपश्यतः**) क्षणमात्र आत्मानुभव करने वाले जीव को (**यतः**) जो चिदानन्द स्वरूप (**भाति**) प्रतिभासित होता है (**ततः**) वह (**परमात्मनः**) परमात्मा का स्वरूप है।

भावार्थ :- सर्व इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तित चित्तवृति को रोककर अर्थात् बहिर्जल्प एवं अन्तर्जल्पादि संकल्प-विकल्पों से रहित होकर उपयोग को अपने चिदानन्द स्वरूप में स्थिर होने पर परमात्म स्वरूप का प्रतिभास होता है।

अनादिकाल से जो पाँच इन्द्रियों की ओर उपयोग का झुकाव है, उसे छोड़कर तथा मन के संकल्प-विकल्पों को तोड़कर ज्ञानानन्द स्वभाव में एकाग्र होना - स्थिर होना ही परमात्म प्राप्ति का उपाय है।

श्लोक ३० पर प्रवचन

पाँचों इन्द्रियों के विषयों को तथा भावेन्द्रियों को रोककर ही अपने स्वरूप में स्थिर हुआ जा सकता है। भावेन्द्रियों को रोकने का अर्थ है द्रव्येन्द्रिय व उनके विषयों का स्वयं रुक जाना। जब भावेन्द्रियाँ स्वभाव की ओर झुक जातीं हैं, तब द्रव्येन्द्रियों का संयम तो सहज ही हो जाता है। बस उसी को द्रव्येन्द्रियों एवं उनके विषयों को रोकना या उन्हें जीतना कहा जाता है।

जब जीव अपने ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि करके निजशुद्धात्म द्रव्य का अनुभव करता है तब जो चिदानंद स्वरूप प्रतिभासित होता है, वही आत्मा का स्वरूप है। पाँचों इन्द्रियों से हटकर अपने आनन्द-स्वभाव का

अनुभव करने पर जो शुद्धात्मा का स्वरूप ख्याल में आता है, वही परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा अर्थात् परम-आत्मा, पूर्ण-शुद्ध आत्मा। द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से सर्वथा पृथक त्रिकाली-ज्ञायक स्वभावी आत्मा; वही निश्चय से कारण परमात्मा है और अरहंत व सिद्ध भगवान प्रकट परमात्मा कार्य परमात्मा हैं।

पाँचों इन्द्रियों को रोकना अर्थात् बहिरात्मपना रोकना है, अन्तर में स्थित होना, वह अंतरात्मपना है। इसप्रकार बहिरात्मपना त्यागकर अन्तरात्मा बनने से ही चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है।

आत्मा की रुचि होने पर इन्द्रियों के विषयों की एवं विकार की रुचि नहीं रहती। यह समाधि शतक शास्त्र है, समाधि शतक कहो या सुख का शतक कहो - दोनों एक ही बात है। सुख की प्राप्ति कैसे हो? धर्म कैसे हो? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो? सब एक से ही प्रश्न हैं, सबका एक ही उत्तर है अर्थात् सब एक-दूसरे के पर्यायवाची नाम ही हैं।

यह आत्मा स्वभाव से त्रिकालपूर्ण शुद्ध स्वरूप ही है। अन्तर में विद्यमान अनंत शक्तियों को प्रगट करने के लिए पाँच इन्द्रियों की ओर झुकने वाले अपने उपयोग को वहाँ से हटाना एवं आत्मा में जोड़ना यही इन्द्रिय संयम है; यही धर्म है, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसकंद है; उस ओर दृष्टि करना, उसमें ही जमना - यही सम्यग्दर्शन है, यही मोक्षमार्ग है। बाह्य वस्तुयें तो छूटी-सी पड़ी हैं, उन्हें कहाँ छोड़ना है? मात्र उनके लक्ष्य को हटाकर आत्मसन्मुख करना है।

जिन्हें सुख की इच्छा है, उन्हें अतीन्द्रिय आत्मा की रुचि होनी चाहिए। जो दया दान को हितकर मानता है, इन्द्रियों से सुख मानता है, वे सब इन्द्रिय में ही सुख मानने वाले हैं, उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द की खबर नहीं है। जो ऐसा मानता है कि मैं पाँच इन्द्रियों में प्रवृत्ति करता हूँ या कर सकता हूँ तथा मेरा सुख इन इन्द्रियों के आधीन है; वह ऐसा मानता है कि मैं पर का कार्य कर सकता हूँ और पर मुझे सुखी कर सकता है;

तथा जो ऐसा मानता है कि मैं पर में कुछ कर सकता हूँ या मुझे पर से सुख-दु:ख होता है; उसकी पर में एकत्व बुद्धि है। उसने दो द्रव्यों को भिन्न-भिन्न नहीं माना। अत: आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभावी है - ऐसी श्रद्धा करना योग्य है। अतीन्द्रिय आत्म-स्वभाव की रुचि होने पर पाँच इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं रहती। आत्मा में जो परम पवित्र ज्ञानस्वभाव भरा पड़ा है, उसे प्रकट करने के लिए पाँचों इन्द्रियों के ओर की रुचि छोड़नी चाहिए। इन्द्रियों के विषयों की ओर के झुकाव में आत्मा का हित नहीं है, पुत्र-पुत्रियों में एवं उनके अनुराग में सुख नहीं है। यहाँ कहते हैं कि जिसको आत्मा का अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभाव श्रद्धा में आ जाता है उसको पर पदार्थ के कर्तृत्व भोक्तृत्व की रुचि एवं उनके प्रति अहंकार ममकार नहीं रहता, मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ - यह बुद्धि छूट जाती है। वह आत्मा के स्वभाव में एकाग्रता करके आनन्द प्रकट करता है। यही परमात्मा होने का यथार्थ उपाय है।

* * *

श्लोक ३१

यः परात्मा स एवा ऽहं, यो ऽहं स परमस्ततः ।
अहमेष मयोपस्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

अन्वयार्थ :- (यः परात्मा सः एव अहं) जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। तथा **(यः अहं सः परमः)** जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। **(ततः अहं एव मया उपस्यः)** इससे मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ। **(कः चित् अन्यः न)** अन्य कोई भी मेरे द्वारा उपास्य नहीं है। **(इतिस्थितिः)** ऐसी वस्तु स्थिति है।

भावार्थ :- अंतरात्मा अर्थात् ज्ञानी ऐसा विचारता है कि मेरा अन्तरात्मा स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है। वास्तव में मेरा स्वभाव अरहंत व सिद्ध समान परमात्मस्वरूप है। उसकी अभेदरूप से उपासना करने से मैं स्वयं पर्याय में भी परमात्मा बन सकता हूँ। इसलिए मैं ही अपने लिए उपास्य हूँ। अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है। मैं स्वयं ही उपास्य व मैं स्वयं ही उपासक हूँ।

श्लोक ३१ पर प्रवचन

आत्मा ज्ञान पर्याय से स्वयं ही स्वसंवेदन रूप है। यहाँ परमात्मा आराध्य व मैं आराधक - यह बात न करके यह कहा है कि मैं ही आराध्य व मैं ही अराधक हूँ; क्योंकि पर की ओर उपयोग जाते ही उपयोग में चंचलता आती है और उस चंचलता में आत्मा पकड़ में नहीं आता। यद्यपि भगवान है, परमात्मा है; परन्तु जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मैं हूँ। मुझमें और परमात्मा में स्वभावतः कोई अन्तर नहीं है। परमात्मा जैसा ही मेरा स्वरूप है मेरे स्वरूप जैसा ही परमात्मा का स्वरूप है। मुझे जो अपने स्वरूप का निर्विकल्प अनुभव हुआ, वही तो मेरा परमात्मस्वरूप है। उससे भिन्न और परमात्मा क्या है ? कुछ भी नहीं।

सम्यग्दर्शन का होना व आत्मा का अनुभव - दोनों एक ही बात है। आत्मानुभव से भिन्न सम्यग्दर्शन कोई अन्य वस्तु नहीं है। मैं जो स्वानुभवगम्य आत्मा हूँ, वही मेरा परमात्मस्वरूप है। और वस्तुतः मैं वही हूँ जो मेरा स्वानुभवगम्य स्वरूप है। ऐसे परमात्मस्वरूप निजात्मतत्त्व की श्रद्धा में, उसी की अनुभूति में क्रमबद्धपने का निर्णय भी आ जाता है। पर का कर्तापना भी टल जाता है; 'मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ' ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा भी हो जाती है।

ज्ञानी स्वयं ही आराध्य व स्वयं ही आराधक है। स्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा ही मैं हूँ, अन्य निमित्तादि से हुई नैमित्तिक पर्याय मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो मात्र ज्ञानस्वभावी परम पदार्थ हूँ। अन्य परमात्मा नहीं है - ऐसा नहीं कहा, परन्तु उनके आश्रय से अपने में परमात्मदशा की प्राप्ति नहीं होती। अतः मेरे लिए तो मैं ही उपास्य व मैं ही उपासक हूँ, क्योंकि यही चिन्तन परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। आत्मा की आराधना करना ही सच्ची अध्यात्मविद्या है। पर - परमात्मा अर्थात् वीतरागी भगवान व्यवहार से आराध्य हैं - यह बात अपनी जगह यथार्थ है। जब तक अपने स्वरूप की प्राप्ति न हुई हो तब तक अशुभ भावों से बचने में और पूर्णता, पवित्रता व वीतराग-विज्ञानता के निमित्त से स्वरूप की पहिचान होने में परमात्मा की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अतः उनकी आराधना को व्यवहार आराधना कहा गया है। परन्तु निश्चय स्वरूप की आराधना का स्वरूप जाने बिना केवल परमात्मा की आराधना व्यवहार आराधना भी नहीं कहलाती।

'मैं भगवान आत्मा हूँ' - ऐसे स्वभावसन्मुख होकर आत्मावलोकन करने पर बाह्य में की गई परमात्मा की आराधना ही सच्ची व्यवहार आराधना कहलाती है।

अज्ञानी जीवों को बाहर की महिमा अधिक आती है। यदि कोई कह दे कि तू भगवान की भक्ति कर ! भगवान तेरा भला कर देंगे;

तुझे खूब सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, मरणोपरान्त स्वर्गादि का वैभव प्राप्त होगा, तो अज्ञानी जीव इस प्रलोभन से भगवान की भक्ति में लग जाता है। पर यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि मैं तो मेरे द्वारा अपने स्वरूप का ही आराधक हूँ और मेरा त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव ही मेरा आराध्य है; मैं किसी पर का उपासक नहीं हूँ और न कोई पर मेरा उपास्य है। 'पर आराध्य व मैं आराधक'- निश्चय से आत्मा का पर के साथ ऐसा कोई संबंध ही नहीं है। स्वयं ही आराध्य व स्वयं ही आराधक - यही एक मात्र वास्तविक आराध्य-आराधक सम्बन्ध है। ऐसे निर्णय वाले के ही वास्तविक व्यवहार आराधना होती है। यही आराध्य-आराधक भाव की यथार्थ स्थिति है। निश्चय आराधना का विषय आराधने योग्य है और व्यवहार आराधना केवल जानने योग्य है। इसे ही निर्विकल्प समाधि व स्वतन्त्रता कहते हैं।

यह समाधि की प्राप्ति का प्रकरण है। सच्ची शान्ति कैसे हो ? धर्म की प्राप्ति कैसे हो ? यहाँ इस बात की चर्चा है। वैसे तो आत्मा स्वयं सिद्ध-स्वरूप है, परन्तु वह सिद्ध - स्वरूप अभी शक्ति अपेक्षा ही है, वह पर्याय में प्रगट कैसे हो ? यह इसका अधिकार है। जो शक्तिरूप में विद्यमान है वही प्रगट होता है, बाहर से नहीं आता। पुण्य-पाप के भाव में सिद्ध-स्वरूप नहीं है, वह तो अन्दर आत्मा में है। ज्ञानी ऐसा जानता है कि 'मैं सर्वथा निर्मल ज्ञान का पिण्ड हूँ। मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, मैं ज्ञान-दर्शन हूँ '- ऐस भेद भी आत्मा में नहीं है। आत्मा तो एक समय में जानने-देखने वाला है - ऐसी अन्तर्दृष्टि करके स्वभाव में तन्मय हो जाना ही आत्मा की क्रिया है। आत्मा सिद्ध समान शुद्ध है, उसी का अनुभव करने से सिद्ध दशा की प्राप्ति होती है। बीच में शुभराग आता है, पर वह साधन नहीं है। शास्त्र में निमित्त की मुख्यता से कथन होता है। यद्यपि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा से राग की मन्दता होती है, परन्तु धर्मी राग से लाभ नहीं मानता। जिससे मुक्त होना है, जो स्वयं बन्धन स्वरूप है, उससे

मुक्त होने में क्या मदद मिल सकती है? मात्र एक अभेद आत्मा में एकाकार होने पर ही राग से छुटकारा मिल सकता है।

भगवान आत्मा पूर्ण द्रव्य है, अनन्त शक्तियों का पिण्ड है, चैतन्यघन है, उसमें तन्मय होने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। राग में लाभ मानने से तो बन्ध होता है। मैं ही उपासक हूँ व मैं ही उपास्य हूँ। निज शुद्धात्मा में तन्मय होने से ही दर्शनमोह व चारित्रमोह का नाश होता है। उसी से ज्ञानावरणी आदि का नाश होता है और आत्मा परमात्मा हो जाता है। यह अभेद भावना के बल की बात की है। धर्मी को बीच-बीच में शुभराग भी आने से उस शुभराग को भी निमित्त कहा जाता है। परन्तु यदि शुभराग से, अल्पज्ञता से एवं निमित्त से लाभ हो तो भगवान वीतरागी कैसे हो सकते हैं?

देखो; राग विकार है। जिस विकार से छूटना है उसे हेय न जाने तथा स्वभाव को उपादेय न माने तो स्वभाव में तन्मय कैसे होगा ? राग-द्वेषादि अनादि से हैं। जो उनमें तन्मय रहता है, वह क्रमश: त्रस पर्याय का काल गमाकर अनन्त निगोद का पात्र बनता है।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है ; आत्मा का स्वभाव पूर्ण निर्विकारी है - ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप एक ही क्रिया मुक्ति-मार्ग की क्रिया है। इसलिए विकारभाव से छूटने अथवा दृढ़ बन्धन से मुक्त होने के लिए अथवा अशुद्ध उपादान व निमित्त रूप कर्म से मुक्त होने के लिए उपादान का आश्रय लेना योग्य है। राग-द्वेष, दया-दानादि पर्याय में हो रहे हैं। उनका नाश एकमात्र स्वभाव के आश्रय से ही हो सकता है।

' एक होय त्रण काल मां, परमारथ नो पन्थ'

अर्थात् परमार्थ का त्रिकाल में एक ही पन्थ है। यद्यपि दया-दानादि का भाव आता है, परन्तु वह सब आस्रव ही है। स्वभाव-सन्मुख होकर आस्रव से परान्मुख न हो तो संसार से छूटता ही नहीं है। शुद्ध निर्मलानन्द

भगवान आत्मा की आराधना से धर्म प्राप्त होता है। जो ऐसा मानता है उसे यदि कुछ कर्तृत्व का भाव आता भी है तो शनैः शनैः वह उस भाव का भी ज्ञाता-दृष्टा ही रह जाता है। क्योंकि वह ऐसा मानता है कि जिसको जो भाव आनेवाला है, वही आता है। उस समय निमित्त में जो क्रिया होनेवाली है, वही होती है; अतः वह किसे छोड़े और किसे उत्पन्न करे? राग के काल में राग होता है और निमित्त के कारण निमित्त। ऐसी श्रद्धा होने वाले की दृष्टि स्वभाव पर रहती है। ऐसे मानने वाले की ही पर्यायबुद्धि छूटती है। अज्ञानी केवल बाहर से ही देखता है। एक समय के अत्यल्प काल में भी वस्तु परिपूर्ण है। उस परिपूर्ण वस्तु के आश्रय के बिना मोक्षमार्ग सम्भव नहीं है।

* * *

श्लोक ३२

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां, मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि, परमानन्द निवृतम्॥३२॥

अन्वयार्थ :-(**अहं**) मैं (**माम्**) अपने आप को (**विषयेभ्यः**) पाँचों इन्द्रियों के विषयों से (**प्रच्याव्य**) हटाकर (**मयाएव**) अपने द्वारा ही (**मयिस्थितं**) अपने में स्थित होकर (**परमानन्दनिवृत्तं**) परम आनन्द से रचे (**बोधात्मानं**) ज्ञानस्वरूप अत्मा को (**प्रपन्नोऽस्मि**) प्राप्त हुआ हूँ।

भावार्थ :- मैं अपने आत्मा को अर्थात् ज्ञानोपयोग को बाह्य विषयों से हटाकर अपने में विद्यमान परम आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा को अपने ही पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करता हूँ।

श्लोक ३२ पर प्रवचन

यहाँ इस श्लोक में 'मयाएव' और 'मयिस्थितं' - ये दो शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये शब्द बताते हैं कि परमात्मपद मेरे आत्मा के स्वभाव में ही है, बाहर में कहीं नहीं है। और वह मेरे द्वारा किये गए आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थ से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी बाह्य साधन से प्राप्त नहीं होता।

यह समाधि शतक है। अतः यहाँ बारम्बार उग्रभावना द्वारा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का भान कराते हुए कहते हैं कि मैं ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ, मुझमें ज्ञान व आनन्द स्थित है। निमित्त, व्यवहार, राग-द्वेष आदि आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं। आत्मा के स्वरूप में तो आनन्द, दर्शन, ज्ञान, स्वच्छत्व, अकार्यकारणत्व आदि शक्तियाँ हैं। यह आत्मा ज्ञान व आनन्द से भरपूर है। यहाँ ज्ञान व आनन्द की मुख्यता से बात की है। अतः कहते हैं कि जो ज्ञान व आनन्द मुझमें भरा पड़ा है, वह स्वभाव के आश्रय से ही प्रकट होता है; बाह्य में किसी अन्य की सेवा करने से प्रकट नहीं होता।

अनन्तआनन्द, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य अन्तर में भरे हैं। समयसार में आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन है। उनकी उपासना ही सच्चा मोक्षमार्ग है। शक्तियाँ उपास्य हैं और आत्मा उनका उपासक है।

भावार्थ यह है कि जीवों को जिस परमात्मदशा को प्राप्त करने की अभिलाषा है, वह परमात्मस्वरूप अपने आत्मा में ही विद्यमान है। आत्मा स्वयं शक्तिरूप से परमात्मा है। वही शक्तिरूप परमात्मतत्त्व आत्मोपासना से परमात्मा के रूप में प्रगट हो जाता है। जैसे मोर का अंडा स्वयं मोर हो जाता है, उसी तरह अन्तर में विद्यमान शक्तियाँ ज्ञान-स्वरूप आत्मा में एकाग्रता करने से प्रगट हो जातीं हैं।

आत्मा धर्मराजा है, उसी की उपासना-आराधना से धर्म की पूजा प्रगट होती है। यह समझे बिना किसी भी अनुयोग का ज्ञान यथार्थ नहीं कहा जा सकता। निश्चय नय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से धर्म होता है। तथा व्यवहार नय के अवलम्बन से धर्म नहीं होता। अज्ञानी निश्चय-नय को जड़ कहता है, पर उसका यह कहना यथार्थ नहीं है। यद्यपि भगवान को साधकदशा में राग होता था, पर उस राग को उन्होंने अन्ततः छोड़ा या रखा ? यदि छोड़ा था तो जिसे छोड़ा था, उसे आदरणीय कैसे कहा जा सकता है ? और यदि राग को रखा कहा जाय तो राग को रखनेवाला वीतरागी कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

अरहन्त भगवान की स्तुति करते हुए इन्द्र कहता है कि हे प्रभो ! जो आपको कवलाहारी कहते हैं, लगता है उन्हें वायुरोग हुआ है, तभी तो ऐसा अनर्गल प्रलाप करते हैं। जिसप्रकार वायुरोग मिटाने के लिए पुराना घी लगाना पड़ता है, उसीप्रकार अज्ञानरूपी वायुरोग मिटाने के लिए पुरान पुरुष - मोक्षमार्गी पुरुष के सान्निध्य में जाना पड़ेगा, तभी यह अज्ञान का वायुरोग मिट सकेगा।

तीर्थंकरदेव ने वीतराग पद प्राप्त किया है। वे पुण्य-पाप से पूर्णतः रहित हो गये हैं और स्वरूप में एकाग्र हो गये हैं। इसलिए जिस पंथ पर वे चले एवं जो पंथ उन्होंने हमें बताया, हमें उसी पंथ की खोज करनी है और उसी पंथ पर चलना है। जिसे अरहंत बनना है, उसे तो अरहंत के पथ पर ही चलना होगा।

अरहंत भगवान ने जो किया है, वही कहा है। भगवान ने रागरहित स्वरूप की रमणता की है और वैसा ही करने का हमें उपदेश दिया है। भगवान आत्मा शान्त अनाकुलतामय है। जैसे भगवान हैं, स्वभाव से मैं भी वैसा ही हूँ। ऐसा चित्र अपने हृदय पर अंकित कर और पुण्य-पाप की रुचि छोड़। साधकदशा में स्वभाव की रुचि व रमणता ही अरहंतदशा का कारण है। जो स्वरूप अरहंत भगवान ने प्राप्त किया है, वही मुझमें है - ऐसा अनुभव करना ही अरहंत की सच्ची शरण है। इसी से तू ध्रुव-स्वरूप निज आत्मा की शरण प्राप्त कर सकेगा। पुण्य-पाप स्वयं अशाश्वत् हैं, उनकी सेवा-उपासना करने से शाश्वत पद नहीं मिलता। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का कंद है, उसका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा आनंदकंद है। उसकी श्रद्धा, ज्ञान व लीनता करने से ही परमात्मदशा प्रगट होती है।

* * *

श्लोक ३३

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते सः न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

अन्वयार्थ :- (एवं यः अव्ययं) इसप्रकार जो अविनाशी **(आत्मानं)** आत्मा को **(देहात् परं न वेत्ति)** शरीर से भिन्न नहीं जानता, **(सः परमं तपः तप्त्वाऽपि)** वह घोर तपश्चरण करके भी **(निर्वाणं न लभते)** मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

भावार्थ :- जो जीव देह से भिन्न अविनाशी आत्मा को नहीं जानता - आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह घोर तप करे तो भी सम्यक्त्व या मोक्ष प्राप्त नहीं करता।

आत्मा अविनाशी चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है और शरीर इन्द्रियादि अचेतन - जड़ हैं; दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। इसकारण दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। जो जीव ऐसा नहीं जानता, वह अज्ञानी है, स्व-पर के भेदज्ञान से रहित है। शरीरादि द्वारा मैं पर की क्रिया कर सकता हूँ - अज्ञानी ऐसा मानकर राग-द्वेष करता है, अतः घोर तप करते हुए भी वह धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता।

श्लोक ३३ पर प्रवचन

यह समाधिमय होने का अर्थात् सुख प्राप्त करने का अधिकार है। सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह बात यहाँ चल रही है। सुख, समाधि या धर्म - सब एक ही बात है। मोक्षमार्ग भी इसके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है। जिसे सुख, समाधि या धर्म प्राप्त करना हो, उसे आत्मा व शरीर में भेदज्ञान करना चाहिए। भेदज्ञान किए बिना चाहे जितनी तपश्चर्या करे या व्रत-नियमादि पाले तो भी समाधि की या सुख की प्राप्ति नहीं होती, धर्म की प्राप्ति नहीं होती। हाँ, पुण्यबन्ध अवश्य होता है; परन्तु पुण्य मोक्ष का हेतु नहीं है। वह तो आत्मा का विकारी भाव है।

अजीव तत्त्व की भाँति पुण्य-पाप तत्त्व भी आत्मा से जुदे तत्त्व हैं। पुण्य से धर्म या धर्म का लाभ मानना मिथ्यात्व है - मिथ्या मान्यता है।

पुण्य स्वयं मिथ्यात्व नहीं है; बल्कि पुण्य में धर्म की मान्यता मिथ्यात्व है। पुण्यभाव तो दसवें गुणस्थान तक रहता है। आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभादि भी रहते हैं, वे मिथ्यात्व नहीं हैं; परन्तु उन शुभाशुभ भावों को हितकर मानना, उपादेय मानना, मोक्षमार्ग में साधक मानना मिथ्यात्व है। शरीर मिथ्यात्व नहीं है, परन्तु शरीर में सुख मानना मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा अखण्ड अविनाशी ज्ञानानन्द स्वरूप है। अज्ञानी उसे शरीर से भिन्न नहीं जानता। जो शरीर को अपना नहीं मानता, वह ही अविनाशी आत्मा को अपना मान सकता है। जो स्वभाव व संयोगों के मध्य भेदज्ञान नहीं कर पाता, जिसकी संयोगों में एकत्वबुद्धि रहती है; वह चाहे जितना तप करे तो भी उसे मुक्तिमार्ग सम्भव नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। अतः प्रथम आत्म तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा आवश्यक है, भेदज्ञान द्वारा प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानना जरूरी है।

देखो; इन्द्रियाँ जड़ हैं, विनाशीक हैं और चेतन तत्त्व भगवान आत्मा अविनाशी है। ऐसे भेदविज्ञान बिना धर्म नहीं होता। शरीर पुद्गल है, दान व भक्ति के परिणाम नाशवंत हैं और भगवान आत्मा अविनाशी है। विनाशीक पुण्य-पाप व अविनाशी आत्मा में भेदज्ञान किए बिना निर्जरा नहीं होती। अतः अशुद्धता दूर करने के लिए एवं अविनाशी आत्मा को ध्येय बनाने के लिए - प्राप्त करने के लिए पर व पर्याय से भेदविज्ञान परम आवश्यक है।

भेदविज्ञान बिना बाहर से भले ही कोई दिगम्बर साधु हो जावे, शास्त्रानुसार निर्दोष आहार लेवे, पांचों इन्द्रियों के भोगों पर पूर्ण नियन्त्रण रखे, अनन्त प्रतिकूल प्रसंग आने पर भी क्रोधादि कषाय न करे, तो भी उसे धर्म की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् उसे आत्मानुभूति नहीं होती,

सम्यग्दर्शन नहीं होता। तथा भेदविज्ञान के होने पर भले कुछ काल तक चारित्र की कमजोरी से गृहस्थी में रहे, तो भी कर्मबन्ध नहीं होता। भरत चक्रवर्ती के ९६ हजार स्त्रियाँ थीं, तो भी उन्हें आदिपुराण में महात्मा कहा है।

प्रश्न :- भरत चक्रवर्ती यद्यपि शस्त्रों से युद्ध करते हैं, हाथी पर सवारी करते हैं, अपनी अनेक शादियाँ करते हैं, रानियों के साथ मनोविनोद और नानाप्रकार से क्रीड़ा करते हैं, फिर भी उन्हें 'घर में ही वैरागी' कहा जाता है इसका कारण क्या है ? किस अपेक्षा से उन्हें धर्मात्मा कहा गया है ?

उत्तर :- अरे भाई ! यह सब तो उनकी वर्तमान पर्याय में चारित्र का दोष है। यह श्रद्धा का दोष नहीं है, श्रद्धा तो उनकी पूर्ण निर्मल है। उन्हें आत्मानुभूति हो गई है, भेदविज्ञान प्रगट हो गया है। इस कारण उनका मन विषयों में बिल्कुल नहीं रमता। ये सब भोग उन्हें रोगवत् प्रतीत होते हैं। इसी कारण उन्हें 'घर में ही वैरागी' कहा गया है। वे सच्चे धर्मात्मा पुरुष हैं। वे जानते हैं कि आस्त्रव दुखदायक हैं तथा मेरा स्वभाव चिदानन्दमय है। इसी कारण वे धर्मात्मा और महात्मा कहे गये हैं।

इसके विपरीत मुनि होकर भी जो ऐसा मानता है कि कषाय की मंदता से धर्म होता है, उसे पुण्य व आत्मा के स्वभाव के बीच भेदज्ञान नहीं है। कोई अशुभभावों की निवृत्ति एवं धर्मानुराग वश देव-गुरु-शास्त्र की विनय करे, वैयावृत्ति करे, स्वाध्याय करे; परन्तु यदि इनमें धर्म माने तो वह धर्मी नहीं है। पर के प्रति दया का भाव राग है। इस राग से भेदज्ञान हुए बिना धर्म का आरम्भ ही नहीं होता। जिसमें स्थिर होना है, उसे भी नहीं पहचाने और जहाँ से हटना है, उसे भी नहीं पहचाने तो ऐसे जीव की मुक्ति कैसे होगी ? नहीं होगी। उसे सम्यग्दर्शन भी प्रगट नहीं होगा।

भावार्थ यह है कि संसार में दुःख का मूल कारण आत्मज्ञान का अभाव है। आत्मा अविनाशी है। ऐसा ज्ञान होने पर शरीर व पुण्य-पाप आदि का ज्ञान भी यथार्थ हो जाता है। जहाँ ज्ञान की पर्याय में स्व का ज्ञान हुआ वहाँ अजीव, आस्रव, बन्ध के स्वरूप का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यही ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता है। आत्मा में सम्पूर्ण अजीवादि परपदार्थों व विकारीभावों की नास्ति है।

जिसने ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव कर लिया है, वह आस्रवादि को हेय मानता है। यदि पुण्य-पाप की उपेक्षा न हो तो उपयोग आत्मा की ओर कैसे ढल सकेगा ? नहीं ढल सकता। आत्मा की अपेक्षा में पुण्य-पाप की उपेक्षा हो ही जाती है। यह हेयोपादेय की बात है। जीव - अजीव में सातों तत्त्व समा जाते हैं। जीव में जीव, संवर, निर्जरा व मोक्ष तथा अजीव में अजीव, आस्रव, बन्ध आ जाते हैं। स्वपर में 'स्व' मुख्य एवं 'पर' गौण रहता है। इसप्रकार 'स्व' सो आत्मा तथा शेष सभी अनात्मा हैं। ऐसा सात तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। यही स्वपर भेदविज्ञान का मुख्य प्रयोजन है।

जो ऐसा ज्ञान नहीं करता या जिसे ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता उसकी तपश्चर्या भी दुःखदायक ही है। अज्ञानी जीव बाह्य तपादि करके क्लेश करे तो भले करे; परन्तु वह तप नहीं, तप का भार है।

देखो, जहाँ लौकिक में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों की बात आती है, वहाँ धर्म को पुण्य समझना तथा अर्थ व काम को पाप का पुरुषार्थ समझना। मोक्षमार्ग में इनकी व्याख्या ही जुदी है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप अविनाशी है; पुण्य-पाप विनाशी हैं। जब तक दोनों में भेदज्ञान न करे, तब तक दुःख से छुटकारा नहीं मिलता। जिससे छूटना है, उससे मैं तो सर्वथा जुदा तत्त्व ही हूँ - ऐसा निर्णय ज्ञानी के होता है। मुझे शरीर व पुण्य-पाप से छूटना है। अतः स्पष्ट है कि वे मुझसे भिन्न तत्त्व हैं। जुड़ें हैं - ऐसी प्रतीति पूर्वक जिसे बाह्य तपादि होते हैं,

उसके वे बाह्य तपादि कार्यकारी नहीं हैं। जो ऐसे तप का अनुमोदन करता है, वह भी अज्ञानी है। भले ही कैसा भी कठिन तप करे, परन्तु यदि भेदविज्ञान नहीं है तो उसकी कोई भी क्रिया धार्मिक क्रिया नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसने विनाशीक पर्याय के आश्रय से अविनाशी आत्मा का काम माना है।

जिनागम में छह कोटि से, आठ कोटि से, या नव कोटि से सामायिक करना माना जाता है। मन-वचन-काय से पापादि करना नहीं, कराना नहीं, करते की अनुमोदन भी करना नहीं आदि। ज्ञानी ने ऐसा करके आस्रव पर से दृष्टि हटाकर स्वभाव पर ही दृष्टि रखी है, उसे ही ऊर्ध्व रखा है; इस तरह सामायिक में केवल आत्मा ही ऊर्ध्व रखा है। क्योंकि सामायिक में केवल आत्मा ही ऊर्ध्व (मुख्य) रहना भी चाहिए। आत्मा में एकाग्रता का होना ही वास्तविक सामायिक है।

शरीर-मन-वाणी, पुण्य-पाप से आत्मा को मुक्त होना है। और भेदज्ञान बिना मुक्ति होती नहीं। अत: सर्वप्रथम इनसे भेदविज्ञान करना परम आवश्यक है।

श्लोक ३३ के भावार्थ पर प्रवचन

जिससे छूटना चाहते हैं, उसको पहले जानना जरूरी है। उसे जाने बिना यह पता कैसे चलेगा कि बन्धन क्या है और छूटना किससे है ? तथा जिससे छूटना है, उसके स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक है। आत्मा को अधर्म से छूटना है और आत्मधर्म प्राप्त करना है। अत: धर्म एवं अधर्म दोनों का ज्ञान करना आवश्यक है।

आत्मा का स्वभाव धर्म है और आत्मा का विभाव (पुण्य-पाप) अधर्म है। अत: आत्मा का स्वभाव प्राप्त करने योग्य है और पुण्य-पाप छोड़ने योग्य हैं। पर - तरफ का लक्ष्य तो छोड़ने योग्य है ही, जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनसे भी छूटना है; क्योंकि पुण्य-पाप रूप विकारीभाव जहर

है। धन-कुटुम्बादि बाह्य पदार्थ हैं; इन सबका यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। तथा जिसको मुक्त होना है, वह आत्मा कैसा है - इसका भी यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। विकार व आत्मा जुदे - जुदे हैं - जिसे ऐसा भान नहीं है, उसकी तो मूल में ही भूल है। जिससे छूटना है, अज्ञानी उसी के सम्पर्क में - सान्निध्य में रहना चाहता है, उसे ही अपना शरणभूत मानता है।

जो जिससे छूटना चाहता है, उसे ही हितकर एवं मुक्ति का साधन मानता है। उसकी ऐसी मान्यता है कि पुण्य करने से मोक्ष मिलता है। यही तो उसकी मूल में भूल है। वह खून का धब्बा खून से धोना चाहता है। पुण्य स्वयं आत्मा का विकारी भाव है, विकार से विकार का नाश कैसे हो सकता है ? उसे यह निर्णय सर्वप्रथम करना चाहिए। पुण्य धर्म का कारण नहीं है। जिसे ऐसा भान नहीं है, वह अज्ञानी है। जिसके अवलम्बन से मुक्ति मिलती है, अज्ञानी को मूलत: उसी का भान नहीं है। वह तो केवल बाह्य व्रत-उपवास करके, रूखा भोजन करके दान-पुण्य व तीर्थयात्रा करके ही मुक्त होना चाहता है। उसे मूलभूत कारण का पता नहीं है। अत: उसके ये बाह्य व्रतादि भी उसे धर्म की प्राप्ति में निमित्त नहीं बनते।

आत्मा देहादि की कुछ संभाल आदि नहीं कर सकता। तथा देहादि भी आत्मा को धर्म प्राप्ति में साधनभूत नहीं बन सकते; क्योंकि दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों में अत्यन्ताभाव पड़ा है। एक को दूसरे का साधन मानना मूल में भूल है।

'दिगम्बर मुनिपना धारण करके अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करना भी राग है और राग आत्मा का स्वभाव नहीं है'। जिसे ऐसा श्रद्धान नहीं है तथा 'राग करते-करते वीतरागता आ जावेगी, निर्मल दशा प्रगट हो जावेगी' - ऐसा श्रद्धान है उसे किंचित् भी धर्मलाभ नहीं होता।

पुण्य-पाप विकार हैं, आत्मा निर्विकारी है। पर की क्रिया पर के कारण होती है, वह आत्मा को किंचित् भी मददगार नहीं है। जिसे ऐसा

भान नहीं है, उसे शुभाशुभ भावों के कारण अनुकूल संयोग भले मिल जावें, पर आत्मस्वभाव की अर्थात् धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

इज्जत-आबरू, पैसा एवं शरीर की अनुकूलता की इच्छा वाले की दृष्टि विभावों एवं बाह्य पदार्थों पर है, जबकि आत्मा विभावों व पर वस्तुओं से भिन्न है। अज्ञानी ऐसा सोचता है कि मैं शरीर का सदुपयोग करूँ, यौवन का सदुपयोग करूँ। एतदर्थ वह घोर तपश्चर्या से शरीर सुखाता है, आहार का त्याग करके, पानी न पीकर, शारीरिक कुम्भक-रेचक क्रियायें करके बाह्य साधन करता है। परन्तु, स्वभाव की प्राप्ति ही कुम्भक है तथा विभाव का नाश ही विरेचन क्रिया या रेचक क्रिया है - इसकी उसे खबर नहीं है। अतः उसे धर्म का लाभ नहीं होता।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है। उसे आत्मज्ञान द्वारा पुष्ट करना ही वास्तव में कुम्भक है। तथा पुण्य-पाप का नाश करना विरेचन करना है। और आत्मा पूर्ण द्रव्य है - उसका भान करना पूरक है। इसप्रकार कुम्भक, रेचक व पूरक क्रियायें आत्मा पर घटानी चाहिएं। कोरी शारीरिक कुम्भक, रेचक व पूरक क्रियाओं से धर्म का लाभ नहीं होता। राग व आत्मा के भेदज्ञान बिना धर्म की प्राप्ति नहीं होती। जो ऐसा मानता है कि मैं शरीर की क्रिया करता हूँ या कर सकता हूँ, वह कर्मबन्धन से नहीं छूटता। वह राग की या कषाय की मन्दता भी करे, तो भी उसे धर्म प्रगट नहीं होगा। जिससे छूटना है, उसे ही धर्म माने, वह तो अधर्म है। आत्मा के ज्ञानपूर्वक तपश्चर्या करने से स्वरूप में लीनता होती जाती है और इच्छायें घटतीं जातीं हैं। तब अतीन्द्रिय आनन्द का अंकुर फूटता है और धर्म की प्राप्ति होती है।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान व अनुभव बिना णमोकार मंत्र का जाप भी कार्यकारी सिद्ध नहीं होता। अपने स्वभाव में एकाग्रता बिना जप-तप सब निरर्थक हैं।

कोई शंकाकार प्रश्न पूछता है कि हे गुरुदेव ! मुक्ति के लिए घोर तपश्चरण तो आवश्यक है न? और घोर तपश्चरण में तो क्लेश होता है न? देखो ! भगवान महावीर ने भी साढ़े बारह वर्ष तक कठिन तपश्चर्या की थी। साधुपना कोई साधारण काम तो नहीं है। नग्न रहना, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास सहना, डाँस-मच्छरों की बाधा सहना, परीषह-उपसर्ग झेलना अपने-आप में कितनी कठिन साधना है!

उसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अरे भाई ! यदि तप दुःखरूप हो तो फिर आनन्दरूप क्या होगा ? अरे ! तपश्चर्या तो स्वयं आनन्दस्वरूप है और आनन्ददायक है। आत्मा स्वयं चिदानन्दमय है न ? और उस आनन्द में मग्न होने का नाम ही तो तप है। जब आत्मा अपने ज्ञानानन्दमय आत्मा में लीन हो जाता है, उस समय सिद्धों जैसा आनन्द आता है एवं बाह्य खाने-पीने, शीत-उष्ण आदि के संयोगों पर से सहज ही उपयोग छूट जाता है। उसी का नाम तो तप है। ऐसे तप में कष्ट का क्या काम ? वहाँ तो अतीन्द्रिय आनन्द ही आनन्द है।

जो ऐसा मानते हैं कि प्रतिमाओं में लिये गये नियमों के अनुसार व्रत-उपवास करने पड़ेंगे, मुनिव्रतों के अनुसार २८ मूलगुण पालने पड़ेंगे, शीत-उष्ण आदि परीषह सहने होंगे, प्रतिकूल उपसर्गादि झेलने पड़ेंगे - यह सब घोर कठिन व कष्टदायक साधना करनी पड़ती है, तब मुनिव्रतों का पालन होता है - वे तप के स्वरूप को ही नहीं जानते। यह सब तो अज्ञान है, बालतप है। ऐसा करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती, बंध ही होता है। जिसमें आकुलता हो, उससे मुक्ति कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती।

* * *

श्लोक ३४

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लाद निर्वृत्तः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुन्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

अन्वयार्थ :- (आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लाद निर्वृत्तः) आत्मा और देह के भेद विज्ञान से उत्पन्न हुए आह्लाद से जो आनन्दित है, वह **(तपसा घोरं दुष्कृतं भुन्जानः अपि)** तप के द्वारा, घोर-भयानक दुष्कर्मों को भोगता हुआ भी **(न खिद्यते)** खेद-खिन्न नहीं होता।

भावार्थ :- जिसको आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान वर्तता है, वह चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलता है। अतः उसे उपवासादि बारह प्रकार के तप सहज होते हैं। उनसे उसके मन में किसी तरह का खेद नहीं होता। तथा तपश्चरण के काल में घोर आकुलता का कारण उपस्थित होने पर भी उसके आनन्द में कोई बाधा नहीं आती। अर्थात् ऐसी परिस्थिति में भी वह खेदखिन्न नहीं होता।

श्लोक ३४ पर प्रवचन

जिसप्रकार सोना अग्नि से तप्त होने पर भी अपना सुवर्णत्व नहीं छोड़ता, उसीप्रकार ज्ञानी कर्म के उदय से तप्त होते हुए भी अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को नहीं छोड़ते।

साधक की निचली दशा में सम्यग्दृष्टी को कदाचित् रोगादि हो जावे, तो अस्थिरता के कारण उसे किंचित् आकुलता भी होती है तथा उस रोगादि के प्रतिकार करने की इच्छा भी होती है; परन्तु श्रद्धा-ज्ञान में शरीर के प्रति ममत्व का अभाव होने से उसमें स्वामित्व नहीं रहा, वह तो मात्र उसका ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। इस कारण स्वभाव दृष्टि के बल से जैसे-जैसे आत्म स्वभाव में स्थिरता प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे उसकी वीतरागता बढ़ती जाती है और राग-द्वेषादि का अभाव होता जाता है।

अर्थात् जितने अंश में वीतरागता प्रगट होती जाती है, उतने अंश में आकुलता का अभाव होता जाता है।

स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र तप से ही होता है। वह तप भी स्वरूप में ठहरने और चैतन्य के निर्विकल्पपने प्रतपनरूप है। अर्थात् आत्मा की शुद्धपर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन ही तप है। ऐसी समझ और स्वरूपाचरण के कारण ज्ञानी उदय में आये हुए प्रतिकूल संयोगों से खेद-खिन्न नहीं होता।

मुनिराज मन-वचन-काय की निश्चल गुप्ति द्वारा आत्मध्यान में इतने लीन हो जाते हैं कि उनकी स्थिर मुद्रा देखकर हिरण आदि पशु उन्हें पत्थर समझकर अपनी खाज खुजाते हैं। तो भी वे अपने ध्यान से विचलित नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते ज्ञानियों को तपश्चरणादि में होनेवाला कष्ट कष्ट-सा लगता ही नहीं है।

आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान वाले सम्यग्दृष्टि आनन्द में झूलते हैं। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उसमें से आनन्द प्रगट होता है। जिसे खेद होता है, उसके तपश्चर्या होती ही नहीं है। यह समाधि शतक है, इससे यहाँ आनन्द की बात उठाई है। सम्यग्दृष्टी के तप में आनन्द ही आनन्द प्रगट होता है। उपवासादि में क्षुधा-तृषाजनित खेद नहीं होता। अज्ञानी तो जैसे-तैसे समय बिताकर उपवास का काल पूरा करता है, पर ज्ञानी के ऐसा नहीं होता।

जिसको रागरहित ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का भान नहीं है, उसे उपवासादि तप में आकुलता हुए बिना नहीं रहती। उसे कदाचित् शुभभाव तो रहता है, पर वह उसे दुःखदायक जानता है। ज्ञानी को उपवास में आनन्द आता है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रसकंद है न ? उसे तो प्रतिकूल संयोग में भी आनन्द की वृद्धि होती है, खेद नहीं होता। सच्चा व्रत व तप उसे ही कहते हैं, जिसमें खेद न हो। जो देह की क्रिया को

अजीव की क्रिया मानता है, उसे खेद नहीं होता। आनन्द प्राप्त करने का उपाय भेद-विज्ञान है।

जब इस जीव को अनुभव में आत्मा व शरीर भिन्न-भिन्न भासित होते हैं, तब विषय सुख मिलाने की तथा उससे सुख प्राप्त करने की चिन्ता मिट जाती है। परपदार्थ में सुख नहीं है, आत्मा में सुख है - ऐसी मान्यता वाले के पर में से सुखबुद्धि टूट जाती है। अत: फिर उसे परपदार्थों के संग्रह करने की आकुलता नहीं रहती। धर्मी जीव को तपश्चरण के काल में आत्मा के आनन्द रूप जो एकाग्रता होती है, उसे ही तप कहते हैं।

संयोग-वियोग सब शरीर आश्रित हैं। जिसकी शरीर पर दृष्टि है, उसे दु:ख होता है। देहदृष्टि वाले के देह क्षीण होने पर दु:ख होता है और भेद-विज्ञान द्वारा ज्ञानी अपने आनन्द में मग्न रहता है। इसप्रकार भेदविज्ञान से ही यथार्थ आनन्द आता है।

* * *

श्लोक ३५

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत् तत्त्वं नेतरो जनः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ :- **(यन्मनोजलं)** जिसका मन रूपी जल **(रागद्वेषादि कल्लोलैः)** राग - द्वेषादि तरंगों से **(अलोलं)** चंचल नहीं होता **(सः आत्मनः तत्त्वं पश्यति)** वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है, आत्मा का अनुभव करता है। **(तत्तत्त्वं)** उस तत्त्व को **(इतरजनः)** राग - द्वेषादि से आकुलित चित्त वाला अन्य पुरुष **(न पश्यति)** नहीं देखता।

भावार्थ :- जिसका मन राग-द्वेषादि विकल्पों से आकुलित (चलित) नहीं होता, वह आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव करता है। अन्य कोई राग-द्वेषादि से आकुलित (अनात्मदर्शी) जन उस आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता। जिसतरह तंरगों से उछलते पानी में पड़ी वस्तु दिखाई नहीं देती, उसीतरह सविकल्प दशा में आत्मदर्शन नहीं होता। निर्विकल्प दशा में ही आत्मदर्शन होता है।

श्लोक ३५ पर प्रवचन

ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के आश्रय से अतीन्द्रिय आनन्द होता है। जिसका मनरूपी जल रागादि तरंगों से चंचल नहीं है, वह पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है, अनुभव करता है। जिसका चित्त परसन्मुख है, राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलित है, वह आत्मा के स्वरूप को नहीं देख सकता। चारित्र तो अतीन्द्रिय आनन्दमय है। जिसे ऐसे चारित्र के स्वरूप की खबर नहीं है, वह चारित्र को दुःखदायक मानता है।

यहाँ समाधि की बात चलती है। अतः कहते हैं कि आत्मा त्रिकाल आनन्दमय है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान-लीनता से जिसका अन्तर-आत्मा में

झुकाव हो गया है, उसे बाह्य में कुछ भी अनुकूलता-प्रतिकूलता भासित नहीं होती तथा उपसर्ग व परीषह में भी खेद नहीं होता।

चारित्र आत्मा का अनुसारी होने से सुखदायक ही है। यद्यपि लोग दिगम्बर जैन साधुओं की बाहर में कठिन साधना देखकर कहते पाये जाते हैं कि चारित्र तो मीन के दांतों से लोहे के चने चबाना है, कठिन तपस्या है। परन्तु सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। इसकारण ज्ञानी को चारित्र सुखदायक ही लगता है। चौथे गुणस्थान से ही अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रारम्भ हो जाता है। निश्चय श्रद्धान-ज्ञान बिना चारित्र नहीं होता तथा अतीन्द्रिय आनन्द और आत्मज्ञान का सहचारीपना है। जहाँ आत्मज्ञान है वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द है। हाँ, अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि और पूर्णता तो गुणस्थान बढ़ने पर क्रमशः ही होगी, परन्तु प्रारम्भ तो चौथे गुणस्थान में ही हो जाता है।

चारित्र में राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, शोक, उन्मादादि नहीं हैं। कोई दो घड़ी के लिए सामायिक करने की प्रतिज्ञा लेकर बैठे और काल पूरा होने पर अपने को थका-सा अनुभव करे एवं सामायिक के काल में कुछ बंधन-सा अनुभव करे, सामायिक पूरी होते ही थोड़ी राहत महसूस करे तो समझना चाहिए कि उसे चारित्र कष्टदायक लगता है। ज्ञानी को ऐसा नहीं लगता। ज्ञानी को तो आत्मा के अवलंबन से आनन्द की ही अनुभूति होती है।

जिसको सम्यग्दर्शन के उपरान्त स्वभाव के उग्र अवलंबन से तीन कषायों का नाश हुआ है, उसे तो निरंतर निराकुल शान्ति का ही वेदन होता है। उपसर्ग व परीषह का भी विकल्प नहीं रहता। साधक को जो अल्प राग आता है, वह अत्यन्त गौण है। अज्ञानी को स्वभाव की दृष्टि व स्थिरता नहीं होती। इसलिए उसकी दृष्टि में कुछ मुख्य-गौण नहीं होता।

श्लोक ३५ के भावार्थ पर प्रवचन

जिसतरह तरंगित जल में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, उसी तरह आत्मा की परसन्मुख वृत्ति होने से उसमें चंचलता होती है। इस कारण उसमें आत्मा का निजस्वरूप प्रतिभासित नहीं हो पाता।

परपदार्थों में कोई ठीक है, कोई ठीक नहीं है - इसप्रकार राग-द्वेष परिणाम होने से आत्मा की परिणति चंचल रहती है। इसकारण उसमें आत्मा का स्वरूप दिखाई नहीं देता।

निमित्त एवं पुण्य-पाप की उपेक्षा किए बिना, उस पर से दृष्टि हटाये बिना स्वसन्मुखता और शान्ति नहीं होती।

जहाँ यथार्थ निश्चयरूप आत्मदर्शन है, वहाँ इष्ट-अनिष्ट विकल्प नहीं होते, इसलिए आत्मदर्शन के लिए स्वरूप संवेदन द्वारा निर्विकल्प बनना चाहिए। जो मति-श्रुतज्ञान परसन्मुख भटकते हैं, उन्हें स्वसन्मुख करने से विकल्प व आकुलता मिटती है। वास्तव में आत्मज्ञान ही आत्मतत्त्व है। सविकल्प ज्ञान तो परसन्मुख रागमिश्रित भाव है, वह आत्मा नहीं है। मैं त्रिकाली निर्मल ज्ञान आनन्द का पिण्ड हूँ - ऐसे अभेद स्वभाव की अपेक्षा बिना और विभाव अर्थात् पुण्य-पाप की उपेक्षा बिना आत्मदर्शन नहीं होता। रागादि की उपेक्षा बिना स्वसन्मुखता नहीं होती।

अन्तर में स्वानुभव से उत्पन्न आनंद ही निराकुलता रूप सुख है। ब्राह्य में कहीं भी सुख नहीं है। शुभाशुभ संकल्प-विकल्प में सुख-शान्ति नहीं। घर, धन्धा, व्यापार, आबरू, स्त्री-पुत्र एवं निरोग शरीर आदि परद्रव्यों में किंचित् भी सुख नहीं है। मूर्ख व्यक्ति इनमें व्यर्थ ही सुख की कल्पना किया करता है।

सुन्दरजी भावसार का एक लड़का था। वह नाक में से मैल (जूजू) निकाल-निकाल कर खाया करता और उसमें आनन्द मानता था।

ठीक उसीप्रकार अज्ञानी स्त्री-पुत्रादि में सुख मानता है। बाहर से सुख की प्राप्ति मानना ही मिथ्या है।

यहाँ तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की बात है, जो निर्विकल्प आत्मानुभव से आता है। समाधितन्त्र में एकदम आत्मा के समीप रहने की बात है। जहाँ निर्विकल्प मन कहा हो, उसका अर्थ स्वसन्मुख होना है। भावमन मतिश्रुतज्ञान का विकार है। कहीं-कहीं मन को जड़ भी कहा है और कहीं मन का अर्थ आत्मा भी किया है। जहाँ जैसा प्रसंग हो वैसा समझना चाहिए। एकान्त खींचना ठीक नहीं है। मन के दो भेद किए हैं– (१) सकषाय मन (२) अकषाय मन। अकषाय मन अर्थात् ज्ञानरूप भावमन तथा बुद्धिपूर्वक रागसहित मन को सकषाय मन कहते हैं। यहाँ मन का अर्थ आत्मा है।

* * *

श्लोक ३६

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ :- (अविक्षिप्तं मनः) अविक्षिप्त मन **(आत्मनः तत्त्वं)** आत्मा का वास्तविक स्वरूप है और **(विक्षिप्तं आत्मनः भ्रान्तिः)** विक्षिप्त मन आत्मा की भ्रान्ति है। **(ततः अविक्षिप्तं धारयेत्)** इस कारण उस अविक्षिप्त मन को धारण करना **(विक्षिप्तं नाश्रयेत्)** तथा विक्षिप्त मन को धारण मत करना।

भावार्थ :- जो मन राग-द्वेष से विक्षिप्त नहीं होता, आकुलित नहीं होता, देहादि में आत्मबुद्धि नहीं करता और आत्मस्वरूप में निश्चल रहता है, वह आत्मतत्त्व है - आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। जो मन राग-द्वेष रूप परिणमित होता है, उससे विक्षिप्त होता है, देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, वह आत्मभ्रान्ति है, आत्मा का निजरूप नहीं है। इसलिए अविक्षिप्त मन आत्मतत्त्व होने से प्रगट करने योग्य है। और विक्षिप्त मन आत्मतत्त्व नहीं होने से हेय है, त्यागने योग्य है।

जब ज्ञानस्वरूप भावमन रागादि विभाव भावों से छूटकर आत्मा को शरीरादि बाह्यपदार्थों से भिन्न, चैतन्यमय, एक, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायकस्वभावरूप अनुभव करने लगता है तथा उसमें तन्मय हो जाता है, तब उस अविक्षिप्त अर्थात् निर्विकल्प भावमन को आत्मतत्त्व कहते हैं। परन्तु यदि उसमें विकल्प उठने लगते हैं, तो उस विक्षिप्त अर्थात् सविकल्प मन को आत्मतत्त्व नहीं कहते; वह आस्रव है। इसलिए आत्मार्थी को स्वसन्मुख होकर निर्विकल्प (अविक्षिप्त) मन को ही धारण करना चाहिए। उसी से आत्म-लाभ होता है।

श्लोक ३६ पर प्रवचन

रागादि और देहादि को अपना माननेरूप मिथ्याबुद्धि से रहित होने पर स्व-सन्मुख दृष्टि होने से जो स्वरूप में स्थिरता होती है, वह भावश्रुत ज्ञानरूप ही आत्मा का स्वरूप है। इसमें सातों ही तत्त्व आ गये। आत्मा ज्ञानानन्दमय है - ऐसा मानने पर शरीर आदि अजीव तत्त्व सिद्ध हुए, रागादि से आस्रव व बन्ध तत्त्व सिद्ध हुए, रागादि की उपेक्षा करने से संवर व निर्जरा तत्त्व सिद्ध हुए और सम्पूर्ण रागादि रहित होने से मोक्ष तत्त्व सिद्ध होता है।

इसप्रकार राग-रहित कहने पर सातों ही तत्त्व सिद्ध होते हैं। उनमें जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये स्व तथा अजीव, आस्रव, बंध पर हैं - इसतरह स्व-पर सिद्ध हुए। इनमें स्वतत्त्व उपादेय हैं एवं परतत्त्व हेय हैं।

स्वभावरूप अतीन्द्रिय आनन्द का भान होने पर भी जो राग होता है, उसे व्यवहार कहते हैं। अज्ञानियों के क्रियाकाण्ड को तो व्यवहार भी नहीं कहते।

यह समाधितन्त्र शास्त्र आचार्यश्री पूज्यपाद ने बनाया है। यहाँ मन को भी अविक्षिप्त कहा है। उन्होंने आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में लीन ज्ञान को ही इस श्लोक में अविक्षिप्त मन कहा है, और उसे ही आत्मतत्त्व कहा है। यहाँ स्थिरता को आत्मा कहा है। यद्यपि स्थिरता तो संवर निर्जरा है, पर्याय है; तो भी उसे आत्मा कहा है। क्योंकि स्वभाव के आश्रय से जो निर्मल ज्ञानानन्द प्रगट हुआ है, उसे आत्मा में अभेद करके ऐसा कहा है। परिणमन अभेद हुआ है; इसलिए उसे भी आत्मा का तत्त्व कहा है। वही असली स्वरूप है।

जो आत्मा के ऐसे वास्तविक स्वरूप को चूककर पुण्य-पाप विकाररूप हुआ, उसे विक्षिप्त मनवाला कहा है। उसे ही स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य होने से विभ्रम भी कहा गया है। महाव्रत के परिणाम भी पुण्य

परिणाम हैं। वे आत्मा के असली स्वरूप नहीं हैं। अत: जो उन्हें धर्म माने या उनसे आत्मा का लाभ माने, वे भेदज्ञान से शून्य हैं। उन्हें आत्मा की भ्रान्ति है।

अन्यमत वाले कहते हैं कि आत्मा में भ्रान्ति नहीं है; किन्तु मन में भ्रान्ति है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य जो भ्रान्ति हुई है, वह आत्मा की ही है, आत्मा का विक्षिप्त मन है। यद्यपि वह आत्मा का निजरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है; फिर भी आत्मा के कारण हुई है, पर के कारण या कर्म के कारण नहीं। भ्रान्ति के कर्ता-कर्मादि छह कारक जीव के स्वयं के हैं।

अन्दर में आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं होना और आकुलता में अटकना ही भ्रान्ति है। आत्मा ने ही कर्ता होकर उसे किया है; अत: आत्मा भ्रान्ति का कर्ता है और वह भ्रान्ति आत्मा का कर्म है। वह कर्म या कार्य आत्मा से स्वयं से हुआ है, स्वयं के लिए हुआ है, स्वयं के द्वारा हुआ है और स्वयं के आधार से हुआ है। इसप्रकार भ्रान्तिरूप कार्य के कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप छहों कारक आत्मा में ही हैं, अन्यत्र नहीं।

पुण्य-पाप के परिणामों से भेदज्ञान करके उनसे रहित हो, शुद्ध ज्ञानस्वभाव की ओर झुककर अपने में रागादि भाव नहीं होने देना चाहिए। खाना-पीना वगैरह तो जड़ की क्रिया है, उससे आत्मा को क्या लाभ ? जड़ की क्रिया से भिन्न होकर पुण्य-पाप के विकारी भावों से रहित हो मन को अविक्षिप्त करना और ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना धर्म है -

क्लेशसहित मन वह संसार, क्लेशरहित मन वह भवपार।
विषयसहित मन वह संसार, विषयरहित मन हो भवपार॥

किन्तु क्लेश और विषय रहित मन किसे कहा जाये ? आत्मा का एवं स्वपर का यथार्थ स्वरूप समझे बिना क्लेश और विषय से रहित कैसे हो सकते हैं ?

आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना यदि व्रत-प्रतिमा वगैरह ले लें तो उसमें धर्म नहीं होता। व्रत-प्रतिमा तो आत्मा का सच्चा भान होने के बाद की विशेष शुद्धि का नाम है। कहा भी है -

संयम अंश जग्यो जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताकौ नाम॥

सम्यग्दर्शन हुए बिना दर्शन प्रतिमा भी नहीं हो सकती तो व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषध आदि सभी प्रतिमायें तो आत्मा की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विशुद्धि के नाम हैं। अत: सम्यग्दर्शन बिना वे कैसे हो सकतीं हैं?

अन्तरंग में दया, दान, भक्ति आदि के जो विकल्प होते हैं, उन्हें आत्मा का स्वरूप मानना भ्रान्ति है।

आत्मा के आश्रय से ही चित्त शान्त होता है। बाह्य कारण के आश्रय से न शान्ति होती है, न अशान्ति।

रागादि विभावों से रहित होकर जिस समय ज्ञानस्वरूप शुद्ध मन शरीरादि बाह्य पदार्थों से आत्मा को भिन्न करके एक चैतन्यमय टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है, उसमें तन्मय हो जाता है; उस अविक्षिप्त (निर्विकल्प) मन को आत्म-तत्त्व समझना चाहिए। आत्मा के आश्रय से ही संकल्प-विकल्प रहित शान्ति होती है।

लोक में ऐसी मन्यता है, कि जो अधिक खुराक खाता है, उसका मन विक्षिप्त कहलाता है और जो कम खुराक खांते हैं, उनका मन अविक्षिप्त कहलाता है। परन्तु यह कथन सच नहीं है; क्योंकि आहार तो पर पदार्थ है, उसे तो आत्मा खा ही नहीं सकता। आहार का ग्रहण आत्मा को मानना मूल में ही भूल है। उससे मन को विक्षिप्त व अविक्षिप्त होने का क्या सम्बन्ध है ?

अविक्षिप्त अर्थात् निर्विकल्प मन को आत्मतत्त्व जानना। यहाँ इस प्रकरण में संवर, निर्जरा, मोक्ष को जीव में शामिल करके बात की है। तथा पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध को अजीव में शामिल किया है।

पुण्य-पाप में लाभबुद्धि होना ही आत्मभ्रान्ति है। इसलिए पुण्य-पाप में लाभबुद्धि न करके स्वद्रव्य में ही लाभ बुद्धि करके स्वभाव में झुकना चाहिए। ज्ञानानन्द स्वभाव की ओर झुकने का नाम ही समाधि है; और विकार की ओर मन के झुकाव का होना असमाधि है।

* * *

श्लोक ३७

अविद्याभ्यास संस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञान संस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ :- (अविद्याभ्यास संस्कारैः) अविद्या के अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा **(मनः)** मन **(अवशं)** स्वाधीन न रहने से **(क्षिप्यते)** विक्षिप्त होता है। **(ततएव)** वही मन **(ज्ञानसंस्कारैः)** भेदज्ञान के संस्कारों द्वारा **(स्वतः)** अपने आप **(तत्वे)** आत्मस्वरूप में **(अवतिष्ठते)** स्थिर होता है।

भावार्थ :- शरीरादि पर - पदार्थों में आत्मबुद्धि करना अज्ञान है, अविद्या है। उनमें बारम्बार प्रवत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों से पराधीन होकर मन रागी-द्वेषी बन जाता है - विक्षिप्त हो जाता है। तथा वही मन भेदज्ञान के संस्कारों से स्वतः अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।

श्लोक ३७ पर प्रवचन

शरीर जड़ है, अपवित्र है, अस्थिर है तथा पर है। उसमें आत्मा की कल्पना करके उसको चेतन, पवित्र, स्थिर और अपना मानना; ज्ञान और राग को एक मानना और शुभभावों से धर्म मानना अविद्या है - अज्ञान है। इस अज्ञानता की औंधी मान्यता को बारम्बार अन्दर घोंटने से और तदनुसार आचरण करने से वासना रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन संस्कारों से मन अपने वश में या स्वाधीन नहीं रहता, किन्तु पराधीन हो जाता है।

अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के आधीन होकर जीव क्षुब्ध हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। ऐसे राग-द्वेष से आकुलित मन बाह्य विषयों में ही प्रवर्तता है। ज्ञान स्वरूप में स्थिर नहीं होता।

मैं शरीरादि से और राग-द्वेष आदि विकारों से भिन्न, स्थिर और ज्ञायक स्वरूपी हूँ। ऐसे स्व-पर के भेदविज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान-संस्कारों से वही मन स्वयं स्वाधीनपने अपने ही कारण रागद्वेष से रहित होता है- अविक्षिप्त होता है और स्वरूप में स्थिर होता है।

शुद्धात्मा की बारम्बार भावना भाने से ज्ञान के संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों की मदद से मन रागद्वेष से रहित होकर समाधि में स्थिर होता है।

'मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मा हूँ; शरीर, मन वाणी रूप नहीं हूँ' ऐसी बारम्बार भावना भाने से उसके संस्कार दृढ़ होते हैं और उन संस्कारों से चेतन स्वरूप में स्थिरता प्राप्त होती है। इसलिए ज्ञान का संस्कार समाधि का कारण है और अज्ञान का संस्कार असमाधि का कारण है।

ज्ञान के संस्कारों द्वारा ज्यों - ज्यों स्वरूप में स्थिरता होती जाती है त्यों - त्यों राग द्वेषादि भाव छूटते जाते हैं और वीतरागता बढ़ती जाती है। इस कारण मन जब तक बाह्य विषयों से हटकर आत्म स्वरूप में स्थिर न हो तब तक आत्म तत्त्व की भावना करते रहना चाहिए।

श्री समयसार कलश १३० में कहा है कि—

भावयेद भेदविज्ञानमिदमव छिन्नधारया।
तावद्यावत्परच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते॥

जिसमें विच्छेद न पड़े एसे अखण्ड प्रवाह रूप से जब तक परभावों से छूटकर ज्ञान ज्ञान में न मिल जाये तब तक भेदविज्ञान की भावना भाते रहना चाहिए।

जो शरीर को पवित्र मानता है, वह आत्मा की पवित्रता को नहीं पहचानता। शरीर मेरा स्वभाव नहीं है; आत्मा के सिवाय शरीरादि कोई पर पदार्थ मुझे इष्ट नहीं है; मेरा स्वभाव ही मुझे इष्ट है - ऐसा जाने तभी आत्मा की पवित्रता की पहचान माना जायेगा।

जिसने शरीर को इष्ट माना, उसने विकार को इष्ट माना; स्वभाव को इष्ट नहीं माना। जो शरीर की और आहार-पानी की स्वच्छता से आत्मा का धर्म-लाभ मानता है, उसने सच्चे धर्म को नहीं जाना। उसने विकार रहित आत्मा के स्वभाव को नहीं पहचाना।

आत्मा में विकार का होना मानना भी अनिष्ट है, और ऐसा मानने से विकार के निमित्तभूत शरीरादि भी उपचार से अनिष्ट कहे जायेंगे।

शरीर निरोग हो तो मेरी धार्मिक क्रिया हो सकेगी, रोगी होगा तो धार्मिक क्रिया नहीं हो सकेगी - ऐसा मानना अज्ञान है, अविद्या है।

'उपदेश से मुझे लाभ होता है' जो ऐसा मानते हैं वे वाणी को पवित्र मानकर उससे ही लाभ मानते हैं। सो उन्होंने निमित्त से लाभ होना माना और ज्ञानस्वभावी आत्मा को पवित्र नहीं माना।

अहा ! कितनी सूक्ष्म बात है ! मुनि उद्दिष्ट आहार के त्याग से यदि ऐसा माने कि उद्दिष्ट आहार के त्याग से मेरा परिणाम सुधर जायेगा, वह पर से आत्मा का लाभ मानने वाला होने से अविद्या के संस्कार वाला है, अज्ञानी है।

भावेन्द्रियों के लक्ष्य से अपनी पर्याय का खण्ड-खण्ड ज्ञान होता है; उससे भी आत्मा को कोई लाभ नहीं है। उसका भी लक्ष्य छोड़कर आत्मा के अतीन्द्रिय अखण्ड ज्ञान स्वभाव की ओर ढलने से ही जितेन्द्रिय जिन कहा जाता है। समयसार की ३१वीं गाथा में भी यही बात कही गई है।

संयोग से देखनेवालों की दृष्टि विपरीत ही होती है। खण्ड-खण्ड इन्द्रियों की रुचि छोड़कर एवं उनके विषयों की भी रुचि छोड़कर अपने ज्ञानोपयोग को स्वभाव की ओर झुकाये तो उस ज्ञान से आत्मा को लाभ होता है।

यदि खण्ड-खण्ड भावेन्द्रियों को अपना माने तो उनके लक्ष्य से राग-द्वेष नहीं टलते। स्वाधीन न रहने से तथा खण्ड-खण्ड विषयों के आधीन हो जाने से मन विक्षिप्त हो जाता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि शब्द कान में पड़ने से मुझे ज्ञान होता है। शब्द के बिना शब्द का ज्ञान नहीं होता— ऐसा माननेवाले ने पर से अपना लाभ होना माना। उसने अपने ज्ञानस्वभाव से अपना लाभ नहीं माना। अत: वह चाहता है कि निमित्त सदैव मेरे सामने रहे, क्योंकि उसी से ज्ञान होता है; परन्तु ऐसी मान्यता अज्ञान है। इसीकारण उसके ज्ञान को विक्षिप्त कहा है। वह ज्ञानस्वभाव का निरन्तर आश्रय तो रखना नहीं चाहता, मात्र बाह्य आचरण करके यह चाहता है कि शारीरिक अनुकूलता रहे, शुद्ध आहार-पानी समय पर बराबर मिलता रहे, बाह्य व्रतादि पालन करता रहूँ। वह इसी से अपना मन पवित्र होना मान बैठा है। इसकारण उसके संयोग और विकार की भावना रहती है। संयोग से धर्मलाभ माननेवाले का सब हिसाब उल्टा ही होता है।

कितने ही अपनी मान्यता की पुष्टि में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि एक मुनि आहार लेने गये थे। उन्हें किसी ने चोरी से लाये धन से बना आहार दे दिया। मुनि ने वह आहार खाया, इसकारण उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई और उन्हें चोरी का भाव आ गया। कहा भी है - 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन, जैसा पीवै पानी, वैसी बोले वाणी' - वे ऐसी लोकोक्तियाँ निमित्ताधीन दृष्टि की पुष्टि के वश दिया करते हैं। ऐसा मानना और अर्थ का अनर्थ करना - यह कार्य ठीक नहीं है। पर से परिणाम बिगड़ते ही नहीं हैं, अपनी भूल से परिणाम बिगड़ते - सुधरते रहते हैं।

कोई कहे कि यह मकान मेरे मन पसंद नहीं है, इसकारण मेरा परिणाम बिगड़ता है। उससे पूछते हैं कि अरे भाई ! यदि मकान के कारण परिणाम बिगड़ता हो तो मुनिराज तो श्मशान में रहते हैं, जंगल में रहते हैं, फिर भी उनका परिणाम क्यों नहीं बिगड़ता ? इससे सिद्ध होता है कि निमित्त के कारण परिणाम नहीं बिगड़ते, परद्रव्य के कारण किसी

को हानि-लाभ नहीं होता। खण्ड-खण्ड इन्द्रियों से एवं उनके विषय-भूत पदार्थों से आत्मा को लाभ नहीं होता। अरे ! पर - तीर्थक्षेत्र भी आत्मा को पवित्र होने के कारण नहीं हैं। अज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान नहीं है, इससे उसका मन विक्षिप्त हो जाता है।

अरे भाई ! ऐसा विचार कर कि मैं तो परद्रव्य को मात्र जानने-देखने वाला हूँ - ज्ञाता-दृष्टा हूँ। राग-द्वेष, पुण्य-पाप आत्मा के विकार हैं। मेरे स्वभाव की अपेक्षा पुण्य-पाप आदि सब विकार हैं तथा ज्ञानी की अपेक्षा ये सब ज्ञेय हैं। ऐसा जानने से ही अविद्या का संस्कार नष्ट होता है; ज्ञान, परिणाम, अविक्षिप्त मन, समाधि आदि की प्राप्ति होती है। समाधि में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं।

मैं तो केवल ज्ञायकस्वभावी हूँ - ऐसा बारम्बार अभ्यास करना ही ज्ञान का - विद्या का संस्कार है। और ऐसा करने से स्वरूप में सावधानी होती है, तभी आत्मा को आत्मलाभ होता है; और तब बाह्य अनुकूल परद्रव्य को उसका निमित्त कारण कहा जाता है।

यहाँ अविक्षिप्त मन का अर्थ जड़ मन या संकल्प-विकल्प नहीं समझना, किन्तु विकार से रहित ज्ञान का स्वरूपसन्मुख होना समझना। जड़मन आत्मा को लाभदायक नहीं है। जो भावेन्द्रियों को भी लाभदायक माने, वह भी मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी है। जब तक भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और निमित्तादि सबका लक्ष्य छोड़कर आत्मा को अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव नहीं आता, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मन के ऐसे भी दो भेद हैं - विक्षिप्त मन व अविक्षिप्त मन।

जबतक ज्ञान का पर, विकार और इन्द्रियों की ओर झुकाव है, तबतक विक्षिप्त मन या अविद्या का संस्कार होने से उसे विक्षिप्त मन कहा है। तथा जब निमित्त व विकार का लक्ष्य छोड़कर आत्मा को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने पर आत्मा के स्वरूप में स्थिरता हुई, उसे अविक्षिप्त मन कहते हैं। इसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और धर्म कहते

हैं। अकेले शान्त और अनाकुल चैतन्य स्वभाव की ओर झुकाव होने से ही समाधि और शान्ति प्रगट होती है। इसे ही स्व तत्त्व में अवस्थित होना कहते हैं।

भेदज्ञान से ही साध्य का निर्णय और साध्य की सिद्धि होती है। यहाँ मन के दो भाग करके बात कही है - एक, अविद्या के संस्कारों द्वारा स्वयं पराधीन हुआ विक्षिप्त मन और दूसरा, वही मन जब ज्ञान संस्कार के द्वारा स्वतत्त्व में लीन होता है, अविक्षिप्त हो जाता है, उसे ही स्थिर मन, समाधियुक्त मन या शान्त मन कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि मन के विक्षिप्त होने का मूल कारण अज्ञान है। जिसका मन अपने स्वभाव की ओर झुकता है, वह मन विक्षिप्तता रहित हो स्वरूप की शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

जब ऐसा विचार आता है कि संज्ञीपना हो, मनुष्यपना हो, परपदार्थों की अनुकूलता हो, तो ठीक रहे - बस यही संस्कार अज्ञानमय संस्कार है, अविद्या का संस्कार है। ऐसे विचारों से ज्ञान पराधीन हो जाता है।

यहाँ यह नहीं कहा कि ज्ञान ज्ञानावरण आदि कर्म के कारण पराधीन होता है, बल्कि यह कहा है कि अपने अपराध से स्वयं पराधीन हो जाता है और स्वयं ही अपने मन को, ज्ञान को विक्षिप्त करता है।

देखो, एक ओर भगवान ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा और दूसरी ओर विकार। विकार में इन्द्रियों को, इन्द्रियों के विषय और निमित्त को भी शामिल किया है।

यहाँ यदि कोई यह तर्क करे कि विकार आना था सो आ गया, इसमें मेरा क्या दोष ? उससे कहते हैं कि भाई यह बात ठीक है कि पर्याय की अपनी स्वतंत्र योग्यता है; पर जब विकार हुआ, उस समय तेरी दृष्टि कहाँ थी ? यदि अमृत स्वभाव पर दृष्टि होती तो विकार होता ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय तेरी दृष्टि भी पर या पर्याय पर ही थी, स्वभाव पर नहीं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सहज सम्बन्ध है - इसे भी

नहीं भूलना चाहिए। जिसकी अमृत स्वभाव पर दृष्टि होती है, वह तो अपने अमृत स्वभाव में हुए विकार को भी मात्र जानता ही है, उस विकार का भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। ऐसी स्थिति में उसे संवर और निर्जरा उपादेय तथा विकार - आस्रव, बन्ध स्वयं हेय हो जाते हैं।

प्रवचनसार की ६१वीं गाथा में भी कहा है कि अपनी पर्याय में जो विकार है, वह अनिष्ट है। भगवान केवली के सर्व अनिष्ट का नाश हो गया है। वस्तुतः पंच परमेष्ठी आदि परपदार्थ अनिष्ट नहीं हैं, वे तो ज्ञेय हैं।

नियमसार के शुद्धोपयोग अधिकार की पहली गाथा में कहा है कि अपना निज आत्मा उपादेय है और जीवादि बहिर्तत्त्व हैं। इसलिए पंचपरमेष्ठी आदि पर निमित्तों को अनिष्ट नहीं कहते बल्कि ज्ञेय कहते हैं।

(१) जिन्हें परपदार्थ पूर्ण अनिष्ट प्रतीत होते हैं, वे अज्ञानी बाधक जीव हैं।

(२) जिन्हें आंशिक इष्ट की प्राप्ति हो गई एवं आंशिक अनिष्टता शेष है, उसे साधक जीव कहते हैं। अर्थात् जिन्हें श्रद्धा में तो पूर्ण इष्ट-अनिष्ट की कल्पना उड़ गई है, परन्तु आचरण में अभी इष्ट-अनिष्ट भासित होता है; वे साधक हैं।

(३) जिनको समस्त अनिष्ट भाव का नाश हो गया है, और पूर्ण इष्टपना प्रगट हो गया है, पूर्ण साध्य प्रगट हो गया है; वे अरहंत केवली हैं।

इस प्रकार परद्रव्य में आत्म-बुद्धिरूप अज्ञान के संस्कारों को छोड़कर स्व-पर के भेदविज्ञान के अभ्यासरूप ज्ञान के संस्कार दृढ़ करने से आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। और इसीप्रकार के उद्यम से आत्मा के स्वरूप में स्थिरता - लीनता होती है। अतः सबको एक यही पुरुषार्थ कर्त्तव्य है।

* * *

श्लोक ३८

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।

नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ :- (यस्य चेतसः) जिसके मन में **(विक्षेपः)** रागादि परिणाम होते हैं **(तस्यैव)** उसे ही **(अपमानादयः)** अपमानादिक भाव होते हैं। तथा **(यस्य चेतसः)** जिसके मन में **(क्षेपः न)** रागादि भाव नहीं होते **(तस्य)** उसके **(अपमानादयः न)** अपमानादि भाव नहीं होते।

श्लोक ३८ पर प्रवचन

जिनका चित्त आत्मा में लगा है, उन्हें मान-अपमान जनित दुःख नहीं होता। उनका मन ज्ञान के उग्र संस्कार से स्वतत्त्व में स्थिर होता है। अतः मानापमान की मानसिक पीड़ा उन्हें प्रभावित नहीं करती।

अब कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव की भावना से जिसने अपने चित्त को स्वरूप में एकाग्र करके अविक्षिप्त किया है, उसे मान-अपमान से विक्षेप नहीं होता। तथा जिसका चित्त चैतन्यभाव में एकाग्र नहीं हुआ, उसे ही मानापमान से चित्त में विक्षेप - क्षुब्धता होती है।

जिसका चित्त चैतन्य की भावना में नहीं ठहरा है, जिसके चित्त में राग-द्वेष रूप विक्षेप होता है, उसे मानापमान का दुःख महसूस होता है। परन्तु जिनका चित्त चैतन्य की भावना में ठहरने लगा है, स्थिर होने लगा है, जिनके चित्त में राग-द्वेषरूप विक्षेप नहीं वर्तता, उन्हें दोनों ही स्थितियों में साम्यभाव वर्तने लगता है।

इसने मेरा सम्मान किया, उसने मेरा अपमान किया, अमुक ने तिरस्कार किया और अमुक ने निन्दा की - ऐसी मानापमान की कल्पना जीव को तभी तक सताती है, जब तक कि उसका चित्त अपने ज्ञानस्वभाव में नहीं ठहरता। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेषादि विभावों में वर्तते हुए जीव को ही मान-अपमान की कल्पना से दुःख होता है।

इसके विपरीत जिनका चित्त राग-द्वेष-मोहरूपी विभावों से दूर होकर अपने ज्ञानस्वरूप में ठहर गया है, उसे इसप्रकार की मान-अपमान की कल्पनायें नहीं सतातीं। चैतन्य के आनन्द में लीन होने पर, कौन मेरी स्तुति करता है और कौन मेरी निन्दा करता है - ऐसे विकल्प भी नहीं उठते। उनको सर्वत्र समभाव ही वर्तता है।

कहा भी है -

शत्रु-मित्र प्रति वर्ते मम सम दर्शिता,
मान-अमान में वर्ते वही स्वभाव जो।
जीवन-मरण समय नहीं न्यूनाधिकता,
संसार-मोक्षे पण वर्ते समभाव जो।

अहा ! ऐसी होती है संतों की समाधि दशा ! ऐसी वीतरागी समाधि हमारे जीवन में कैसे हो ? उसका उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि —

जो ज्ञानस्वभाव का भान करके उसमें एकाग्रता के दृढ़ संस्कार से आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न करे तो उसे ऐसी वीतरागी समाधि प्राप्त हो सकती है। वीतरागी समाधि प्राप्त करने का यही उपाय है। ज्ञानी विचार करता है कि मेरे ज्ञानस्वभाव के सिवाय अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, मुझे इन्द्रियों का आधार नहीं है, मुझे राग की शरण नहीं है। ऐसी भावना वाले ज्ञानी को परद्रव्य से मान-अपमान नहीं लगता। वह विचारता है कि मेरी महत्ता तो मेरे ज्ञानस्वभाव से ही है। मेरे स्वभाव की महत्ता को तोड़ने के लिए जगत में कोई समर्थ नहीं है।

इसप्रकार जिसको अपने स्वभाव की महत्ता तो भासित नहीं होती और परसंयोगों से ही अपनी महत्ता - अपना बड़प्पन लगता है, ऐसे अज्ञानी को मान-अपमान का भाव आये बिना नहीं रहता। यदि कोई अपमानजनक व्यवहार करता है तो उसे ऐसा लगता है कि मेरा तो सर्वस्व

ही छिन गया है। और यदि कोई आदर-सत्कार करता है, सम्मान सूचक व्यवहार करता है तो ऐसा अनुभव करता है कि मानो मेरे आत्मा की ही शक्तियाँ बढ़ गईं हैं, स्वभाव में ही कुछ वृद्धि हो गयी है।

अज्ञानी के ऐसी मानापमान की वृत्ति होती है। जबकि ज्ञानी के ऐसी मानापमान की वृत्ति नहीं होती; क्योंकि वह परसंयोगों से अपने आत्मा की हीनता या वृद्धि नहीं मानता। अस्थिरता के कारण अर्थात् चारित्र मोहोदयजनित कमजोरी के कारण जो थोड़ा सा मानापमान का परिणाम होता है, उसमें उसके स्वभाव की भावना रहने से विशेष हर्ष-विषाद नहीं होता। वह उस कमजोरी का भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है।

मुनिराजों के ध्यान में तो मानापमान की वृत्ति ही नहीं उठती, क्योंकि उन्हें वीतराग चारित्र प्रगट हो गया है। समकिती गृहस्थ के अभी इतना वीतराग चारित्र नहीं हुआ है, परन्तु परसंयोग के प्रभाव बिना अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि प्राप्त हुई है, अज्ञान का संस्कार छूट गया है, ज्ञानस्वभाव की महिमा आई है। इस कारण उसे अनन्त शक्ति सम्पन्न ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के समक्ष अन्य किसी बाह्य पदार्थ की महिमा नहीं आती और उन बाह्य संयोगों से अपना बड़प्पन भी भासित नहीं होता।

इसीप्रकार बाह्य संयोगों की कमी या अभाव के कारण कोई अनादर की दृष्टि से देखता है, तो उसकी भी ज्ञानी को परवाह नहीं होती, उससे भी वह प्रभावित नहीं होता। कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, ज्ञानी दोनों ही स्थितियों में साम्यभाव रखता है।

वह सोचता है कि मैं तो निन्दा-प्रशंसा के भावों व उसप्रकार के संयोगों से पृथक् ज्ञान-स्वरूप हूँ। निन्दा व प्रशंसा के शब्द मुझे तो छूते भी नहीं हैं। प्रशंसा करनेवाला या निन्दा करनेवाला राग-द्वेष के भाव करके अपना ही अहित करता है। अतः वह क्रोध का पात्र नहीं, बल्कि करुणा का पात्र है। कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, मैं तो उन दोनों प्रकार

के भावों से त्रिकाल भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ। निन्दा-प्रशंसा के शब्द मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। वे मेरे स्वरूप को कुछ भी हानि या लाभ नहीं करते।

ऐसा विवेक जागृत हो जाने से ज्ञानी के मान-अपमान की बुद्धि छूट जाती है। यदि कदाचित् थोड़ी-बहुत राग-द्वेष की वृत्ति जग भी जावे तो ज्ञानी उसे परकृत न मानकर अपने पुरुषार्थ की ही कमजोरी मानते हैं। तथा धीरे-धीरे अपने प्रबल पुरुषार्थ से उस कमजोरी को भी निकाल देते हैं।

इसके विपरीत अज्ञानी के ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं होती, संयोग की ही भावना रहती है। वह संयोगों से ही अपनी हीनता व अधिकता मानता है। अनुकूल संयोग में अपना मान-सम्मान और बड़प्पन मानता है। इसकारण अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में उसे राग-द्वेष होते रहते हैं। अपने अज्ञान के कारण उसको सर्वत्र अपना मानापमान ही भासित होता रहता है।

'मैं तो संयोगों से भिन्न ज्ञायक - स्वभावी हूँ। जगत में मेरे लिए कोई भी परपदार्थ अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है। मेरे लिए तो सभी परपदार्थ ज्ञेय हैं।' - ऐसी स्वभाव भावना के कारण ही मान - अपमान की वृत्ति टूटकर समाधि व शांति प्राप्त होती है।

चक्रवर्ती भरत और बाहुबली दोनों ही चरम शरीरी सम्यग्दृष्टि थे। जब बड़े भाई भरतजी ने अपने अनुज बाहुबली से अपनी आधीनता स्वीकार करने व नमन करने को कहा, तो बाहुबली को ऐसा विचार आया कि हमारे पिताश्री ने हम दोनों को ही पृथक्-पृथक् राज्य दिया है। अतः यदि भरतजी राजा हैं तो मैं भी तो राजा हूँ; तब फिर मैं भरतजी की आधीनता क्यों स्वीकार करूँ? यद्यपि वे बड़े भाई के नाते मेरे पूज्य हैं, नमस्कार करने योग्य हैं, पर राज्याधिकार के कारण मैं उन्हें क्यों नमूँ ?

इसप्रकार बाहुबली में जरा-सी मान की वृत्ति आ गई। दोनों के बीच लड़ाई होने पर जब भरत जी हार गये, तब उन्हें थोड़ा-सा अपमान का भाव जागृत हुआ। तथापि उन दोनों धर्मात्माओं के उस समय भी ज्ञानस्वभाव की ही भावना वर्तती थी। ज्ञानस्वभाव की वृत्ति छूटकर राग-द्वेष की वृत्ति नहीं हुई थी, ज्ञान स्वभाव की ही अधिकता थी। मानापमान की वृत्ति हुई, इसकारण वे उस समय अज्ञानी नहीं हुए; क्योंकि अन्तर में ज्ञानभावना का जोर था। ज्ञानभावना के जोर के कारण उनका ज्ञान मानापमान रूप परिणमित नहीं हुआ। अज्ञानी को इस बात की पहचान नहीं होती। जो ज्ञान-भावना को छोड़कर अज्ञान के कारण संयोगों में मानापमान की बुद्धि करते हैं, वे अज्ञानी हैं।

जिनको ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है, ऐसे अज्ञानियों को ही बाह्यदृष्टि से एकान्त मानापमान रूप परिणमन होता है। ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञान का ही परिणमन होता है, मानापमान नहीं होता। क्षणिक राग-द्वेष की जो वृत्ति होती है, वे उस वृत्ति को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न ही जानते-मानते हैं। तथा ज्ञानस्वभाव की भावना द्वारा ज्ञान ही का अधिकता रूप से परिणमन करते हैं। ज्ञानी की ऐसी आत्मभावना को अज्ञानी पहचानता नहीं है। इसकारण वह ज्ञानी की जरा-सी भी राग-द्वेष वृत्ति देखकर भ्रमित हो जाता है। वह सोचता है कि ज्ञानी के तो राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। जिसके राग-द्वेष हो वह ज्ञानी कैसा ? उस बेचारे को पता नहीं कि आत्मज्ञानी के भी ऐसी कमजोरी रह सकती है। हाँ, उस कमजोरी के रहते हुए उसी काल में ज्ञानी राग-द्वेष से अधिक अपनी ज्ञान भावना रूप से ही परिणमता है। उसका यह ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानी को दिखाई नहीं देता; क्योंकि उसको स्वयं में ऐसी ज्ञानभावना जागृत नहीं हुई है।

यहाँ यह कहते हैं कि जिसके ज्ञानभावना जागृत नहीं हुई, वही संयोगों में मान-अपमान की कल्पना करके राग-द्वेष रूप से परिणमता है।

ज्ञानी तो ज्ञानभावना रूप से ही परिणमता है। उसे संयोगों में मान-अपमान की कल्पना से राग-द्वेष रूप परिणमन नहीं होता।

हे जीव ! तू अपने चित्त को चैतन्य भावना में स्थिर कर ! जिससे कि तुझे राग-द्वेष से क्षुब्ध न होना पड़े। जहाँ चित्त में क्षोभ नहीं होता, वहाँ मान-अपमान की कल्पना नहीं होती, राग-द्वेष रूप परिणमन नहीं होता। चाहे जैसे प्रतिकूल या अनुकूल प्रसंग क्यों न हों, सभी स्थितियों में वह चैतन्य भावना वाला जीव अपनी श्रद्धा से च्युत नहीं होता, ज्ञानभावना से भ्रष्ट नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव की भावना ही वीतरागी समाधि का उपाय है। इसलिए एक वही भावना करने योग्य है।

जो अनुकूल संयोगों में मान व सुख तथा प्रतिकूल संयोगों में अपमान व दुःख की कल्पना करता है, वह अज्ञानी है। ज्ञानी इस मान्यता से विपरीत एक ज्ञानभावना द्वारा अपने राग - द्वेष का नाश करके परम समाधि की ओर अग्रसर रहते हैं।

* * *

श्लोक ३९

यदा मोहात्प्रजायेते, राग-द्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात्॥ ३९॥

अन्वयार्थ :- **(यदा)** जिस समय **(तपस्विनः)** तपस्वियों के अन्तरात्मा में **(मोहात्)** मोहोदय वश **(रागद्वेषौ प्रजायते)** राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं **(तदैव)** उसी समय वे तपस्वी **(स्वस्थं आत्मानं भावयेत)** शुद्धात्मस्वरूप की भावना करते हैं। ऐसा करने से राग-द्वेष **(क्षणात्)** क्षणभर में **(साम्यतः)** शान्त हो जाते हैं।

श्लोक ३९ पर प्रवचन

मान-अपमान सम्बन्धी राग-द्वेष होने का प्रसंग आने पर उसी क्षण चित्त को बाहर से अन्तर्मुख करके शांत साम्यभाव से स्वस्थ या आत्मस्थ होकर आत्मा की भावना या ध्यान करना चाहिए। शुद्धात्मा की भावना से क्षणमात्र में ही राग-द्वेष शान्त हो जाते हैं।

सर्वप्रथम तो रागादि से रहित और पर से भी रहित शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की पहचान करनी चाहिए। शुद्ध-आत्मा की भावना के सिवाय राग-द्वेष टालने का एवं समाधि होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्तर्मुख होकर चैतन्य को स्पर्श करते ही रागादि का नाश हो जाता है तथा शान्तरस की धारा प्रवाहित होने लगती है। इसी का नाम वीतरागी समाधि है।

राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया लोभ की उत्पत्ति का मूल कारण अज्ञान है। जहाँ मूल में ही अज्ञान विद्यमान हो, वहाँ राग-द्वेषादि विभाव का वृक्ष फूले-फले बिना नहीं रहता। जब भेदविज्ञान के द्वारा देह एवं आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर आत्मा की भावना होती है, तभी राग-द्वेषादि विभाव भावों का नाश होता है। रागादि के नाश का यही एक उपाय है। भेदविज्ञान बिना मोह का नाश नहीं होता।

समकिती को राग-द्वेष के काल में यानि रागादि के रहते हुए भी उससे भिन्न चैतन्यस्वभाव का भेदविज्ञान तो वर्त ही रहा है। उस भेदविज्ञान के उपरान्त भी अस्थिरताजनित राग-द्वेष टालने के लिए ज्ञानी चैतन्य-स्वभाव का चिन्तवन करते हैं।

अरे ! सर्वप्रथम अन्तरंग में आत्मा की ऐसी लगन लगनी चाहिए कि किसी भी तरह मुझे आत्मशान्ति प्राप्त हो। आत्मा के सिवाय अन्य कोई मेरा शरण नहीं है। प्रभो ! अन्तर में ज्ञानानन्दस्वभाव से परिपूर्ण - लबालब भरा हुआ मेरा आत्मा ही एकमात्र मेरा शरण है। मुझे अपने उस आत्मा की यथार्थ पहचान करनी है। अब तक उसे केवल शास्त्र में लिखे अनुसार ही जाना है, अब उसे आत्मानुभव पूर्वक यथार्थ जानना है। तभी मेरे मोह का नाश होगा।

दो सगे भाई हों, दोनों एक साथ ही नरक में जाकर नारकी हो गए हों, उनमें एक समकिती हो और दूसरा मिथ्यादृष्टी हो तो वहाँ समकिती तो नरक की घोर प्रतिकूलता में भी चैतन्य के आनन्द का अंश वेदन कर रहा है तथा मिथ्यादृष्टी प्रतिकूल संयोगों में संयोगीभाव कर-करके केवल दुःख का ही वेदन करता है, तड़फता है।

वह मिथ्यादृष्टी अपने भाई से पूछता है कि अरे भाई ! इस दुःख से बचने का कोई उपाय है? इस घोर दुःख में हमारा कोई सहायक है? कोई ऐसा व्यक्ति है, जो हमें इस दुःख से छुड़ा सके, बचा सके ? हाय ! इस वेदना से हमें कोई बचाने वाला नहीं है क्या करें? कहाँ जायें?

तब समकिती भाई कहता है कि अरे बन्धु ! इसमें अन्य कोई तो सहायक नहीं हो सकता। हाँ, अन्दर में अपना भगवान चैतन्य आत्मा ही एक ऐसा साधन है कि जिसका आश्रय लेने से हम सुखी हो सकते हैं; क्योंकि वह स्वयं ही आनन्द से भरा हुआ है। उसकी भावना या उस ओर का लक्ष्य करना ही इस दुःख से बचने का उपाय है। चैतन्यभावना के बिना दुःख से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

इसलिए भाई ! तू एकबार इन दुःखद संयोगों को भूल जा ! और अन्दर में विराजमान आनन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व के सन्मुख हो जा। उसी का अवलोकन कर। वही एकमात्र शरण है। तूने अबतक पहले कभी अपने स्वरूप को जानने की परवाह नहीं की, स्वयं को समझने की कोशिश नहीं की। पाप करते हुए उसे कभी पीछे मुड़कर देखा नहीं, इसकारण यह नरक का अवतार मिला है। अब तो हजारों वर्ष की आयु पूर्ण होने पर ही इससे छुटकारा मिल सकेगा, यह संयोग जल्दी बदलने वाला नहीं है। अब तो मात्र अपने लक्ष्य को इन संयोगों पर से उठाकर ही इसी दशा में सुख का अनुभव किया जा सकता है। इस पर्याय में सुख से काल बिताने का यही एक उपाय है कि तू संयोगों पर से दृष्टि उठा ले और स्वभाव का अवलम्बन ले तो वर्तमान पीड़ा से बचा जा सकता है। इन संयोगों से भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न वस्तु है। वस्तुतः संयोग दुःख के कारण हैं ही नहीं, मोह वश उनके निमित्त से जो हमारा संयोगीभाव होता है, वह भाव ही हमारे दुःख का कारण है। हमने अपने आनन्दस्वभाव को भुलाकर स्वयं ही यह दुःख उत्पन्न किया है। अतः एक बार संयोगों व आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर संयोग की भावना छोड़कर चैतन्य की भावना करनी चाहिए। तथा यह विचार करना चाहिए कि - मैं तो ज्ञानमूर्ति-आनन्दमूर्ति हूँ, मेरा आत्मस्वभाव इन संयोगों व दुःखों से भिन्न है। आत्मा का ऐसा निर्णय करके ऐसी भावना भाना ही दुःख से छूटने का उपाय है। एकमात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा की भावना में ही आनन्द का वेदन है। उसमें दुःख का प्रवेश नहीं है। ऐसे चैतन्य में एकाग्र होकर निवास करना ही दुःख से छूटने का उपाय है।

कषायों से संतप्त आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का चिन्तन ही उस दुःख से छूटने का उपाय है। इसलिए 'जिनेन्द्रबुद्धि' श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि हे अन्तरात्मा ! राग-द्वेषादि की उत्पत्ति रोकने के लिए स्वस्थ

होकर शान्त चित्त से तू अपने शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना कर। उसके चिन्तन से तेरे विभाव क्षणभर में शान्त हो जावेंगे। अज्ञानी जीवों को सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भी चैतन्य की ही भावना भाना आवश्यक है। यही सम्यग्दर्शन प्रगट करने का एकमात्र उपाय है।

जिस तरह धूप की गर्मी से संतप्त प्राणियों को वृक्ष की शीतल छाया ही शीतलता दे सकती है, उसीतरह इस संसार के घोर संताप से बचने का उपाय एकमात्र चिदानन्दस्वभाव की शीतल छाया ही है, उसी के आश्रय से ही शांति होती है।

धर्मी जानते हैं कि मेरे चैतन्य वृक्ष की छाया ऐसी शान्त - शीतल है कि उसमें मोहरूपी सूर्य की संतप्त किरणें प्रवेश नहीं पा सकतीं। इसलिए मोहजनित विभावों के आताप से बचने के लिए मैं अपने शान्त, शीतल, उपशांत ,आनन्द झरते हुए चैतन्यतत्त्व की छाया में ही जाता हूँ। चैतन्यस्वभाव की ही भावना भाता हूँ।

* * *

श्लोक ४०

यत्र काये मुनेः प्रेम, ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्धया तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ :- (यत्र काये मुनेः प्रेम) जिस शरीरादि में मुनि को प्रेम होता है **(ततः बुद्धया)** उस शरीरादि से भेदविज्ञान द्वारा **(देहिनम् प्रच्याव्य)** अपने आत्मा को व्यावृत्त करके - हटा करके **(तदुत्तमे काये)** अपने ज्ञान स्वरूप चिदानन्दमय उत्तम काय में - **(योजयेत्)** लगाओ। ऐसा करने से **(प्रेम नश्यति)** बाह्य शरीरादि एवं इन्द्रियों के विषयों का प्रेम - राग का विकल्प नष्ट होता है।

भावार्थ :- अन्तरात्मा को जब चारित्रमोह वश बाह्य शरीरादि तथा इन्द्रियों के विषयों में राग होता है, तब वे भेदविज्ञान द्वारा उपयोग को वहाँ से हटाकर शुद्धात्मस्वरूप में जोड़ते हैं। ऐसा करने से शरीरादि के प्रति उत्पन्न हुआ उनका रागभाव नष्ट हो जाता है।

जिसका उपयोग चैतन्य के आनन्द में लग जाता है, उसे जगत के सभी पदार्थ नीरस लगने लगते हैं। शरीरादि बाह्य पदार्थों के प्रति होनेवाला उत्साह समाप्त हो जाता है। अतः वह उस ओर से उदासीन हो जाता है।

श्लोक ४० पर प्रवचन

इस श्लोक में कहा गया है कि जड़ काया से प्रेम तोड़कर ज्ञायक शरीरी भगवान आत्मा से प्रेम करो, नाता जोड़ो।

यदि शरीर एवं शिष्य आदि में मुनियों को किंचित् भी अनुराग हो तो उससे भेदज्ञान करके तथा उससे अपने त्रिकाली भगवान आत्मा को भिन्न अनुभव करते हुए अपने मन को ज्ञानानन्द स्वरूपी उत्तम देह में, शुद्ध जीवास्तिकाय में लगाओ।

ऐसा करने से अर्थात् शुद्धात्मा में चित्त एकाग्र करने से बाह्य जड़ शरीरादि के प्रति होने वाला अनुराग सहज ही छूट जाता है। उनके प्रति

होनेवाला रागभाव अपने आप नष्ट हो जाता है।

जिनका चित्त एक बार भी चैतन्यस्वभावी आत्मा के आनन्द में लग जाता है, उनका चित्त जगत के किसी भी विषय में नहीं लगता। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्दरस के समक्ष जगत के सभी रस नीरस लगते हैं।

जीव को जब तक अपने निजानन्दमय निराकुल शान्त उपवन में क्रीड़ा करने का अवसर नहीं मिलता, तबतक ही मल-मूत्र व मांस से भरे अपवित्र जड़-शरीर में एवं इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है। पुरुषार्थ पूर्वक अपूर्व अवसर प्राप्त होने पर जब वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है और उसका विवेक जागृत हो जाता है, तब वह अपने शांत चैतन्य उपवन में निजानंदमय अमृतरस का पान करने लगता है। तथा बाह्य इन्द्रिय विषयों को अत्यन्त नीरस, पराधीन एवं हेय समझकर उनसे अत्यन्त उदास हो जाता है। बारम्बार चैतन्य के अनुभव में उपयोग जुड़ने से एवं बाह्य पदार्थों के प्रति सर्वथा प्रेम छूटने से वीतराग हो जाता है। तत्पश्चात् पूर्ण आनन्द प्रगट करके परमात्मा हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तू अपने ज्ञानोपयोग को बारम्बार चैतन्यस्वरूप में जोड़!

देखो, भावलिंगी मुनिजनों को जब समाधिमरण का सुअवसर प्राप्त होता है, तब समाधिस्थ मुनि को कदाचित् प्यास के कारण पानी पीने की वृत्ति उठे और पानी को याद करे तो वहाँ समाधि में सहयोगी अन्य मुनिजन उन्हें धर्म वात्सल्य से इस प्रकार सम्बोधन करते हैं कि हे मुनि ! तुम तो अन्तरंग में निर्विकल्प रसरूपी पानी पिओ। अन्तरंग में अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में से आनन्द का अमृतपान करो। इस पानी की वृत्ति को छोड़ो। इस समय समाधि का अवसर तुम्हें प्राप्त हुआ है, अतः इसका पूरा-पूरा लाभ ले लो।

अरे ! तुमने अनंतकाल से अब तक अनन्त जन्मों में इतना पानी पिया, जितना अभी सागर में भी नहीं है; पर उससे अब तक प्यास नहीं बुझी तो अब दो-चार घूंट पानी से यह प्यास कैसे बुझेगी ? अतः इस

पानी का विकल्प छोड़ो और अन्तरंग के अमृतरस का पान करो। अपने निर्विकल्प आनन्दस्वरूप में लीन हो जाओ।

इसप्रकार संबोधन प्राप्त कर वे उग्र पुरुषार्थी मुनिराज तुरंत ही पानी पीने की वृत्ति के विकल्प को तोड़कर निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनन्द अमृत पीने लगते हैं। इसतरह वे आत्मा की अखण्ड आराधना पूर्वक समाधि से देह छोड़ते हैं।

जिसको चैतन्य के आनन्द का अनुभव नहीं है, उसे बाह्य विषयों में सुखबुद्धि होती है। चैतन्य का भान होने के पश्चात् भी जिसको अनुभव में लीनता नहीं है, उसे भी बाह्य पदार्थों सम्बन्धी राग-द्वेष होता है। जिसे अपने उपयोग को अन्तर्मुख करके अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में लीनता वर्तती है, उसे बाह्य पदार्थों के प्रति झुकाव नहीं होता। इसकारण उसको किसी पदार्थ सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता।

चैतन्यस्वरूप में उपयोग का स्थिर होना ही राग-द्वेष टालने का उपाय है। एतदर्थ सर्वप्रथम तो देहादि से भिन्न व रागादि से भी भिन्न चिदानन्द स्वरूप का भान हो; फिर उसी में लीनता - स्थिरता हो। किन्तु जो जीव देहादि की क्रिया को अपनी क्रिया मानता हो या राग से लाभ मानता हो, उसका उपयोग देहादि एवं रागादि से हटे ही कैसे ? नहीं हट सकता। इसलिए उपयोग को अपने स्वरूप में स्थिर करने की इच्छावालों को सर्वप्रथम अपने स्वरूप को देहादि से अत्यन्त भिन्न जानना चाहिए।

जगत के किसी भी बाह्य विषय में या उस ओर के रागादिभावों में स्वप्न में भी सुख व शान्ति नहीं। अनन्त काल तक बाहर के भाव किए, परन्तु उनमें किंचित् भी, स्वप्न में भी, सुख नहीं मिला।

इसप्रकार उपयोग को अन्तर स्वभाव में जोड़ना ही जिनाज्ञा है, यही आराधना है, यही समाधि है और यही धर्म है। यही मोक्ष का पथ है।

* * *

श्लोक ४१

'आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ :- (आत्मविभ्रमजं) आत्मा के विभ्रम से उत्पन्न हुआ **(दुःख)** दुःख **(आत्मज्ञानात्)** आत्मज्ञान से ही **(प्रशाम्यति)** शांत होता है। **(तत्र)** उस आत्मज्ञान या भेदविज्ञान की प्राप्ति करने में **(अयताः)** जो प्रयत्न नहीं करता, वह **(परमं)** उत्कृष्ट दुर्द्धर **(तपः)** तप **(कृत्वा अपि)** करते हुए भी **(न निर्वान्ति)** निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।

श्लोक ४१ पर प्रवचन

आत्म विभ्रम से उत्पन्न हुए दुःख आत्मज्ञान से शांत होते हैं। जो भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते, वे घोर तप करते हुए भी मोक्ष मार्ग की प्राप्ति नहीं कर सकते।

शरीरादि व रागादि में आत्मबुद्धि करना - अपनापन होना विभ्रम है, आत्मभ्रान्ति है। वही दुःख का कारण है। तथा शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का अनुभव करने पर, भेदज्ञान करने पर, भ्रान्ति दूर होती है। और भ्रांति के दूर होने पर दुःख दूर होता है। ऐसे भेदविज्ञान के बिना, घोर तप करे तो भी जीव सच्चे सुख या मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। मुक्ति प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान पूर्वक किया गया तप ही कार्यकारी है।

पण्डित टोडरमलजी ने यह स्पष्ट कहा है कि जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति स्वरूप के श्रद्धान पूर्वक ही होती है। स्वरूप का श्रद्धान द्रव्यानुयोग के अभ्यास से ही होता है।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूपी है। उसे भूलकर जो देहादि में आत्मबुद्धि रूप विभ्रम है, वही दुःख का मूल है। मैं देहादि से भिन्न ज्ञान-दर्शन ही हूँ, अन्य कुछ मेरा नहीं है। ऐसे आत्मभान के बिना दुःख मिटाने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

जो ऐसे आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करते, वे घोर तप करें, तो भी क्लेश ही पायेंगे, निर्वाण नहीं। अज्ञानी के व्रत-तप आत्मा की भावना से नहीं होते, किन्तु राग या विषयों की ही कामना से होते हैं। यद्यपि सीधे विषयों की वांछारूप पापभाव नहीं होता, पर जो अंतरंग में विषयातीत चैतन्य का वेदन नहीं करता, वह किसी न किसी रूप में राग के वेदन में ही अटका रहता है। अर्थात् उसके अभिप्राय में राग की एवं राग के फलरूप इन्द्रियों के विषयों की भावना ही पड़ी है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद बिना वस्तुतः विषयों का स्वाद टूटता ही नहीं है।

जो आत्मज्ञान का प्रयत्न करते हैं, वे ही दुःख से छूटते हैं। जो आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करते, वे दुःख से नहीं छूटते।

आगे कहते हैं कि आत्मा का विभ्रम ही दुःख का कारण है, कर्म के कारण दुःख नहीं है। कहा भी है -

'कर्म बिचारे कौन भूल, मेरी अधिकाई।' अपनी भूल से ही दुःख होता है, कर्म बिचारा क्या करे ? यह जीव स्वयं ही आत्मज्ञान का प्रयत्न नहीं करता, इसलिए दुःखी है।

यह बात बिल्कुल सत्य होने पर भी अज्ञानी कर्मों को ही दोष देता है, पर के ऊपर ही दोषारोपण करता है, जबकि पर के कारण रंचमात्र भी दुःख नहीं होता। फिर भी वह अपना दोष दूसरों पर मढ़ता है। अरे भाई ! यह तो अनीति है। यदि जिनधर्म को जानता और उस पर विश्वास करता तो उससे ऐसी अनीति होना संभव ही नहीं होता।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि, तत्त्वनिर्णय करने में तो उपयोग लगाता नहीं है - सो यह तो जीव का ही दोष है। स्वयं तो महन्त रहना चाहता है अर्थात् स्वयं तो निर्दोष बना रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादि के माथे मढ़ता है, पर जिनमत में तो यह अनीति संभव नहीं है। पंडित टोडरमलजी ने यह साफ-साफ लिखा है। आत्मज्ञान के बिना एकाग्रतारूप तप होता ही नहीं है। आत्मज्ञान बिना तो तप में केवल कष्ट ही कष्ट है। चाहे शुभराग से ही क्यों न करे, उसमें आत्मा की शांति किंचित् भी नहीं है।

आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन दुःख के अभाव करने की यथार्थ विधि है। जिस तप में आत्मा के आनन्द का वेदन नहीं है उसमें तो कष्ट ही कष्ट है।

आत्मज्ञान के बिना रागादि भाव घटते ही नहीं हैं, अतः सर्वप्रथम, आत्मज्ञान किया जावे। फिर उसमें लीनता द्वारा रागादिक घटने से व्रत-तप एवं मुनिदशा होती है।

भाई ! यदि तुम्हें आत्मशांति प्राप्त करनी है, अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना है तो तुम सर्वप्रथम, आत्मज्ञान करने का प्रयत्न करो। छहढाला में कहा है न -

ज्ञानसमान न आन जगत में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण॥

इससे स्पष्ट है कि आत्मज्ञान से ही सच्चा सुख एवं मोक्ष संभव है। अतः सभी को प्रथम, आत्मज्ञान करके, फिर व्रतादि अंगीकार करना योग्य है। यही इस श्लोक का सद् अभिप्राय है।

* * *

श्लोक ४२

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति।
उत्पन्नात्म मतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ :- **(देह उत्पन्न आत्ममतिः)** देह में आत्मबुद्धि वाला बहिरात्मा जीव **(शुभं शरीरं)** सुन्दर शरीर **(दिव्यान् विषयान्)** और स्वर्ग के विषय-भोगों को **(अभिवांछित)** वांछा करता है। तथा **(तत्त्वज्ञानी)** ज्ञानी अन्तरात्मा **(ततः)** उनसे **(च्युतिम्)** छूटने की वांछा करता है।

श्लोक ४२ पर प्रवचन

अज्ञानी के देह में ही आत्मबुद्धि होने से वह सुन्दर शरीर को व स्वर्ग के विषय-भोगों को ही चाहता है तथा ज्ञानी शरीर से व बाह्य विषयों से छूटकर अन्तर के चैतन्य स्वभाव में ही ठहरना चाहता है।

जिसे शुभराग क भावना है, उसे उस राग के फलस्वरूप स्वर्ग के भोगों की व शरीर की अभिलाषा है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है और आत्मा की रुचि नहीं है। वह दिव्य चैतन्य शक्तिवाले अतीन्द्रिय आ को भूलकर देवलोक के दिव्यशरीर को और इन्द्रियों के भोगों को ही चाहता है, जबकि ज्ञानी रागादि की वृत्ति को दुःखदायक जानकर उससे छूटना चाहता है।

शुभराग भोगों का हेतु है। जो जीव शुभराग को धर्म मानकर श्रद्धा करता है, आदर करता है, वह जीव भोग के हेतु से ही धर्म की श्रद्धा करता है। मोक्ष के हेतुभूत धर्म को वह वस्तुतः जानता ही नहीं है।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द भी यही कहते हैं कि अज्ञानी जीव राग की तथा राग के फलरूप भोग की रुचि से ही व्रतादि पालता है। इसकारण उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।अज्ञानी जीव राग व इन्द्रिय

विषयों से पार चिदानन्द ज्ञानस्वरूप चैतन्य मात्र परमार्थ धर्म का तो श्रद्धान नहीं करता और भोग के निमित्तरूप शुभकर्म को ही धर्म मानकर आस्रव में संवर रूप अर्थात् अधर्म में धर्म रूप श्रद्धान करता है। इस कारण मोक्ष के वास्तविक कारणभूत धर्म की तो आराधना करता नहीं है, इसके विपरीत भोग के कारणभूत शुभराग की ही आराधना करता रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो संसार को ही बढ़ाता रहता है।

धर्मात्मा ज्ञानी तो राग में या राग के फल में (विषयों में) स्वप्न में भी सुख नहीं मानते; वे तो राग से पार चिदानन्द स्वभाव की ही आराधना करते हैं। इसी कारण वे राग के फलरूप विषयों से दूर ही रहना चाहते हैं। तथा रागरहित होकर अन्तर में एकाग्र होना चाहते हैं। उन्हें चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के सिवाय जगत में कुछ भी प्रिय नहीं है। स्वर्ग के दिव्य-भोगों को भी वे पुद्गल की रचना मानते हैं। चैतन्य के अचिन्त्य आनन्द के सामने वे सबको तुच्छ जानते हैं। इसकारण अन्तर्मुख होकर वे अपने ध्येय को सिद्ध करते हैं।

भेदज्ञान के द्वारा जिसने अन्तर में चैतन्य रस का स्वाद चख लिया है, उसकी तो दशा ही अलौकिक होती है।

यह आत्मा देह से भिन्न अतीन्द्रिय चैतन्यमूर्ति है। वह अन्तर में अनुभूति का विषय है और उसी में सुख है। जिसने ऐसे अन्तर के आत्मा को नहीं जाना, उसे बाह्य विषयों में आत्मबुद्धि होती है।

जो स्पष्टरूप से विषयों की वांछा करते हैं, उनके तो पापभाव होने से पापबन्ध ही होता है, उन्हें तो कभी उत्तम स्वर्ग मिलता ही नहीं है। हाँ, जो अज्ञानी द्रव्यलिंग धारण कर व्रत-तप करते हैं, उन्हें स्पष्टतया सीधे रूप में तो विषयों की अभिलाषा नहीं दिखती; परन्तु उनके अभिप्राय में चैतन्य की ओर झुकाव नहीं है तथा राग की ओर ही झुकाव है, राग की ही भावना है। इस कारण उनके अभिप्राय में राग के फलरूप विषयों की भावना ही पड़ी है। राग की भावनारूप मिथ्यात्व में अनन्त विषय-भोगों

की जड़ें पनपतीं रहतीं हैं। इस कारण अज्ञानी जो व्रतादि करता है, वह सब भोग ही है - ऐसा जो कहा है, वह यथार्थ है।

ज्ञानी तो अतीन्द्रिय चैतन्य तत्त्व की ही भावना करते हैं। शुभाशुभ भाव भी होते हैं; परन्तु उनके प्रति ज्ञानी की उपादेयबुद्धि नहीं है, भावना नहीं है। और जहां राग की भावना नहीं होती, वहाँ राग के फलस्वरूप विषयों की भावना कैसे हो सकती है ? वीतरागी चैतन्य तत्त्व को जाने बिना राग की भावना टलती नहीं है। तथा जब राग की भावना ही नहीं टली तो राग के फलस्वरूप विषयों की भावना भी नहीं टली।

जिन्हें यह निश्चय अनुभव नहीं हुआ कि मेरा आत्मा ही ज्ञान व आनन्द स्वरूप है, बाह्यविषयों के बिना ही मेरे आत्मा में आनन्द है - जिन्हें ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा का स्पर्श/रुचि/अनुभव नहीं है, ऐसे जीवों को इन्द्रिय विषयों का ही स्पर्श, रुचि व अनुभव है।

भगवान द्वारा निरूपित व्यवहार व्रत-तप पालन करते हुए भी अज्ञानी के मुक्ति क्यों नहीं होती ? इसका खुलासा करते हुए आचार्य कहते हैं कि उसे स्वभाव की रुचि - प्रतीति - श्रद्धा नहीं है। वह अपने वेदन में राग का ही वेदन करता है। वह रागरहित आत्मस्वभाव का वेदन नहीं करता। इसकारण उसके कर्मों का क्षय नहीं होता।

इसके विपरीत ज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता है और राग से छूटना चाहता है। तथा देहादि विषयों से भी छूटना चाहता है। ज्ञानी के चैतन्य के आनन्द का वेदन ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों वह राग व विषयों से छूटता जाता है। जिसे राग में, देह में आत्मबुद्धि होती है, उसे राग या देह से छूटने की वास्तविक भावना कहाँ से होगी ?

कषाय की मंदता या शुभराग से बाह्य व्रत-तप करके अज्ञानी ऐसा समझने लगता है कि मैं मोक्षमार्गी हो गया हूँ, मैं धर्म के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गया हूँ; जबकि वस्तुत: वह अभी मोक्षमार्ग में आया ही नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान बिना तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता। तथा कोई ज्ञानी धर्मात्मा भले गृहस्थ दशा में हो, व्रत-तप न करता हो,

फिर भी यदि उसे अन्तरंग में राग व विषयों से पार चैतन्य तत्त्व के आनन्द का वेदन हो गया है; यदि उसने अन्तर की अपूर्व दृष्टि के बल से अनन्त संसार क्षीण कर दिया है तो वह मोक्ष का आराधक बन गया है। पर अज्ञानी उसकी इस अपूर्व अन्तर दृष्टि की महिमा को नहीं जानता है। इस कारण अपने अज्ञान से ऐसा मानता है कि इसे कुछ व्रतादि नहीं हैं, अतः यह अंधभक्त है और मैं तो इससे बहुत आगे बढ़ गया हूँ।

ऐसे जीवों को पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि अरे अज्ञानी ! तेरे व्रत-तप तो संसार के ही कारण हैं। तुझे चैतन्य का भान नहीं है और विषयानुराग छूटा नहीं है। अतः तेरा संसार जरा भी कम नहीं हुआ है । तू व्रत-तप करते भी संसारमार्गी है और ज्ञानी धर्मात्मा व्रत-तप न करते हुए भी मोक्षमार्गी है। अन्तर की चैतन्य भावना से उसका अनन्त संसार छूट गया है। तू उसे छोटा और अपने को बड़ा मानकर मोक्षमार्ग की बड़ी भारी विराधना कर रहा है।

समकिती धर्मात्मा को चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के सिवाय बाह्य इन्द्रिय विषय क्लेशदायक लगते हैं। बाह्य विषयों की ओर जो झुकाव होता है, वह उसे दुःखमय लगता है। तथा जो चैतन्य में एकाग्रता रहती है, वह सुखमय लगती है। अज्ञानी को बाह्य विषयों की अनुकूलता में सुख प्रतीत होता है और व्रत तप करने में कष्ट का अनुभव होता है, अतः वे बोझरूप लगते हैं, फिर भी धर्म मानकर कष्ट सहकर भी उन्हें करता है। जबकि ज्ञानी मुनि आदि के तो आत्मा के आनन्द की लीनता के कारण आहारादि की इच्छा सहज कम हो जाती है। इसकारण सहज ही में अनेक उपवासादि तप हो जाने से बाह्य में भी विषयों में सुखबुद्धि नहीं रहती तथा उनकी भावना नहीं होती।

अज्ञानी को आत्मा के आनन्द का भान नहीं होता। इस कारण उसके बाह्य-विषयों में ही सुख बुद्धि वर्तती है। इस प्रकार ज्ञानी व अज्ञानी की अन्तर भावनाओं में जमीन-आसमान जितना महान अन्तर होता है।

***

श्लोक ४३

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्य संशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिः च्युत्वा परस्मात्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ :- **(परत्र अहम्मतिः)** शरीरादि परपदार्थों में जिनकी अहंबुद्धि है, आत्माबुद्धि है; वे बहिरात्मा **(स्वस्मात्च्युतः)** अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर **(असंशयं बध्नाति)** निःसंदेह कर्मों से बंधते हैं। तथा जिनकी **(स्वस्मिन् अहम्मतिः)** अपने आत्मस्वरूप में अहंबुद्धि है, अपनापन है; वे **(बुधः)** अन्तरात्मा **(परस्मात्च्युत्वा)** शरीरादि पर के सम्बन्ध से हटकर **(मुच्यते)** कर्मबन्ध से मुक्त हो जाते हैं।

श्लोक ४३ पर प्रवचन

जो ऐसा निर्णय नहीं करते हैं कि मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न हूँ, ज्ञायकस्वरूप हूँ अर्थात् जो देह व रागादि में ही आत्मबुद्धि करके प्रवर्तते हैं, वे जीव अपने स्वरूप से भ्रष्ट रहते हुए कर्मबंधन को प्राप्त होते हैं, इसमें जरा भी संशय नहीं है।

इसके विपरीत जो बुद्धिमान धर्मात्मा पुरुष अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में ही आत्मबुद्धिपूर्वक प्रवर्तते हैं, वे पर से हटकर स्वरूप में ही स्थिर होते हैं, इसकारण वे नियम से मुक्त होते हैं।

देखो ! स्वतत्त्व व परतत्त्व - ऐसे दो भाग करके संक्षेप में समझाया है। जो स्वद्रव्य की ओर झुकता है, वह मुक्त होता है तथा जो परद्रव्य में आत्मबुद्धि करता है, उसे बंध होता है।

सात तत्त्वों में जीव स्व तत्त्व है, अजीव पर तत्त्व है। आस्रव व बन्ध अजीव के आश्रय से उत्पन्न हुए होने से अजीव में ही अन्तर्गर्भित हो जाते हैं। तथा संवर-निर्जरा-मोक्षरूप पर्यायें शुद्ध जीव स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुईं होने के कारण जीव में अन्तर्गर्भित हो जातीं हैं।

इसप्रकार शुद्धपर्याय सहित जीव तत्त्व ही स्वद्रव्य है और यही उपादेय है। अशुद्ध पर्याय सहित सब अजीव तत्त्व परद्रव्य हैं तथा ये सभी हेय हैं।

इसतरह दो भाग करके स्पष्ट समझाया है। जो उपादेयरूप स्वतत्त्व में ही आत्मबुद्धि करता है, वह तो अजीव, आस्रव तथा बन्ध से च्युत होकर मुक्ति प्राप्त करता हैं। तथा जो हेयरूप परतत्त्व में (देहादि व रागादि में) आत्मबुद्धि करता है, वह निजस्वरूप से भ्रष्ट होकर संसार में रखड़ता है।

इसप्रकार बन्ध-मोक्ष के कारणों को पहिचान कर बंध के कारणों को छोड़ना चाहिए, और मोक्ष के कारणों को अपनाना चाहिए।

बहिरात्मा की दृष्टि ही बहिर्मुखी होती है। बाह्य पदार्थ उपेक्षा के योग्य होने पर भी अज्ञानी बहिरात्मा उनमें तो उपादेयबुद्धि करता है और अन्तर के ज्ञानानन्दस्वरूप की उपेक्षा करता है। अन्तर की ओर उसका झुकाव नहीं होता। इस कारण वह राग-द्वेष-मोह से ही बंधता है। वह असमाधिपने से ही वर्तता है तथा अपना अहित ही करता है।

इसके विपरीत ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के सिवाय किसी को भी उपादेय नहीं मानता। एक शुद्धात्मतत्त्व को ही उपादेय मानकर उसकी ही उपासना करता है; उसी की श्रद्धा, ज्ञान व तद्रूप ही आचरण करता है। इससे वह कर्मबंध से छूटकर मुक्ति प्राप्त करता है; परम समाधि को प्राप्त होता है।

देखो, ज्ञानी व अज्ञानी अथवा चेतन व जड़ के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कविवर बनारसीदास ने कहा है :-

समता, रमता, ऊर्ध्वता, ज्ञायकता सुखभास।
वेदकता, चैतन्यता, ये सब जीव विलास॥
तनता, मनता, वचनता, जड़ता, जड़-सम्मेल।
गरुता, लघुता, गमनता ये अजीव के खेल॥

ज्ञानी जानता है कि मन-वचन-काय आदि तो जड़, अजीव के खेल हैं; वे कोई चेतन के कार्य नहीं हैं। उनके साथ मेरा कोई संवध नहीं है। मैं तो मन-वचन-काय से रहित ज्ञान- दर्शन- सुख का पिंड हूँ। मेरा विलास तो चैतन्यरूप है। चैतन्यविलास ही मेरा स्वतत्त्व है तथा देहादि जड़ का विलास तो परतत्त्व है।

इसप्रकार ज्ञानी जीव स्व-पर तत्त्व को भिन्न-भिन्न जानकर अपने स्व तत्त्व को ही उपादेय मानकर उसी में एकाग्र हो जाते हैं। निजस्वरूप में एकत्व से जीव मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अत: आत्मार्थियों को स्व-पर का भेदज्ञान करके स्व में स्थिर होने का प्रयत्न करना चाहिए।

कहा भी है -

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन्।
तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन्॥

जीव-अजीवादि तत्त्वों को जानने का तात्पर्य ही यह है कि स्वद्रव्य के सन्मुख हो तथा परद्रव्य से विमुख हो।

हितकारी तत्त्वों को उपादेय मानकर ग्रहण करना तथा अहितकारी तत्त्वों को हेय जानकर छोड़ना। हितकारी तत्त्व संवर-निर्जरा-मोक्ष हैं, जो कि शुद्धात्मा के आश्रय से होते हैं। इस कारण शुद्धात्मा का आश्रय करना। तथा आस्रव, बंध अहितकारी हैं, जो पर के आश्रय से होते हैं, इसलिए उनका आश्रय छोड़ना।

इस तरह सातों तत्त्वों को जानकर उनमें हेयोपादेयरूप प्रवृत्ति से जीव के हितरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है।

* * *

श्लोक ४४

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिंगभवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्द वर्जितम्॥ ४४॥

अन्वयार्थ :- (मूढ़ः) अज्ञानी बहिरात्मा **(इदं दृश्यमानं त्रिलिंग)** इस दिखाई देने वाले स्त्री-पुरुष व नपुसंक के भेद से तीनों लिंगोंरूप शरीर को जीव **(अवबुध्यते)** मानता है और **(अवबुद्धः)** ज्ञानी अंतरात्मा **(इदं इति)** इस आत्मतत्त्व को **(निष्पन्नं)** अनादि स्वयंसिद्ध तथा **(शब्दवर्जितं)** शब्दरहित मानता है।

श्लोक ४४ पर प्रवचन

अज्ञानी की बाह्यदृष्टि होने से वह बाह्य में दिखनेवाले स्त्री, पुरुष व नपुंसक - ऐसे तीन रूप शरीर को ही आत्मा जानता है, मानता है। और ज्ञानी अन्तर्दृष्टिवंत होने से स्त्री-पुरुष के शरीर से भिन्न अनादि स्वयंसिद्ध ज्ञानदर्शनमयी चेतनतत्त्व को ही आत्मा जानता है, मानता है।

जो जीव राग को ही आत्मा मानते हैं, राग से लाभ मानते हैं, वे जीव वस्तुतः शरीर को ही आत्मा मानते हैं; क्योंकि शरीर स्वयं राग का फल है। ज्ञानी जानता है कि यह देह मैं नहीं हूँ। जिस भाव से यह देह प्राप्त हुई है, वह भाव भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो ज्ञायकस्वभावी अशरीरी तत्त्व ही हूँ; अतीन्द्रिय ज्ञान ही हूँ।

अज्ञानी को चेतन तत्त्व तो अदृश्य लगता है; वह तो इन्द्रियों द्वारा दृश्यमान देह को ही देखता है। और ज्ञानी जानता है कि मैं दृश्यमान देहादि नहीं हूँ, मैं स्त्री-पुरुष नहीं हूँ; मैं तो आत्मा हूँ। इन्द्रियों का कोई भी चिह्न मेरा स्वरूप नहीं है तथा मैं उन चिह्नों से पहिचाना भी नहीं जाता। मैं तो शरीर के चिह्नों से पार अलिंग हूँ। मेरा आत्मा इन्द्रियादि चिह्नों से अग्राह्य है; केवल अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही अनुभव में आता है।

जो जीव ऐसा मानते हैं कि शरीर की आकृति विशेष के कारण विकार होता है, वे जीव अपने को स्त्री-पुरुष के शरीररूप ही मानते हैं। जो ऐसा मानते हैं कि इन्द्रिय वगैरह के अवलम्बन से ज्ञान होता है वे भी वस्तुतः इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को नहीं मानते, किन्तु इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं। जो जीव पाँचों इन्द्रियों में अथवा उनके किसी भी विषय में सुख मानता है, वह भी इन्द्रियों व शरीर को ही आत्मा मानता है। जब तक अतीन्द्रिय आत्मा लक्ष्य में/प्रतीति में/अपने अनुभव में नहीं आता, तब तक किसी न किसी प्रकार शरीर में ही आत्मबुद्धि दिखाई देती है।

अन्तरात्मपना हो तो ही बहिरात्मपना टलता है। अर्थात् अन्तर्मुख होकर जीव अपने आत्मा को देहादि से भिन्नपने पहिचाने, तभी उसमें आत्मबुद्धि हो सकती है और देहादि में से आत्मबुद्धि टल सकती है।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है, देह से भिन्न अपना चैतन्य-स्वरूप उसकी दृष्टि में आ गया है। इस कारण वह अपने चैतन्यस्वरूप का ही अनुभव करता है। अपने को स्त्री वगैरह या पशु वगैरह के देहरूप नहीं मानता।

देखो, यह भेदविज्ञान की बुद्धि ! यह ऊपरी-ऊपरी क्षयोपशम ज्ञान में आई धारणा की बात नहीं है, बल्कि अन्तर के वेदन की अनुभूति की बात है। ज्ञानी ने देह व राग दोनों से पार होकर अन्तर्दृष्टि से अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द वाले चैतन्य तत्त्व को देख लिया है। अतः उसे अब सारा जगत जूठन जैसा लगता है।

कहा भी है -

सकल जगत जूठनवत्, अथवा स्वप्न समान।
यह जानो ज्ञानी दशा, बाकी वाचा ज्ञान॥

इस संसार में जीव को देहादिक व स्त्री-पुत्रादि के संयोग अनन्त बार भोगने में आये, इस कारण जूठनवत् कहा है। जिसतरह कोई जूठन या उल्टी को पुनः मुंह में नहीं रख सकता, उसीतरह ज्ञानी भोगी हुई वस्तु का पुनः भोगोपभोग नहीं करते; उसमें सुख नहीं मानते। इसी कारण बाह्य पदार्थों को जूठनवत् कहा है। ज्ञानी को आत्मा के सिवाय बाहर में कहीं सुखबुद्धि नहीं होती।

ज्ञानी जब अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा के स्वरूप में लीन हो जाते हैं, तब उन्हें अपने स्वतत्त्व में पर-पदार्थ भासित ही नहीं होते। इसकारण उन बाह्य पदार्थों को स्वप्न समान कहा है। वास्तव में जगत के पदार्थ तो जगत् में यथावत् मौजूद ही हैं।

अहा ! ऐसे चैतन्य तत्त्व के अनुभव की धुन में जगत की अनुकूलता-प्रतिकूलता कहाँ/कैसे दिखाई दे ? चैतन्य की धुन में ज्ञानी जगत की अनुकूलता-प्रतिकूलता में अटकता ही नहीं है। इसकारण चाहे कैसा भी अनुकूल व प्रतिकूल प्रसंग हो, पर ज्ञानी अपने चैतन्य की समाधि में ही रहा करते हैं।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन में ही समाधि की महा शक्ति है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि कभी भी अपने स्वरूप को, स्वभाव को एवं शक्ति को भूलता नहीं है। उसे स्व विषय में कभी भ्रान्ति होती ही नहीं है। इस कारण उसे सच्ची शान्ति व समाधि होती है। इसके सिवाय जिसे देहादि की क्रिया में कर्तापना वर्तता है, ऐसे अज्ञानी जीवों को कभी भी समाधि व शान्ति नहीं हो सकती।

जहाँ भेदज्ञान है, वहीं शान्ति है। जहाँ भ्रान्ति है, वहाँ शान्ति संभव नहीं है। अतः भेदज्ञान द्वारा भ्रान्ति का नाश करने योग्य है।

* * *

श्लोक ४५

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तभावयन्नपि।
पूर्व विभ्रम संस्काराद् भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ :– अन्तरात्मा को भी **(आत्मनः तत्त्वं)** अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप को **(जानन् अपि)** जानते हुए भी, **(विविक्त भावयन्नपि)** और उसे शरीरादि से भिन्न अनुभव करते हुए भी, **(पूर्व विभ्रम संस्कारात्)** पूर्व बहिरात्म दशा में उत्पन्न हुए भ्रान्ति के संस्कारों के कारण **(भूयः अपि)** पुनः पुनः **(भ्रान्ति गच्छति)** भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

श्लोक ४५ पर प्रवचन

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आत्मा को देह से भिन्न जानते हुए भी और वैसी ही भावना भाते हुए, अनुभव करते हुए भी धर्मात्मा को भी पुनः पुनः ये राग-द्वेष क्यों हो जाते हैं ? राग-द्वेष रहित समाधि की ओर उसका पुरुषार्थ क्यों नहीं होता ?

दूसरा प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि आत्मा को देह से भिन्न जान लेने पर भी, उसी की अनुभूति और भावना होने पर भी, पुनः पुनः भ्रम उत्पन्न क्यों हो जाता है ?

बस, इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में आचार्य देव ने यह ४५वाँ श्लोक लिखा है। इसमें वे कहते हैं कि देह से भिन्न आत्म तत्त्व को जानते हुए भी जो भ्रान्ति हो जाती है अथवा राग-द्वेष हो जाते हैं, वे पूर्व के विभ्रम के संस्कार के कारण होते हैं। देह से भिन्नता जानने के बाद भी राग-द्वेष रहित समाधि होने के बदले, अभी भी राग-द्वेष होता है। उसका कारण अनादिकालीन राग-द्वेष की परम्परा है, जो अब तक सम्पूर्ण रूप से टूटी नहीं है। इस कारण उसका संस्कार चालू रहता है। इसी कारण उसके वह अस्थिरतारूप भ्राँति रहती है। अथवा जब किसी जीव को एकबार भेदज्ञान

होने पर भी पुनः मिथ्यात्व या अज्ञानरूप भ्रान्ति हो जाती है, तब वह जीव वर्तमान में चैतन्य भावना के संस्कार भूलकर पूर्व के विभ्रम के संस्कारों वश पुनः मिथ्यात्व की भूमिका में आ जाता है। और इस प्रकार वह जीव पुनः बहिरात्मा हो जाता है। इसलिए अन्तरात्मा को सावधान करते हैं कि हे अन्तरात्मा ! देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व को जानकर तूने जो अपूर्वदशा प्रगट की है, उसमें भेदज्ञान की ऐसी दृढ़ भावना रख, कि पूर्व की भ्रान्ति का संस्कार पुनः जागृत न हो।

यह 'समाधि' के उपदेश का शास्त्र होने से भेदज्ञान होने पर भी जितना राग-द्वेष होता है, समाधि की अपेक्षा ली जावे तो उतनी असमाधि है। यहाँ यदि कोई कहे कि भेदज्ञानी अन्तरात्मा होने के बाद भी यह असमाधि कैसी ? तो उससे कहते हैं कि राग-द्वेष का अनादिकालीन संस्कार आज भी चला आ रहा है, इसकारण राग-द्वेष होता है। जिस तरह धर्मी को स्त्री-पुत्र-बन्धु वगैरह के वियोग से शोक हो जाता है, रोना भी आ जाता है, उसीप्रकार अनुकूल संयोगों में हर्ष भी हो जाता है क्योंकि अभी उसे पूर्ण वीतरागी समाधि नहीं हुई है। भेदज्ञान होने पर भी उसे हर्ष-शोक के परिणाम वर्तते हैं। ज्ञानचेतना के साथ उसे उतनी कर्मचेतना भी है। यद्यपि ज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान में भ्रान्ति नहीं है, किंतु अस्थिरता जनित भ्रान्ति तो है ही।

जिसे श्रद्धा-ज्ञान में भी भ्रान्ति हो जाती है, वह तो बहिरात्मा ही है। भेदज्ञान की भूमिका में भी जितना राग-द्वेष होता है, उतनी असमाधि है। वह राग-द्वेष भी टालकर जीव जब वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिर हो तभी पूर्ण समाधि और शान्ति होती है।

अब आगे कहेंगे कि ऐसी पूर्ण समाधि प्राप्त करने के लिए धर्मी जीव कितना व कैसा चिन्तन करे, ताकि राग-द्वेष का पूर्ण अभाव कर मध्यस्थ हो सके।

* * *

श्लोक ४६

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ :- (इदं दृश्यं) ये शरीरादि दृश्य पदार्थ **(अचेतनं)** चेतना रहित जड़ हैं अर्थात् कुछ जानते-समझते नहीं हैं और **(चेतनं अदृश्यं)** चैतन्य आत्मा जो जानता-समझता है वह अदृश्य है, इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देता। **(ततः)** इस कारण **(क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि)** मैं किस पर रोष करूँ और किस पर तुष्ट होऊँ ? **(अतः अहं मध्यस्थः भवामि)** इसलिए मैं सभी के प्रति मध्यस्थ भाव धारण करता हूँ, समताभाव धारण करता हूँ।

श्लोक ४६ पर प्रवचन

ये शरीरादि दृश्य पदार्थ तो अचेतन हैं, उन्हें तो कुछ खबर नहीं है कि कौन हमारे ऊपर राग करता है, कौन द्वेष करता है। तथा राग-द्वेषादि को जाननेवाले जो चेतन तत्त्व हैं, वे इन्द्रियों से अग्राह्य -अदृश्य हैं। तो फिर मैं किस पर राग-द्वेष करूँ ? इसलिए बाह्य पदार्थों से उदासीन होकर मैं मध्यस्थ होता हूँ। धर्मी जीव ऐसा विचार करते हैं तथा अपनी परिणति में समताभाव या समाधि रखते हैं।

यह शरीर सुन्दर है अथवा सुन्दर नहीं है, काला है, कुरूप है या गोरा है, सुरूप है - ऐसी मान्यता से या ऐसे विचार से राग या द्वेष होता है। जब शरीर ही मेरा नहीं है या शरीर मैं नहीं हूँ तो फिर शरीर के काले-गोरे होने से मैं सुरूप-कुरूप कैसे हो सकता हूँ ? शरीर तो अचेतन है और अचेतन शरीर पर चेतन को राग-द्वेष करने से क्या प्रयोजन ?

तात्पर्य यह है कि शरीर व आत्मा को भिन्न-भिन्न देखनेवाले ज्ञानी को राग-द्वेष का अभिप्राय नहीं रहता। सुन्दर स्त्री को देखकर अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह सुन्दर है, अतः वह उससे राग करने लगता है।

जबकि ज्ञानी उस नारी के आत्मा व शरीर को भिन्न-भिन्न देखता है। अत: वह विचार करता है कि इस नारी का जो यह सुन्दर शरीर दिखाई देता है, वह तो अचेतन पुद्‌गल परमाणुओं का पिण्ड है; उसे तो कुछ पता नहीं चलता कि कौन उस पर स्नेह कर रहा है, प्रीति कर रहा है। और उसके अन्दर जो आत्मा है उसमें तो कोई रूप ही नहीं है, वह तो अरूपी है; अत: वह दिखाई नहीं देता। उसे देखे बिना उस पर राग कैसे करे ? अत: वह तो मेरे राग-द्वेष का विषय ही नहीं बनता। मैं किस पर राग करूँ व किस पर द्वेष करूँ ? अत: मुझे सहज ही ज्ञाता रहकर मध्यस्थ भाव रहता है। और ऐसी स्थिति में ज्ञानी के मध्यस्थ भाव ही रहना चाहिए। अन्यथा ज्ञानी-अज्ञानी में अन्तर ही क्या रहा ?

पर के प्रति मध्यस्थ रहकर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा मैं अपने स्वतत्त्व को ही जानता हूँ; अपने आत्मा को ही विषय बनाता हूँ। वह आत्मा ही मेरा ध्येय है; अत: उसे ही जानकर, विषय बनाकर मैं मध्यस्थ होता हूँ। यह मध्यस्थता ही सच्ची समाधि है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी को ही ऐसी समाधि होती है।

जिसके ज्ञान का विषय स्वतत्त्व नहीं है, उसे पर के प्रति राग-द्वेष रूप मिथ्या अभिप्राय वर्तता है। इस कारण उसे सदैव असमाधि ही रहती है।

धर्मी के अल्प राग-द्वेष होते हुए भी ज्ञान का विषय पलट गया है। अब ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा ही उसके ज्ञान का विषय बन गया है। जब-जब राग-द्वेष का प्रसंग बनता है, तभी-तभी वह अंतरंग में अपने ज्ञानस्वभावी चैतन्यमय आत्मा को बारंबार स्पर्श करके राग-द्वेष को टालने का प्रयास करता है। तथा अज्ञानी बाह्य विषयों के प्रति ही रोष-तोष करता रहता है। उसका ध्येय बाह्य पदार्थ ही बना रहता है। जबकि ज्ञानी ने अपने अन्तर के चैतन्य तत्त्व को अपना ध्येय बना लिया है। इससे

बाह्य में वह जड़-चेतन की भिन्नता देखते हुए उनके प्रति मध्यस्थ बना रहता है।

ज्ञानी ऐसा जानता-मानता है कि मैं ज्ञानमूर्ति हूँ..., जगत के सभी पदार्थ अपने-अपने परिणमन प्रवाह में प्रवाहित होते रहते हैं। जिसतरह नदी में पानी का पूर तो अपने समय में आता है और अपने उसी क्रम में चला जाता है। परन्तु जो अज्ञानी किनारे पर खड़ा-खड़ा ऐसा माने कि यह मेरा पानी आया और जा रहा है, वह दुःखी होता है। तथा जो ज्ञानी तट पर खड़े-खड़े केवल ज्ञानभाव से देखता है, उसके आने-जाने में हर्ष-विषाद नहीं करता, वह सुखी रहता है।

अपने चिदानंद स्वभाव में एकाग्रता करके जो बाह्य पदार्थों के प्रति उदासीन होकर राग-द्वेष नहीं करते, वे वीतराग समाधिरूप आनंद का अनुभव करते हैं। इसलिए धर्मात्माओं को उस चिदानंद भगवान आत्मा का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

* * *

श्लोक ४७

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्वहिरुपादानं, न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ :– (मूढ़ः) मूर्ख बहिरात्मा **(बहिः त्यागादानेकरोति)** ब्राह्य पदार्थों का त्याग व ग्रहण करता है। तथा **(आत्मवित्)** आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला अन्तरात्मा **(अध्यात्मं त्यागादाने करोति)** आत्मा में ही ग्रहण-त्याग करता है। **(निष्ठितात्मनः)** शुद्धस्वरूप में स्थित आत्मा **(अन्तः बहिः)** अन्तरंग व बहिरंग - किसी भी पदार्थ को **(न उपादानं न त्यागः)** न ग्रहण करता है और न त्याग ही करता है।

श्लोक ४७ पर प्रवचन

अज्ञानी का विषय ही बाह्य है। अतः वह बाह्य पदार्थों में ही ग्रहण-त्याग की बुद्धि किया करता है। वह सोचता है कि अमुक बाह्य पदार्थ इष्ट है और अमुक अनिष्ट। जिसे वह इष्ट मानता है उसे ग्रहण करना चाहता है, और जिसे अनिष्ट मानता है उसे छोड़ना चाहता है, त्यागना चाहता है। इस प्रकार वह बाह्य पदार्थों के दो भाग करके उन्हें ग्रहण-त्याग करना चाहता है। उसका उसमें राग-द्वेष का ही अभिप्राय है। इसकारण उसे सदैव असमाधि ही है।

ज्ञानी का विषय अन्तर में अपना आत्मा ही है। वह समस्त बाह्य पदार्थों को तो अपने से भिन्न ही जानता है। इस कारण उसे ऐसा विकल्प नहीं होता कि मैं बाह्य पदार्थों को ग्रहण करूँ या छोड़ूँ। वह मानता है, सोचता है कि जब पर पदार्थ मेरे हैं ही नहीं तो मैं उन्हें कैसे ग्रहण कर सकता हूँ और कैसे छोड़ सकता हूँ ? इसलिए मेरे द्वारा बाह्य पदार्थों का ग्रहण - त्याग संभव ही नहीं है।

अन्तरात्मा तो मात्र अपने शुद्धात्मा का ग्रहण करता है एवं अपने रागादि भावों का त्याग करता है। इसप्रकार उसके द्वारा केवल अंतरंग

में ही ग्रहण त्याग होता है। इसतरह हम देखते हैं कि ज्ञानी के तो ध्येय का विषय ही पलट गया है। तथा जहाँ स्वरूप में स्थिरता रूप निर्विकल्प समाधि है, वहाँ तो ऐसी कृत-कृत्यता हो जाती है कि त्याग-ग्रहण करने की स्थिति ही नहीं रहती; क्योंकि वहाँ तो परम तृप्तिरूप परम समाधि हो जाती है।

जिसकी दृष्टि में बाह्य विषय बदल कर अन्तर का चैतन्य विषय नहीं आया, उसे द्वेष वश बाह्य पदार्थों के प्रति त्याग की भावना होती है और राग वश पर के ग्रहण की भावना वर्तती है। अज्ञानी को चैतन्य के ग्रहण बिना पर में इष्टानिष्ट बुद्धि होने से राग- द्वेष ही रहता है। इस कारण उसका ग्रहण-त्याग राग-द्वेष पूर्वक ही होता है। उसे वीतराग भाव नहीं हो सकता; क्योंकि वीतराग भाव चैतन्य के अवलम्बन के बिना नहीं होता और चैतन्य का अवलम्बन तो अज्ञानी के होता ही नहीं है।

इसके विपरीत जब अन्तर स्वभाव को ज्ञान में लिया, तब बाह्य विषय का ग्रहण नहीं रहने से राग-द्वेष का त्याग होकर स्वतः समाधि हो जाती है। इसप्रकार स्व विषय का ग्रहण ही समाधि का सच्चा उपाय है।

निज चैतन्य स्वभाव का अवलंम्बन किए बिना जो बाह्य में त्याग करने का प्रयत्न करता है, वह त्याग नियम से द्वेषगर्भित ही होता है। ज्ञानी के अन्तर में चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से ज्यों-ज्यों वीतरागी शान्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों राग-द्वेष छूटता जाता है, कम होता जाता है तथा बाह्य विषयों का अवलम्बन भी कम होता जाता है। इसप्रकार पर से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना ही समाधि का उपाय है।

यह समाधि का प्रकरण है, इस कारण यह बात चलती है कि आत्मा को समाधि किसप्रकार हो ? शान्ति कैसे मिले ? किसप्रकार के ग्रहण-त्याग से समाधि प्राप्त की जा सकती है ? इस संदर्भ में आगम में अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि -

जो चैतन्य स्वभाव को जानकर परिपूर्ण परमात्मा हो गया है, उसे तो पूर्ण समाधि ही है; क्योंकि उसने तो ग्रहण करने योग्य निज स्वभाव को ग्रहण कर ही लिया है और त्यागने योग्य सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष छोड़ ही दिये हैं। ज्ञानी भी शरीरादि समस्त पर-पदार्थों से अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को भिन्न जाना है। वह पर में किसी का भी ग्रहण - त्याग होना मानता ही नहीं है। उसने अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को ही उपादेय जाना है तथा परभावों को हेय जाना है। इसकारण ज्ञानी एकमात्र अपने चैतन्य स्वभाव को ही ग्रहण करके, उसमें ही लीनता करके परभावों को छोड़ता जाता है। इस तरह ज्ञानी को समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

इसके विपरीत मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा बाह्य पदार्थों के साथ स्वयं को एकमेक मानता है, पर-पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है। तथा किन्हीं पर-पदार्थों को अनिष्ट मानकर उनसे द्वेष करता है व किन्हीं को इष्ट मानकर राग करता है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टी जीव राग-द्वेष से पर को ग्रहण करना व छोड़ना चाहता है। इसतरह मिथ्या-अभिप्राय होने से उसका सम्पूर्ण त्याग द्वेषगर्भित होता है। इसकारण उसके समाधि होती ही नहीं है।

चाहे घर हो या जंगल, महल हो या मकान, ये सब आत्मा से भिन्न परद्रव्य हैं। अज्ञानी उन्हें अपना मानकर ऐसा मानता है कि घर छोड़कर जंगल में जाऊँ तो शान्ति मिलेगी। परन्तु भाई ! शान्ति जंगल में है या आत्मा में? तुझे तेरा मोह अनिष्ट है या मकान? मोह को तो छोड़ता नहीं है और मकान को अनिष्ट मान कर छोड़ना चाहता है। परन्तु क्या मोह छूटे बिना मकान छूट सकेगा? अत: ऐसा अभिप्राय ही मिथ्या है। और मिथ्या-अभिप्राय पूर्वक हुआ त्याग द्वेष से ही होता है। चैतन्य के वीतराग भाव बिना शान्ति का वेदन नहीं होता।

चैतन्य गुफा में प्रवेश करके शान्ति के वेदन में लीन होने पर बाह्य पदार्थों के प्रति राग-द्वेष-मोह की वृत्ति ही नहीं होती। बस इसी का नाम

त्याग है। और जहाँ मोह-राग-द्वेष छूट जाता है, वहाँ उसके निमित्त (वस्त्रादि) भी सहज ही छूट जाते हैं। उसे ही व्यवहार में त्याग करना कहा जाता है। वास्तव में तो ज्ञानी बाह्य पदार्थों को न ग्रहण करता है, न छोड़ता है। ज्ञानी का ग्रहण त्याग तो अन्तर के भावों में ही होता है। वह अन्तर में स्वभाव को ग्रहण करके रागादिक छोड़ता है। जिसने राग से पार चिदानन्द स्वभाव को जाना ही नहीं है, वह रागादि को किसप्रकार छोड़ सकेगा ? अज्ञानी को आत्मा का भान तो है नहीं तथा वह बाह्य पदार्थों को ही देखता है। इसकारण बाह्य पदार्थों के सम्मुख वर्तता हुआ राग-द्वेष से पर-पदार्थों को ग्रहण-त्याग करने की मान्यता रखता है। उसकी इस उल्टी मान्यता से स्वभाव का त्याग हो जाता है। वस्तुतः पर-पदार्थ का ग्रहण-त्याग तो उसके भी सम्भव नहीं है।

इसप्रकार इस श्लोक में मूलतः तीन बातें बताई हैं :-

(१) परमात्मा के तो पर-पदार्थों का ग्रहण-त्याग रहा ही नहीं, परमात्मा के अनुसार ही जो योगी आत्मा में स्थिर हो जाते हैं, उन योगीजनों के भी पर-पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना शेष नहीं रहता।

(२) अन्तरात्मा के भी अपने अन्तरभावों में ही ग्रहण-त्याग है; वे अपने शुद्धभावों को ग्रहण करते हैं तथा परभावों को छोड़ते हैं।

(३) बहिरात्मा के बाह्य पदार्थों के ग्रहण-त्याग करने की बुद्धि होती है। वह ब्राह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना मानता है, पर वस्तुतः पर पदार्थ का ग्रहण त्याग तो उसके भी नहीं हो सकता।

इन तीनों बातों का विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है-

(१) परमात्मा और निर्विकल्प मुनिराज तो चिदानन्द तत्त्व को समस्त परद्रव्यों व परभावों से भिन्न जानकर चैतन्यस्वरूप में ही स्थिर हो गये हैं। इसलिये उन्होंने ग्रहण करने योग्य अपने ज्ञान-आनन्द को ग्रहण

कर लिया है तथा छोड़ने योग्य परभावों को सर्वथा छोड़ दिया है। इसकारण वे तो कृत-कृत्य हो चुके हैं। अब उन्हें कुछ भी ग्रहण करना व छोड़ना बाकी नहीं रहा। इसप्रकार परमात्मा व निर्विकल्प मुनिवर तो ग्रहण-त्याग से रहित ही हैं।

(२) अन्तरात्माओं ने भी अपने चिदानन्दस्वरूप को समस्त परद्रव्यों व परभावों से भिन्न जाना है; परन्तु अभी उसमें पूरी लीनता नहीं हुई। तथा उनके रागादि सर्वथा नहीं छूटे हैं। इसलिए वे अन्तर पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव का ग्रहण करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं तथा रागादि परभावों को छोड़ने का प्रयत्न करते रहते हैं। बाह्य पदार्थों से तो आत्मा जुड़ा नहीं है - ऐसा उन्होंने जाना-माना ही है। इसलिए वे बाह्य में तो कुछ ग्रहण व त्याग करना मानते ही नहीं हैं। अन्तर्मुख होकर ग्रहण करने योग्य अपने शुद्ध स्वभाव को ग्रहण करके उसी में एकाग्र होकर रागादि परभावों को त्यागते हैं। इसप्रकार अन्तरात्मा के अपने भाव में ही ग्रहण-त्याग होता है।

(३) बहिरात्मा अन्तर के चैतन्य तत्त्व को नहीं जानता। वह तो बाह्य पदार्थों को ही देखता है। इसलिए बाह्य पदार्थों में ही इष्ट-अनिष्टपना मानकर उन्हीं में ग्रहण-त्याग करना मानता है। जिन्हें इष्ट मानता हैं उनमें उसे राग का अभिप्राय बना रहता है तथा जिन्हें अनिष्ट मानता है, उनमें द्वेष का अभिप्राय बना रहता है।

इसप्रकार वीतरागी अभिप्राय के अभाव में उसके परभावों का त्याग तो है ही नहीं, परन्तु राग-द्वेष के अभिप्राय से वह बाह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग करना भी मानता ही है। कदाचित् बाह्य में वह त्यागी दिगम्बर साधु होकर वन में रहे तो भी उसे असमाधि ही है। चैतन्य में अन्तर्मुख होकर मिथ्यात्वादि परभावों को छोड़े बिना कभी समाधि हो ही नहीं सकती। धर्मात्मा कदाचित् गृहस्थावस्था में भी हो तो भी चैतन्य में

अन्तर्मुख होने से जितने अंशों में मिथ्यात्व आदि परभाव छूट जाते हैं, उतने अंशों में उसे समाधि ही है। खाते-पीते, बोलते-चालते, सोते-उठते-बैठते सर्व प्रसंगों में उतनी वीतरागी-समाधि शान्ति उसे वर्तती ही रहती है। इसलिए गृहस्थभाव में न वर्तते हुए वह वस्तुतः चैतन्यभाव में ही वर्तता है।

अन्तर का अभिप्राय पहचाने बिना धर्मी-अधर्मी की पहिचान हो ही नहीं सकती। इसलिए पर से भिन्न आत्मा को पहिचान कर स्व भाव व पर भाव को पृथक करके स्वभाव में एकाग्र रहने में ग्रहण-त्याग का कोई भी विकल्प नहीं रहता।

* * *

श्लोक ४८

युन्जीत मनसाऽऽत्मानं, वाक्कयाभ्यां वियोजयेत।
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद्वाक्काय योजितम्॥ ४८॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा धर्मी जीव **(आत्मानं)** आत्मा को **(मनसा)** भावमन से अर्थात् आत्मा से **(युन्जीत)** जोड़े। (तथा) **(वाक्कयाभ्याम्)** वचन व काय से **(वियोजयेत्)** अलग करे। **(तु)** और **(वाक्काययोजितम्व्यवहारं)** वाणी व काय से जुड़े हुए व्यवहार को **(मनसा)** भावमन अर्थात् आत्मा से **(त्यजेत्)** अलग करे।

भावार्थ :- अन्तरात्मा ज्ञानीजन अपने भावमन अर्थात् ज्ञानोपयोग को वाणी व देह की क्रियारूप बाह्यप्रवृति से अलग करें तथा आत्मा के स्वरूप में जोड़ें - लगायें।

तात्पर्य यह है कि अन्तरात्मा अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा के साथ अभेद करता है - एकमेक करता है - तल्लीन करता है। वाणी व काय की क्रिया जड़ की क्रिया है। अतः आत्मा तो उसे कर ही नहीं सकता।

अन्तरात्मा को ऐसा यथार्थ भेदविज्ञान है। इसकारण वह अपने उपयोग को वाणी व काय की क्रिया से हटाकर आत्मा में लगाता है।

श्लोक ४८ पर प्रवचन

यहाँ इस श्लोक में आचार्य कहते हैं कि धर्मी अन्तरात्मा अपने मन को अर्थात् योग को आत्मा में ही जोड़ने एवं मन-वचन-काय के साथ हो रहे जुड़ान को छोड़ने में सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। धर्मी जीवों की आत्मा के सिवाय अन्यत्र कहीं भी ग्रहणबुद्धि नहीं होती। कदाचित् पुरुषार्थ की कमजोरी या अस्थिरता के कारण मन-वचन-काय की ओर जुड़ान होता है, पर वे उसे छोड़कर चैतन्य में एकाग्रता करने की ही सतत् भावना रखते हैं और वैसा ही प्रयत्न करते हैं।

यहाँ परद्रव्य को छोड़ने की बात नहीं है, मात्र परद्रव्य की ओर हो रहे उपयोग के जुड़ान को छोड़ने की बात है। परन्तु स्वद्रव्य की परद्रव्य से भिन्नता भासित हुए बिना परद्रव्य से उपयोग हटाना संभव नहीं है। तथा स्वद्रव्य जाने बिना उपयोग परद्रव्यों से हटकर स्वद्रव्य में जुड़े भी कैसे ? तथा स्वरूप में उपयोग जुड़े बिना समाधि भी कैसे हो ?

स्व-पर के विवेक बिना/स्व-पर के भेदज्ञान बिना समाधि हो ही नहीं सकती। जहाँ मान्यता में शरीर-मन-वाणी का कर्तृत्व है, वहाँ उपयोग निरन्तर उसी तरफ रहता है। कर्तृत्व के सद्भाव में वहाँ से उपयोग हट ही नहीं सकता और स्व में उपयोग आये बिना तीन काल में कभी भी निराकुल सुख व शान्ति की प्राप्ति संभव नहीं है, समाधि होना भी संभव नहीं है।

धर्मी ने अपने आत्मा को परपदार्थों से सर्वथा भिन्न जाना है, माना है। इसीकारण वे समाधि की सिद्धि के लिए अर्थात् आत्मा की परमशान्ति के लिए अपने ज्ञानोपयोग को देहादि से हटाकर स्वरूप में जोड़ते हैं। यह परम शान्तिदायक अध्यात्म भावना है। इस शास्त्र में बारम्बार यही उपदेश दिया है तथा इसी की भावना भाई है।

जितना-जितना बहिर्मुखी झुकाव होता है, उतना-उतना ही दुःख है। तथा जितना-जितना अन्तुर्मखी पुरुषार्थ होता है, उतना-उतना चैतन्य वेदन में आनन्द है, सुख है। ऐसा धर्मीजीव ने स्वसंवेदन से जान लिया है। अतः वह अपने उपयोग में सतत् आत्मा का ग्रहण ही चाहता है। उसे जगत के किसी भी बाह्यपदार्थ में सुख भासित नहीं होता। एकमात्र निजस्वरूप में ही सुख भासित होता है। इसकारण वह पर की ओर का ज्ञान-व्यापार छोड़कर स्वरूपसन्मुख उपयोग करने का पुरुषार्थ करता है, स्वद्रव्य को ही ज्ञान में ग्रहण करता है। ग्रहण-त्याग की यही सच्ची विधि है, जो धर्मीजीव के पाई जाती है।

आत्मा को इसके सिवाय अन्य कुछ भी ग्रहण-त्याग नहीं करना है। उपयोग में जहाँ स्वद्रव्य का ग्रहण हुआ, वहाँ समस्त परद्रव्य एवं परभाव उपयोग से बाहर ही रह जाते हैं। अर्थात् स्व की ओर झुका हुआ उपयोग बाह्य वस्तुओं के त्यागरूप ही होता है।

इसप्रकार उपयोग की निजस्वरूप में सावधानी ही समाधि है। यही मोक्षमार्ग है। इसी में ग्रहण करने योग्य स्व का ग्रहण व त्यागने योग्य पर का त्याग सहज हो जाता है।

* * *

श्लोक ४९

जगद्देहात्म दृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ :- **(देहात्मदृष्टीनां)** देह में आत्मबुद्धि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को **(जगत)** स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार आदि जगत **(विश्वास्यं)** विश्वास करने योग्य **(च)** और **(रम्यमेव)** रमणीय ही लगता है। तथा **(स्वात्मनि एव आत्म दृष्टीनां)** अपने आत्मा में ही आत्मदृष्टि— अपनापन रखनेवाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओं को **(क्व विश्वासः)** स्त्री-पुत्रादि जगत के प्रति विश्वास नहीं होता। **(वा)** अथवा **(क्व रतिः)** किसी से प्रेम नहीं होता। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानी को बाह्य जगत में कहीं सुखबुद्धि व अपनापन नहीं होता।

भावार्थ :- जिन जीवों को देह में आत्मबुद्धि है— अपनापन है, उनको बाह्यजगत सुखरूप भासित होता है। इसी कारण वह उनके प्रति ममत्व रखता है तथा उनके विषयों में रमता है, उन्हीं में अटकता-भटकता है। जबकि ज्ञानी को एक निज आत्मा के सिवाय इन संयोगों में कहीं भी सुख दिखाई नहीं देता। ज्ञानी को इनकी असारता का यथार्थ ज्ञान हो गया है। तथा अपने ज्ञानानन्द स्वभावी सुखस्वरूप आत्मा की यथार्थ श्रद्धा/प्रतीति हो गई है। इन सब कारणों से उसे आत्मा ही विश्वसनीय प्रतीत होने लगा है तथा जगत हेय भासित होने लगा है।

श्लोक ४९ पर प्रवचन

इस श्लोक में कहा गया है कि अज्ञानी बाह्य वस्तुओं को रम्य मानकर उन्हीं में रमते हैं और ज्ञानी अपने आत्मा को रम्य/आनन्दमय मानते हैं। अतः वे आत्मा में ही रमते हैं।

जब तक देह में आत्मबुद्धि है, तबतक ही जगत के पदार्थ विश्वसनीय एवं रम्य लगते हैं। बहिरात्माओं को ही जगत के पदार्थों में

सुख भासता है। जब अपने आत्मा की पहिचान हुई, आत्मा में ही अहंबुद्धि एवं सुखबुद्धि हुई, तब फिर अन्य बाह्य संयोगों के प्रति आत्मपने का भाव कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता। ज्ञानी को किसी भी परपदार्थ में सुख दिखाई नहीं देता।

देखो, धर्मात्माओं का रम्यस्थान ! धर्मात्मा अपने ऐसे सुरम्य शान्तिदायक स्थान को छोड़कर राग की आग में जलनेवाले वीरान प्रदेश में कैसे रम सकते हैं ? नहीं रम सकते। जिसने ऐसे शान्ति के धाम आत्मप्रदेश को देखा नहीं है, वह मूढ़ प्राणी ही परद्रव्यों में सुख की कल्पना करके उन्हें रम्य मानता है।

यदि कोई अज्ञानी ऐसा प्रश्न करे कि जगत में जो पदार्थ दुःखदायक हैं, वे भले ही रम्य न हों; परन्तु जो सुखदायक हैं - ऐसे स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी वगैरह को तो रम्य कहो ! उन्हें रम्य क्यों नहीं कहते ?

ऐसे ही लोगों का समाधान इस गाथा में किया है। कहते हैं कि अरे मूढ़ ! बाह्य पदार्थ जो तुझे रम्य/सुखरूप लगते हैं, सो तेरी बाह्यदृष्टि व देहदृष्टि के कारण ही लगते हैं। वस्तुतः अपने आत्मा के सिवाय कहीं कोई भी वस्तु सुखरूप व रम्य नहीं है। जिसकी देह में आत्मबुद्धि/एकत्वबुद्धि है उसे ही संयोगों में सुखबुद्धि है तथा उसे ही सारा असार संसार सुखरूप भासित होता है। ज्ञानी तो अपने आत्मा को इस जगत से जुदा जानकर आत्मा को ही रम्य व विश्वास योग्य मानते हैं।

यहाँ विश्वास योग्य का अर्थ श्रद्धा योग्य समझना तथा रम्य अर्थात् रमने योग्य जानना।

ज्ञानी तो चिदानन्द स्वभाव में ही सुख मानकर उसी की श्रद्धा व उसी में रमणता करते हैं। इस कारण वे कभी ठगाये नहीं जाते। अपना आत्मा कभी भी धोखा नहीं देता। उसके सन्मुख होने पर तो सच्चा सुख

प्राप्त होता ही है तथा आत्मा का कभी वियोग भी नहीं होता। संयोग तो क्षणभर में छूट जाते हैं, दगा दे जाते हैं। फिर भी अज्ञानी उनमें सुख मानता है, उनपर विश्वास कर लेता है। यही अज्ञान उसके दुःख का मूल है।

ज्ञानी को तो ऐसी अटल श्रद्धा है, विश्वास है कि एकमात्र मेरा आत्मा ही मेरे सुख का धाम है। इसके सिवाय जगत का कोई भी तत्त्व मेरे सुख का साधन नहीं है। फिर उन बाह्य संयोगों पर कैसा विश्वास? श्रीमद राजचन्द्रजी कहते हैं -

अनन्त सौख्य नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता।
अनन्त दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता॥

ज्ञानी बाह्य संयोगों में स्वप्न में भी सुख नहीं मानता, वह तो अपने स्वभाव को ही सुख का सागर जानकर उसका विश्वास व उसी में एकाग्रता करता है। इसप्रकार वह अपने अतीन्द्रिय सुख को भोगता है।

हे भव्य ! तू भी अपने आत्मा को ही सुख का स्थान जानकर उसी का विश्वास कर। तथा उसी में रमणता कर। बाह्य पदार्थों में सुख की मान्यता छोड़। पूज्यपादस्वामी का ऐसा उपदेश है।

समकिती को अपना आत्मा ही इष्ट है। उसे अपने आत्मा के सिवाय जगत में अन्यत्र कहीं भी/कुछ भी इष्ट एवं सुख रूप नहीं लगता।

ज्ञानी/समकिती तो ऐसा मानते हैं कि मेरा सुख तो मेरे चिदानन्द स्वभाव में ही है। ऐसे स्वभाव का विश्वास करके धर्मी बारम्बार उसी का स्पर्श करता है; उसी में डुबकी लगाकर शान्तरस का वेदन करता है। चैतन्य के विश्वास से ज्ञानी भवसागर से तर जाता है और मोक्ष दशा को प्राप्त हो जाता है।

* * *

श्लोक ५०

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ :– (अन्तरात्मा) **(आत्मज्ञानातपरं)** आत्मज्ञान से भिन्न अन्य किसी भी कार्य को **(चिरं)** लम्बे समय तक **(बुद्धौ)** अपनी बुद्धि में - विचारों या चिन्तन में **(न धारयेत्)** नहीं रखते। (यदि) **(अर्थवशात्)** प्रयोजनवश **(किंचित्कुर्यात्)** क्वचिद्-कदाचित् **(वाक्कायाभ्याम्)** वचन व काय के द्वारा करना पड़ जाये तो **(अतत्परः)** अनासक्त भाव से करते हैं, उसमें तन्मय नहीं होते।

भावार्थ :– ज्ञानी अपने उपयोग को - भावों को अधिकांश तो आत्मज्ञान के कार्यों में ही जोड़ते हैं, लगाते हैं। आत्मज्ञान के सिवाय अन्य किसी व्यावहारिक कार्यों में वे अपने उपयोग को लम्बे काल तक नहीं लगाते। कदाचित् प्रयोजनवश स्व-पर के उपकार हेतु या अस्थिरता के कारण वचन-काय द्वारा आहार ग्रहण करने और उपदेशादि देने का विकल्प आता है, तो उसमें भी वे अतन्मय भाव से ही प्रवर्तते हैं।

श्लोक ५० पर प्रवचन

अहा ! ज्ञानचेतना ही धर्मी का एकमात्र कार्य है। वह अपनी उस ज्ञानचेतनारूप कार्य में ही सदा तत्पर रहता है। अस्थिरता के कारण प्रयोजनभूत आहार - उपदेश आदि कार्यों में भी कभी-कभी जुड़ना पड़ता है; पर उनमें वह आसक्त नहीं होता। उसे वह अनासक्तभाव से करता है, हृदय से उस कार्य को वह करना नहीं चाहता। अतः उसमें अतत्पर रहता है, उत्साहित नहीं होता। करता है पर अरुचिपूर्वक करता है, उसमें आनन्द नहीं मानता।

धर्मी को तो अपने आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव का ही पूर्ण विश्वास है तथा उसी में उसकी रति है। वह जानता है कि शरीरादि बाह्य विषयों

में आत्मा का ज्ञान व आनन्द नहीं है। बस, इसीकारण धर्मी उन विषयों में रति नहीं करता।

समकिती अन्तरात्मा को अपने ज्ञानस्वरूप की प्रतीति तो हो ही गई है, साथ ही उसने निर्विकल्प अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी चख लिया है। अनन्तकाल से बाह्यविषयों में जिस आनन्द के स्वाद का वेदन कभी भी नहीं हुआ था - ऐसे अपूर्व स्वाद का वेदन आत्मा के अनुभव में हुआ है। इसकारण अब धर्मी बाह्य विषयों से छूटकर चैतन्यस्वरूप में ही स्थिर रहना चाहता है, बारम्बार उसी में रमने-जमने का प्रयत्न करता है, अस्थिरता को लम्बाना नहीं चाहता। अब उसे बाह्य विषय सुहाते नहीं हैं। तथा जब उसके मुनिदशा हो जाती है तब वह निर्विकल्प अनुभव में बारम्बार स्थिर होता है। मुनि की परिणति लम्बे काल तक बाहर में - विकल्पों में नहीं रहती। वे तो सतत् स्वरूप में जाने व ठहरने में ही तत्पर रहते हैं। बाह्य आहार-उपदेश आदि क्रियाओं में मुनि अतत्पर रहते हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवाले समकिती अन्तरात्मा भी रागादि में व विषयों में अतत्पर हैं; क्योंकि वे भी उनमें सुख नहीं मानते। उनकी भावना तो सदा ऐसी रहती है कि कब इस राग को तोड़ूँ एवं कब अपने आनन्द स्वभाव में स्थिर होऊँ। वर्तमान में अस्थिरता के कारण राग आता है तथा मन-वाणी व देह की क्रिया पर लक्ष्य जाता है; परन्तु उसमें ऐसी एकाग्रता नहीं होती कि वे अपने ज्ञान व आनन्द को भूल जावें तथा बाह्यविषयों में आनन्द मानने लगें।

यद्यपि अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ये ज्ञानी भी राज-पाट में मग्न हैं। परन्तु ज्ञानी के अन्तरंग चेतना के परिणाम विषयों से व राग से किस तरह भिन्न हैं - यह अज्ञानी को खबर नहीं है।

जब मुनि ध्यान में लीन होते हैं तथा अन्तर में अतींद्रिय आनन्द का रसपान कर रहे होते हैं, उसीसमय कदाचित् बाहर में सिंहादि क्रूर

पशुओं के द्वारा उनके शरीर को खाया जा रहा हो, चीरा-फाड़ा जा रहा हो तो देखनेवाले को तो ऐसा लगता है कि अरे रे ! यह बेचारे मुनि कितने दुःखी हैं ? उस बेचारे को क्या पता कि मुनिराज को तो उसीसमय अन्तर में सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अधिक आनन्दरस की धारा उल्लसित हो रही है। वे तो सिद्ध भगवान जैसे परम-आत्मिकसुख में लीन हैं तथा सिंह के द्वारा चीर-फाड़ होने से अल्पकाल में शरीर को छोड़कर साक्षात् सिद्धदशा को प्राप्त कर लेते हैं।

स्वरूप से बाहर निकलना ही प्रमाद है, दुःख है। यद्यपि व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि जो तीर्थयात्रा न करे, विषयों में ही वर्ते वह आलसी है। परन्तु परमार्थ में तो चिदानन्द स्वरूप के अनुभव से बाहर निकलना ही प्रमाद है, क्योंकि ज्ञानी को आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी सुख भासित नहीं होता।

धर्मी इस जड़ शरीर को अथवा इसकी क्रिया को अपने चित्त में धारण नहीं करता। वह तो ज्ञानानन्दमय अपनी चैतन्यकाया को ही धारण करता है। यह देह-मन-वाणी मैं नहीं हूँ, मैं उनका कर्ता भी नहीं हूँ, उनका करानेवाला भी नहीं हूँ, उनका अनुमोदन करनेवाला भी नहीं हूँ। उनसे सर्वथा भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप ही हूँ। इसप्रकार धर्मी अपने आत्मा की भावना में ही तत्पर है।

* * *

श्लोक ५१

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ।। ५१ ।।

अन्वयार्थ :- **(यत्)** जो शरीरादि बाह्यपदार्थ **(इन्द्रियैः)** इन्द्रियों द्वारा मैं देखता हूँ, **(तत् मे न अस्ति)** वह मेरा स्वरूप नहीं है (किन्तु) **(नियतेन्द्रियः)** भाव-इन्द्रियों को बाह्य-विषयों से रोककर **(यत्)** जो **(उत्तम)** उत्कृष्ट अतीन्द्रिय **(सानंद ज्योति)** आनन्दमय ज्योति **(अन्तः पश्यामि)** अन्तरंग में देखता हूँ, अनुभव करता हूँ **(तत् मे अस्तु)** वह मेरा वास्तविक स्वरूप है।

भावार्थ :- जो इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं, है। वह तो पुद्गल का - जड़ का स्वरूप है; वह आत्मा नहीं, अनात्मा है।

श्लोक ५१ पर प्रवचन

जब पुरुषार्थी जीव आत्मा-अनात्मा के भेद-विज्ञान द्वारा शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षा करके, उपयोग को वहाँ से हटाकर स्व-सन्मुख करता है और आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, तब वह अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान होने से वह आत्मस्वरूप में ही रमने की भावना करता है, बाह्यविषयों में रमना पसन्द नहीं करता। इसकारण अन्तरात्माओं को शरीरादि बाह्य पदार्थों में अनासक्ति होती है। वे तो ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

धर्मात्मा शरीरादि से भिन्न अपने आत्मा की ऐसी भावना भाता है कि इन्द्रियों द्वारा जो दिखाई देता है, वह मैं नहीं हूँ। मेरा स्वरूप तो परम-उत्तम ज्ञानज्योतिस्वरूप आनन्दमय है; परम प्रसन्नता रूप परमार्थसुख सहित है। मैं अपने ऐसे स्वरूप को ही अन्तरंग में देखता हूँ। उसमें मुझे परम सुख की अनुभूति होती है। बस, इसीकारण इन्द्रियों के बाह्यविषयों से अपने ज्ञानोपयोग को हटाकर अतीन्द्रियज्ञान द्वारा मैं

अपने आत्मा को देखता हूँ, अनुभव करता हूँ। तथा उस निज आत्मतत्त्व के सिवाय सभी बाह्यविषयों के प्रति अनासक्त हूँ। उन बाह्यविषयों में मुझे किन्चित् भी अपनापन व सुख भासित नहीं होता।

इन्द्रियों द्वारा जो भी बाह्य में दिखाई देता है, वह मेरा स्वरूप ही नहीं है। वह सब तो जड़ है, अचेतन है। आत्मा इन्द्रियज्ञान गम्य नहीं है, वह इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता। वह तो अतीन्द्रियज्ञान से ही दिखाई देता है।

आचार्य कहते हैं कि जो परद्रव्य को अपना मानते हैं तथा पर से अपना सुख-दुःख मानते हैं, उन्हें वस्तुतः पर में अनासक्ति हो ही नहीं सकती। चाहे वे बाह्य में कितनी ही अनासक्ति का प्रदर्शन करें, उन्हें तो परद्रव्यों के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अनन्त आसक्ति है।

धर्मी - ज्ञानी जीवों का परिणाम तो अपने आत्मा को समस्त परद्रव्यों से जुदा जानने के कारण आत्मसन्मुख हो गया है, स्वरूप की ओर झुक गया है तथा उन्हें अपने आत्मा के सिवाय किसी भी दूसरे स्थान पर स्वप्न में भी आनन्द नहीं आता। इस कारण उन्हें ही समस्त बाह्यविषयों के प्रति वास्तविक अनासक्ति होती है। ज्ञानी की अन्तर्मुख झुकी हुई दृष्टि किसी भी बाह्यविषय को धारण नहीं करती। इसकारण वह तो सदैव यही विचार करता रहता है कि मैं तो आनन्द सहित ज्ञानज्योति हूँ, अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द मेरा स्वरूप है...। आनन्दधाम आत्मा ही मेरे विश्वास का एवं विश्राम का स्थान है। मैं अपने अन्तरंग में ऐसे निजतत्त्व को आनन्द सहित देखता हूँ।

इसप्रकार समकिती अपने आत्मतत्त्व की भावना करते हुए उसी की अराधना करता है। उसे अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन ही सुखकर लगता है एवं इन्द्रियविषय दुःखकर लगते हैं। इसलिए वे धर्मात्मा अपनी बुद्धि में अपने आत्मा को ही धारण करते हैं और शरीरादि को धारण नहीं करते।

* * *

श्लोक ५२

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ :- (आरब्धयोगस्य) योग का अभ्यास करनेवालों के **(बहिःसुखं)** बाह्यविषयों में सुख प्रतीत होता है। **(अथ आत्मनि)** और आत्मस्वरूप में **(दुःख)** दुःख प्रतीत होता है। (परन्तु) **(भावितात्मनः)** आत्मस्वरूप को यथार्थपने जाननेवालों को **(बर्हिःएव)** बाह्यपदार्थों में ही **(असुखं)** दुःख प्रतीत होता है। तथा **(अध्यात्मं सौख्य)** आत्मस्वरूप में सुख का अनुभव होता है।

भावार्थ :- तात्पर्य यह है आत्मोपलब्धि के लिए योग का अभ्यास करनेवालों को प्रारम्भिक अवस्था में पूर्व के रागात्मक संस्कारों के कारण, बाह्यविषयों की ओर झुकाव होने की प्रवृति जल्दी नहीं छूटती; इसकारण आत्मस्वरूप में रमना मुश्किल लगता है, कठिन व कष्टप्रद प्रतीत होता है।

धीरे-धीरे आत्मभावना का अभ्यास हो जाने से जब विषयों का रस फीका पड़ने लगता है और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आने लगता है तथा आत्मा के अभ्यास में परिपक्वता आने लगती है, आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होने लगता है, तब फिर उसे अतीन्द्रिय-आनन्द का अनुभव सहज लगने लगता है; कष्टप्रद नहीं लगता।

श्लोक ५२ पर प्रवचन

यहाँ इस श्लोक की उत्थानिका में एक प्रश्न उपस्थित किया है कि आत्मा तो स्वयं ज्ञानानन्दमय है और विषय-भोग दुःखस्वरूप हैं - इस कारण जीव आत्मोपलब्धि हेतु तत्पर भी रहते हैं; फिर भी उन्हें इन्द्रिय विषयों को छोड़ने में और आत्मा के अनुभव करने की प्रक्रिया में कष्ट का अनुभव क्यों होता है ? इस जीव को वह कार्य कष्टप्रद क्यों लगता है ? तथा इन्द्रिय के विषय सुखप्रद या आरामदायक प्रतीत क्यों होते हैं ?

प्रश्न मार्मिक एवं महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस प्रश्न में सम्यग्दर्शन होने के पूर्व जीव की आन्तरिक स्थिति कैसी बनती है - इस बात का यथार्थ चित्रण किया गया है। भले ही वह बातें कुछ भी आदर्श की करे, पर यथार्थता यही है।

इसी का समाधान करते हुए आचार्य देव स्वयं श्लोक में कहते हैं कि यद्यपि आत्मा में ही आनन्द है, आत्मा ही उपादेय है, उसी में एकाग्र होना चाहिए, वही एकमात्र सुख का स्थान है । आत्मार्थी की भावना भी ऐसी ही है और निर्णय भी ऐसा ही है। अतः प्रयत्न भी इसी दिशा में निरन्तर चलता रहता है। परन्तु प्रारम्भ में उसे आत्मा के अनभ्यास के कारण और विषयों में रुचि एवं अभ्यास होने के कारण कष्ट प्रतीत होता है। न तो विषय ही आसानी से छूटते हैं और न आत्मा ही सहजता से पकड़ में आता है। अनादिकालीन अभ्यास से बाह्यविषय उसे सहज लगते हैं और आत्मा अत्यन्त अपरिचित होने से आत्मभावना में आना कठिन लगता है।

अहा ! अन्तरंग में एकाग्रता का प्रयत्न करनेवाला साधक पूछता है कि प्रभो ! इधर आनन्द के धाम सुखस्वरूप आत्मा में आने में तो कष्ट लगता है और उधर दुःखमयी विषयों में जाना सुखद लगता है - ऐसा क्यों ?

अरे भाई ! आत्मसाधक को अन्तरंग में तो 'वास्तव में यही श्रद्धान है कि आत्मा ही आनन्दमय है, अतः एकमात्र यही उपादेय है, इसी में एकाग्र होना चाहिए।' अतः वह इसी दिशा में प्रयत्नशील रहता है, पर प्रारम्भ में कष्ट लगने का कारण यह है कि अनादि से तो बाह्यविषयों का ही अभ्यास रहा है, अतः वैसी ही आदत पड़ी हुई है। मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार परिचित वस्तु सुलभ, सहज व आनन्ददायक लगने लगती है और अपरिचित वस्तु असुलभ, कठिन व कष्टकारक प्रतीत होती है।

अबतक कभी आत्मा का अनुभव किया ही नहीं है, अत: कठिन तो लगेगा ही ! बस यही कारण है कि प्रारम्भ में बाह्यविषयों से हटकर आत्मभावना करने में कष्ट प्रतीत होता है।

भाई ! अनभ्यास के कारण भले ही कष्टकारक लगे, पर अन्तर प्रयत्न से - स्वरूपसन्मुखता के पुरुषार्थ से आत्मा का अनुभव होने पर ऐसा अपूर्व आनन्द आयेगा, जैसा आजतक कभी भी नहीं आया होगा। तथा सभी विषयों के रस फीके लगने लगेंगे। अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करते-करते उस जीव में अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा और अनुपम उल्लास आयेगा। तत्पश्चात् आत्मा के अनुभव का उद्यम करते-करते जब निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मदर्शन होता है, तब स्पष्टरूप से उसे आत्मा में सुख व विषयों में दुःख लगने लगता है।

अब तक आत्मानुभव नहीं था, अतीन्द्रिय आनन्द का रस नहीं लगा था, आत्मा की शान्ति का वेदन नहीं था। इन्हीं कारणों से आत्मा में जाने का उद्यम कष्टप्रद लगता था और विषयसुख सुहावने लगते थे। और अब आत्मस्वरूप की निकटता होने से व आत्मा के आनन्द का स्वाद आने से विषयों का रस उड़ गया है, विषयों में से सुखबुद्धि टूट गई है।

जिसने कभी आत्मा की शान्ति देखी नहीं है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चखा नहीं है; केवल बाह्यविषयों का रस ही चखा है, उसे प्रारम्भ में आत्मानुभव का प्रयत्न तथा विषयों का त्याग कष्टकारक लगता है। परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास से सम्यक् पुरुषार्थ से स्थिति पलट जाती है; आत्मा में आनन्द आने लगता है व विषय रस नीरस लगने लगता है।

जिसतरह कोई मनुष्य सदा से समुद्र का खारा पानी ही पीता रहा, घर में कुँआ होते हुए भी उसकी जानकारी न होने से आज तक मीठा पानी चखा ही न हो तो उसे वही खारा पानी ही अच्छा लगता है। किन्तु

जब उसे यह पता लग जाय कि अपने ही घर में मीठे पानी का कुँआ है और वह प्रयत्न करके एकबार मीठे पानी का स्वाद चख ले, तो फिर खारे पानी की रुचि नहीं रहती। तथा गहरे कुँए से पानी प्राप्त करने में भी उसे कष्ट प्रतीत नहीं होता।

इसीप्रकार अज्ञानी जीव अनादि से बाह्य इन्द्रिय-विषयों में आकुलतारूप खारे पानी के स्वाद को ही चखता रहा है, अब तक उसने अपने आत्मा के अतीन्द्रिय - अनाकुल आनन्द के मीठे स्वाद को चखा ही नहीं है। इस कारण उसे आत्मोपलब्धि के प्रयत्न में कष्ट प्रतीत होता है। जब चैतन्य आत्मा की गहराई में जाकर, स्वरूप में डुबकी लगाकर आनन्द रस चख लेता है, तब फिर उसे इसी में आनन्द आने लगता है और अन्य सब विषयों के रस फीके पड़ जाते हैं।

* * *

श्लोक ५३

तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत् तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत्॥५३॥

अन्वयार्थ :– (तत् ब्रूयात्) तत् अर्थात् आत्मस्वरूप की बात करना, **(तत् परान् पृच्छेत्)** आत्मानुभवी पुरुषों से पूछना **(तत् इच्छेत्)** आत्मस्वरूप की इच्छा करना, आत्मप्राप्ति को अपना इष्ट बनाना। तथा **(तत्परः भवेत्)** आत्मस्वरूप की भावना में तत्पर होना, सावधान होना। **(येन अविद्यामयं रूपं)** जिससे अज्ञानमय बहिरात्म रूप का **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(विद्यामयं ब्रजेत्)** ज्ञानमयरूप की - परमात्मस्वरूप की प्राप्ति हो।

भावार्थ :– देखो ! यहाँ कहते हैं कि आत्मोपलब्धि के लिए आत्मा की भावना किस प्रकार करना चाहिए; जिससे आत्मा की उपलब्धि हो सके।

सर्वप्रथम तो आत्मार्थी को दूसरे आत्मानुभवी धर्मात्मा ज्ञानीजनों के पास जाकर आत्मा का स्वरूप पूछना चाहिए, उसी की निरन्तर अभिलाषा होनी चाहिए, एकमात्र आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए ही अपना सतत् प्रयत्न रहना चाहिए। हमारा लक्ष्य निरन्तर उसी ओर रहना चाहिए। उसी में सदैव तत्पर रहना चाहिए। उसी का बहुमान होना चाहिए।

श्लोक ५३ पर प्रवचन

आत्मस्वरूप की भावना ही हमारी समस्त गतिविधियों का मुख्य केन्द्रबिन्दु हो। ऐसा करने से अज्ञानमय बहिरात्मपना छूटकर ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

जिसको आत्मा का अनुभव करना हैं, उसे अन्य सभी जगह से अपने उपयोग को खेंचकर बारम्बार एकमात्र आत्मस्वरूप की भावना ही करनी चाहिए, उसी की कथा-वार्ता करनी चाहिए। संतों के पास एकमात्र

आत्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्न ही पूछने चाहिए; उसी की भावना करनी चाहिए एवं उसी में तत्पर व उत्साहित होना चाहिए। ज्ञान में, श्रद्धा में, विचारों में, चर्चा-वार्ता में, उठते-बैठते, खाते-पीते , सर्वत्र एक आत्मा को ही विषय बनाना चाहिए।

योगसार अध्याय ६ श्लोक ४९ में भी यही कहा है कि विद्वानों को अर्थात् आत्मार्थीजनों को एकमात्र चैतन्यस्वरूप आत्मा ही निश्चल मन से पढ़ने योग्य है, ध्यान करने योग्य है, अभ्यास करने योग्य है, उपार्जन करने योग्य है, जानने योग्य है, कहने योग्य है, प्रार्थने योग्य है, शिक्षा-उपदेश योग्य है, दर्शन योग्य है, स्पर्शन योग्य है, अनुभव योग्य है।

इसप्रकार वहाँ ग्यारह बोलों से अर्थात् सर्वप्रकार से आत्मस्वरूप की भावना करने को कहा गया है। समयसार के निर्जरा अधिकार में इसी श्लोक को उद्धृत करके ऐसा कहा है कि ऐसे आत्मस्वरूप की भावना ही निर्जरा का उपाय है। इसतरह सर्वप्रकार से आत्मस्वरूप के अनुभव का प्रयत्न करने पर उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति अवश्य होती है। तथा अविद्या का नाश हो जाता है।

यहाँ अभ्यास, श्रवण, तत्परता, आराधना, वांचना, पूछना, देखना, जानना, अनुभव करना आदि अनेक बोल कहकर यह भाव प्रकट किया है कि सच्चे जिज्ञासु जीवों को आत्मस्वरूप के अनुभव की कैसी उग्र भावना होती है। ज्ञानी अपने परिणामों को अन्य सबसे हटाकर सर्वप्रकार से एक चैतन्य की ही भावना का प्रयत्न करते हैं। जिसतरह कोई व्यक्ति अपने इकलौते लाड़ले बेटे के खो जाने पर उसे खोजने के नानाप्रकार से अथक् प्रयत्न करता है, उसीतरह ज्ञानीजन आत्मा को खोजने में प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें आत्मा को देखे बिना चैन नहीं पड़ती। तथा यदि कोई उन्हें अपने स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताता है, तो वह उस उपाय को बड़े ही उत्साह से सुनता है।

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है - ऐसा जिसको भान हुआ है, उसको तो बारम्बार उस ओर का झुकाव रहता ही है, जिनको आत्मानुभव की रुचि जागृत हुई है, वे भी बारम्बार उसी का प्रयत्न किया करते हैं। रुचि के अनुसार परिणाम होता है। इसकारण जिन्हें आत्मा की रुचि जागृत हुई हो, उसका परिणाम भी आत्मा की ओर ही झुका करता है। जिसतरह जिसे देह में एकत्व-ममत्व है, आत्मबुद्धि है, वह देह को स्वस्थ रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, उसी की चिन्ता करता है। जिस माता को पुत्र के प्रति प्रेम है, वह माता निरन्तर उसी की देख-भाल में लगी रहती है। उसके खोने पर उसे पाने की चिन्ता में बेचैन रहती है, उसे राग-रंग रुचते नहीं, सांसारिक सुख सुहाते नहीं। ठीक उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि है, उसे आत्मा की प्राप्ति के बिना चैन नहीं पड़ती। वह उसी को पाने के लिए निरन्तर बैचेन रहता है, उसी का बारम्बार प्रयत्न किया करता है, उसी की बात ज्ञानियों से पूछता है, उसी का बारम्बार विचार किया करता है।

जब आत्मा की ऐसी लगन लगती है तभी आत्मा की प्राप्ति होती है। तथा जिसे ऐसे आत्मा की एकबार प्राप्ति हो गई, वह समकिती भी बारम्बार उस अतीन्द्रिय आनन्द की ही चर्चा-वार्ता, विचार एवं भावना किया करता है। उसे फिर अन्यथा कहीं कोई उत्साह नहीं आता।

ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की भावना व दृढ़ प्रयत्न से ही अज्ञान छूटकर ज्ञानमय निजपद की प्राप्ति होती है।

* * *

श्लोक ५४

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थ :- (वाक् शरीरयोः भ्रान्तः) जिन्हें वचन व शरीर में आत्मपने की भ्रान्ति है, वे बहिरात्मा जीव **(वाचि शरीरे च)** देह व वाणी में, **(आत्मानं संधत्ते)** आत्मा की कल्पना करते हैं, देह, वाणी व जीव को एक ही मानते हैं **(पुनः)** और **(अभ्रान्तः)** जिन अन्तरात्माओं को देह व वाणी में आत्मभ्रान्ति नहीं है, वे **(एषां तत्त्वं)** आत्मतत्त्व तथा वाणी व कायरूप अजीवतत्त्व को **(पृथक निबुध्यते)** एक दूसरे से पृथक् जानते हैं, अनुभव करते हैं ।

भावार्थ :- वस्तुतः शरीर व वाणी दोनों पुद्गल की रचनाएं हैं, मूर्तिक व जड़ हैं, और आत्मा के स्वरूप से विपरीत स्वभाव वाले हैं; तो भी अज्ञानी बहिरात्मा उनमें आत्मबुद्धि करते हैं, उन्हें ही आत्मा मानते हैं । यही उनकी भ्रान्ति है । इस भ्रमवश वे शरीरादि की भावना ही भाते रहते हैं, आत्मा की भावना नहीं भाते ।

ज्ञानी अन्तरात्मा को जड़ शरीरादि व चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थभान है। वे दोनों को भिन्न - भिन्न जानते हैं। उन्हें शरीरादि में आत्मभ्रान्ति नहीं है । वे शरीर को शरीर तथा आत्मा को आत्मा ही समझते हैं । एक में दूसरे का मिलाप नहीं करते । इसकारण वे निरन्तर आत्मा की ही भावना भाते हैं ।

श्लोक ५४ पर प्रवचन

जब जीव की इच्छानुसार देह व वचन की क्रिया होती है, तो अज्ञानी को ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि ये क्रियायें मेरी हैं । उसे देहादि जड़ की क्रिया से जुदा अपना (आत्मा का) अस्तित्त्व भासित नहीं होता । तथा ज्ञानी जड़ व चेतन दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा दोनों को

अत्यन्त जुदा जानते हैं एवं आत्मा को देहादि से अत्यन्त जुदा जानकर आत्मा की ही भावना भाते हैं। आत्मा के सिवाय वे किसी भी बाह्यवस्तु को अपनी नहीं मानते। अज्ञानी शरीरादि को ही आत्मा मानने के कारण बाह्यविषयों को अपना उपकारी मानते हैं। इसकारण वे देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना नहीं भाते।

अज्ञानी जड़ व चेतन को एक दूसरे के साथ मिला देता है। आत्मा से विलक्षण जो मूर्त शरीरादि पुद्गलों की रचना है, उसे आत्मा की ही मानता है; जबकि आत्मा पुद्गल से भिन्न चैतन्य स्वरूप है। जड़ में आत्मपने की भ्रान्ति के कारण अज्ञानी को भिन्न आत्मा की भावना नहीं होती।

इसके विपरीत ज्ञानी निरन्तर देहादि से भिन्न आत्मा की ही भावना भाते हैं। वे स्वयं को चैतन्यस्वरूप आत्मरूप ही समझते हैं। उन्हें चैतन्यभाव के सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ में स्वप्न में भी अपनेपन की भ्रान्ति नहीं होती। इसकारण उन्हें पर्याय-पर्याय में, कार्य-कार्य में व क्षण-क्षण में पर व पर्याय से पृथक् आत्मा ही की भावना रहा करती है। उन्हें सोच-सोच कर आत्मभावना नहीं करनी पड़ती, क्योंकि अन्तर में भेदज्ञान प्रगट हो गया है। उस भेदज्ञान के बल से भिन्नत्व की भावना सदैव सहजतया वर्तती रहती है। ऐसे भेदज्ञान के अभ्यास के बल से वैराग्य व चारित्र दशा प्रगट करके ज्ञानी अल्पकाल में ही देह से अत्यन्त भिन्न सिद्धपने को प्राप्त होते हैं।

* * *

श्लोक ५५

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञान भावनात्॥ ५५॥

अन्वयार्थ :- (इन्द्रियार्थेषु) पाँच इन्द्रियों के विषयों में **(तत् न अस्ति)** ऐसा कोई पदार्थ नहीं है **(यत् आत्मनः)** जो आत्मा को **(क्षेमंकरं)** हितकारी हो। **(तथापि)** तो भी **(बालः)** अज्ञानी **(ज्ञानभावनात्)** मिथ्यात्व के संस्कार के कारण **(तत्र एव रमते)** इन्द्रियों के विषय में ही रमते हैं।

भावार्थ :- आत्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाले और देहादि बाह्य पदार्थों में आत्मभ्रान्ति से प्रवर्तन करने वाले अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थ को हितकर मानकर उन्हीं में आसक्त रहते हैं, जबकि कोई भी बाह्य पदार्थ आत्मा के लिए हितकर या उपकारी नहीं है - यह बात इस गाथा में कह रहे हैं।

श्लोक ५५ पर प्रवचन

जिस तरह बालक हिताहित का विवेक न कर चाहे जिन पदार्थों में रमने लगते हैं; उसी तरह अज्ञानी जीव हिताहित के विवेक से रहित स्वपर के भान बिना अपने सुखधाम स्वरूप चैतन्यतत्त्व को भूलकर बाह्य इन्द्रिय विषयों में सुख मानकर उनमें रमता है। परन्तु जगत में ऐसा कोई इन्द्रिय विषय नहीं है जो आत्मा को सुख दे सके। तथा यदि तत्त्वदृष्टि से देखें तब तो इन्द्रिय सुख वस्तुतः सुख ही नहीं है, दुःख ही है; कयोंकि वह बन्ध का कारण है, आकुलता उपजाने वाला है, विषम है, क्षणभंगुर है, पराधीन है, विघ्नसहित है। सुख तो उसे कहते हैं जो स्वाधीन हो, आत्मा के अधीन हो, निराकुल हो, बन्धन रहित हो तथा जिसमें अन्य पदार्थों की अपेक्षा न हो।

अज्ञानी ऐसे सुख को जानते नहीं हैं और मृगजल की भाँति बाह्य विषयों में सुख की आशा से अनन्तकाल से भ्रमते हैं। बापू ! उनमें जरा भी वास्तविक सुख नहीं है। तथा कोई भी परपदार्थ तुझे सुख देने में समर्थ नहीं है। तुझे क्षेम करने वाला व सुख देने वाला तो तेरा आत्मा ही है। इसलिए पर से भिन्न आत्मा को जानकर भेदज्ञान द्वारा दिन-रात उस एक आत्मा की ही भावना कर।

अज्ञानी अज्ञानभाव के कारण दिन-रात बाह्य विषयों की प्राप्ति की रटन लगाये रहता है, किन्तु परद्रव्य, अंशमात्र भी, आत्मा के न कभी हुए हैं, न कभी होगें ही। इसकारण तुझे आज तक मात्र आकुलता का ही वेदन हुआ है।

यदि स्वद्रव्य को पर से भिन्न जानकर स्वरूप की प्राप्ति के प्रयत्न में लग जावें तो अन्तर्मुहूर्त में उसकी उपलब्धि हो जावेगी और निराकुल सुख का अनुभव होगा।

* * *

श्लोक ५६

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढ़ात्मनः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जागृति॥ ५६॥

अन्वयार्थ :- (मूढ़ात्मनः) अज्ञानी जीव **(तमसि)** मिथ्यात्वरूपी अंधकारवश **(चिरं कुयोनिषु सुषुप्ता)** अनादिकाल से नित्यनिगोद आदि कुयोनियों में **(सुषुप्ताः)** सुषुप्त अवस्था में, मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए हैं। यदि कदाचित् भाग्यवशात् पंचेन्द्रिय भी हो गये तो **(अनात्मीयात्मभूतेषु)** अनात्मभूत अर्थात् अपने से पृथक स्त्री-पुत्रादि में तथा आत्मभूत एकक्षेत्रावगाही शरीरादि में **(ममाहमिति)** ममत्व - एकत्व रूप **(जागृति)** अध्यवसाय करता है।

भावार्थ :- शरीर को ही आत्मा मानकर यह मूढ़ अज्ञानी जीव मिथ्यात्वरूप अन्धकार के कारण अनादिकाल से निगोद व नरकादि कुयोनियों में मूर्च्छित हो रहा है। इसकी ज्ञानशक्ति क्षीण हो गई है, यह जड़वत् हो गया है।

जो आत्मा के स्वरूप नहीं हैं; उन अनात्मभूत शरीर-स्त्री-पुत्रादि में 'ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ' - ऐसा मानकर अज्ञानी पर में तन्मय हो गया है। वह अपने चैतन्य तत्त्व में सचेत नहीं होता। इस कारण वह जड़ पदार्थों को ही अपना मानकर तथा स्वयं को जड़रूप मानकर संसार में ही परिभ्रमण करता है।

ऐसे अज्ञानभाव के कारण बहिरात्मा ने इस संसार में मिथ्यादृष्टी के योग्य एक भी भव ऐसा नहीं छोड़ा, जहाँ जन्म-मरण न किया हो। चारों गतियों में अनन्तबार जन्म-मरण कर चुका है। शरीर को अपना मानकर शरीर को ही धारण किया है। अशरीरी चैतन्यसुख को आज तक कभी चखा ही नहीं है।

श्लोक ५६ पर प्रवचन

निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो यह मूढ़ जीव ऐसा सुषुप्तवत् रहता है कि वहाँ इतनी भी विचार शक्ति नहीं होती, इतना भी नहीं सोच सकता कि 'मैं कौन हूँ ?'

अनन्तकाल बीतने पर कभी कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय भी हुआ तो वहाँ भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार के वशीभूत हो अनात्मभूत शरीर आदि को ही अपना स्वरूप मानता रहा। देहादि से भिन्न 'मैं तो चैतन्य तत्त्व हूँ' - ऐसा कभी नहीं जाना।

इसप्रकार अपने वास्तविक स्वरूप के सिवाय अन्यत्र कहीं भी आत्मबुद्धि कर-कर के जीव संसार में ही रखड़ता रहा। अन्तरंग में ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि न होने से अनेक बार ग्यारह अंग व नौ पूर्व तक ज्ञान का क्षयोपशम पा लिया तो भी रागादिरूप अनात्मभाव को ही आत्मा माना। राग से भिन्न आत्मा के चेतनामय वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना। उसने अपने ज्ञान का विषय निज आत्मा को नहीं बनाया और अनात्मा के साथ ही ज्ञान को एकाकार किया।

जो जीव चैतन्यस्वरूप को लक्ष्य में न लेकर, उसमें एकता न करके ज्ञान की विशिष्ट क्षयोपशम रूप योग्यता को केवल पर विषयों में ही लगाता है, उसके ज्ञान का विषय अनात्मा ही बन जाता है। वह आत्मा के विषय में तो प्रमादी ही है। वह क्षयोमशम ज्ञान की दृष्टि से आत्मा को जानने के योग्य होते हुये भी आत्मा को जानने में जागृत (सावधान) नहीं हुआ है। उस पर करुणा करके आचार्य कहते हैं कि अरे प्रभु ! तूने अनन्तकाल से आज तक तो निगोदवासी होने से यह अवसर ही नहीं पाया था, अब अवसर आया है सो इसे भी प्रमाद में गँवा रहा है। चेत् ! चेत् !! अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा को जानने का प्रयत्न कर।

अनादि काल से उपर्युक्त प्रकार से तूने अनात्मा को ही आत्मा मानकर मूर्च्छा से भवभ्रमण किया; यही असमाधि है। शुभभाव में भी आत्मा की समाधि नहीं है; क्योंकि शुभभाव स्वयं रागरूप होने से अनात्मा हैं। देहादि व रागादि से भिन्न अपना चैतन्यतत्त्व ही अपने विश्राम का स्थान है और इसी के लक्ष्य से अपने को समाधि होती है। ऐसा सत्य स्वरूप समझकर हे जीव ! तू अपने आत्मा को लक्ष्य में ले। जिस स्वरूप को समझे बिना अनादिकाल से अनन्त दुःख प्राप्त किये और जिस स्वरूप को जानकर अनन्त जीव पूर्ण सुखी हो प्रगट परमात्मा बन गये, वह क्या चीज है? यह जानने का प्रयत्न कर!

एक बार उसे जानने की जिज्ञासा तो कर ! जिसके गाने तीर्थंकरदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में गाये, वह अचिन्त्य महिमावन्त अपना आत्मस्वरूप कैसा है ? उसे जानने का प्रयत्न तो कर ! उसे जानने से ही तेरी असमाधि की भावना ध्वस्त होकर तुझे सच्ची समाधि की प्राप्ति होगी।

* * *

श्लोक ५७

पश्येन्ननिरंतरं देहात्मनोऽनात्म चेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्वतत्त्वे व्यवस्थितः ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ :– ज्ञानी **(आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः)** आत्मस्वरूप में स्थित होकर **(आत्मनः देहं)** अपने शरीर को **(अनात्मचेतसा)** 'यह मेरा आत्मा नहीं है' - ऐसी बुद्धि से **(निरंतरंपश्येत्)** निरन्तर अनुभव करे और **(अन्येसां)** अन्य जीवों के देह को **(अपरात्माधियाः)** 'यह पर का आत्मा नहीं है' - ऐसी बुद्धि से अनुभव करे।

भावार्थ :– हे जीव ! तू आत्मस्वरूप में स्थिर होकर आत्मा को चैतन्य स्वरूप देख ! इसीप्रकार अन्य जीवों को भी अपने से सर्वथा भिन्न देख।

धर्मी अन्तरात्मा इसीप्रकार जड़-चेतन को निरन्तर भिन्न-भिन्न स्वरूप ही जानते-देखते हैं। मैं चैतन्य स्वरूप ही हूँ, तथा देहादि जड़ - अचेतन ही हैं - ऐसा ही निरन्तर अनुभव व विचार किया करते हैं। किसी क्षण भी देहादि की क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानते।

देखो ! शरीर को अचेतन रूप से देखने-जानने को जो कहा उसकी विधि बताते हुए आगे कहते हैं कि पर सन्मुख होकर मात्र देह के सामने देखने व 'यह अचेतन है' ऐसा मानने की बात यहाँ नहीं है। बल्कि देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप निज भगवान आत्मा की ओर झुककर उसे ही निजरूप में देखने तथा उससे बाह्य समस्त परपदार्थों को अनात्मापने से देखने की बात कही गई है।

श्लोक ५७ पर प्रवचन

धर्मी जीव का जब भी पर की ओर लक्ष्य जाता है, तब वह उन परपदार्थों को पररूप ही देखते-जानते हैं। उनमें उनकी आत्मबुद्धि नहीं होती। उन्हें निरन्तर भेदज्ञान वर्तता रहता है। उनकी आत्मज्ञान की धारा

अविच्छिन्न रूप से चलती ही रहती है। इसलिए आचार्य देव कहते हैं कि हे जीव ! तू चैतन्य की ओर झुककर अपने आत्मा को निरन्तर चेतनास्वरूप ही देख ! और अपने स्वरूप से भिन्न देहादि को अनात्मारूप में ही देख।

अन्तरात्मा तो इस तरह देखता ही है, बहिरात्मा को भी आचार्य यही समझाते हैं कि तू भी इसी प्रकार देखने का प्रयत्न कर। तभी तेरा अनादिकालीन बहिरात्मपना छूटेगा और तू अन्तरात्मा हो सकेगा। अर्थात् इसी विधि से तेरा अनादिकालीन दुःख दूर होगा और समता, समाधि प्राप्त हो सकेगी। जिन्हें भेदज्ञान हो गया है, उन धर्मात्माओं को तो प्रतिपल - सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-फिरते - निरन्तर अपना आत्मा देहादि से अत्यन्त भिन्न ही भासित होता है। वे देहादि को तो जड़रूप देखते ही हैं। अपने राग-द्वेषादि विभाव भावों को भी अनात्मा के रूप में ही देखते-जानते हैं। आत्मा-अनात्मा का जो भेदज्ञान हुआ, उस भेदज्ञान की भावना की जागृति ज्ञानी के निरन्तर वर्तती रहती है।

जिन्होंने देह को सामान्यपने तो अपने आत्मा से भिन्न माना; परन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं जाना, उन्होंने वस्तुतः आत्मा को देह से भिन्न माना ही नहीं है। इसलिए यहाँ अस्ति सहित नास्ति की बात कही है कि - जहाँ ऐसा लक्ष्य में लिया कि 'मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ' वहाँ देहादि से आत्मबुद्धि छूट ही जाती है। इस प्रकार से देह से भिन्न आत्मा को जाने बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि सुख की सत्ता तो आत्मा में है, देह में नहीं। जहाँ सुख की सत्ता है, उसे जाने बिना कभी सुख होता ही नहीं है।

हे जीव ! एक बार तू विचार तो कर कि जिस सुख को तू चाहता है, वह सुख कहाँ है? क्या सुख देह में है? अरे भाई ! देह में तो सुख है ही नहीं, इन्द्रियों के विषयों में भी सुख नहीं है। अनादिकाल से इन्द्रियसुख के प्रति झुकाव रहा, परन्तु आज तक उसमें से किंचित् भी

सुख की प्राप्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध होता है कि उन विषयों में सुख है ही नहीं। बाह्य विषयों की ओर जो झुकाव होता है उसमें तो आकुलता ही आकुलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि बाह्य विषयों में तो दुःख ही दुःख है।

ज्ञानी अन्तरात्मा ऐसा जानते हैं कि मेरा सुख तो मुझ में ही है, सुख तो मेरा स्वभाव ही है। जिसतरह मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसीप्रकार मेरा आत्मा सुखस्वरूप भी है। मेरे आत्मा में ही मेरे सुख की सत्ता है, अस्तित्त्व है। जिसतरह कड़वापन अफीम का स्वभाव है, खट्टापन नींबू का स्वभाव है, उसीतरह सुख मेरा (आत्मा का) स्वभाव ही है। आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर मुझे शान्ति व सुख का वेदन होता है।मैंने अब तक ऐसे आत्मा के सुख को न जानकर शरीरादि बाह्य विषयों में सुख माना और भ्रम से बाहर में भटका, इस कारण मैं दुःखी हुआ हूँ। इस प्रकार मैं अपनी भ्रान्ति से ही दुःखी हुआ हूँ।

ज्ञानी अन्तरात्मा ऐसा जानते हैं कि आत्मा तो ज्ञान-आनन्द स्वरूप है तथा शरीर जड़ - अचेतन है, अनात्मा है, अजीव है। अजीव में सुख-दुःख व ज्ञान नहीं है। मेरी सत्ता अजीव से त्रिकाल भिन्न है। ऐसे भेदज्ञान से ज्ञानी अपने आत्मा को देह से निरन्तर भिन्न ही देखते हैं।

* * *

श्लोक ५८

आज्ञापितं जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।

मूढ़ात्मानस्ततस्तेषां वृथा में ज्ञापनश्रमः ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ :- (यथा मूढ़ात्मानः) जैसे मूर्ख - अज्ञानी जीव **(आज्ञापितं)** ज्ञान कराये बिना **(मां न जानन्ति)** अपने आत्मस्वरूप को नहीं समझता **(तथा)** उसी प्रकार **(ज्ञापितं न जानन्ति)** ज्ञान कराने पर भी नहीं समझता। **(ततः)** इसलिए **(तेषां में ज्ञापनश्रमः)** उन्हें समझाने का मेरा श्रम **(वृथा)** व्यर्थ है, निष्फल है। - ऐसा विचार कर ज्ञानी जीव अज्ञानी जीवों को समझाने के प्रति उदास हो जाते हैं।

भावार्थ :- इस श्लोक में पर को समझाने के निष्फल विकल्प से विराम लेकर वचनातीत स्वसंवेद्य तत्त्व की भावना भाई गई है। आचार्य कहते हैं कि स्वानुभूतिगम्य आत्मा वचनों से कैसे बताया जा सकता है? अतः ज्ञानी - अन्तरात्मा निरन्तर अपने आत्मा को देह से भिन्न ही देखते हैं।

यहाँ कोई पूछ सकता है कि जब ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मा को जैसा है वैसा ही अनुभव करते हैं तो वे दूसरे मूढ़ जीवों को भी आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्यों नहीं समझा देते ? ताकि वे अज्ञानी भी अपने निजस्वरूप को जान लें।

उसके उत्तर में पूज्यपादस्वामी ने इस श्लोक में कहा है कि जिसने देहादि से भिन्न आत्मस्वरूप जाना है, वे अनुभवी धर्मी जीव विचार करते हैं - अहो ! यह अचिन्त्य आत्मतत्त्व जगत को समझाना दुर्लभ है, कठिन है; क्योंकि स्वानुभवगम्य यह आत्मतत्त्व वचन और विकल्प से भी पार है। ऐसे स्वानुभवगम्य चैतन्यतत्त्व को मूढ़ जीव जिसतरह समझाये बिना नहीं जानते, उसीतरह समझाए जाने पर भी नहीं जान पाते। इसलिए दूसरों को समझाने का हमारा श्रम (विकल्प) व्यर्थ है।

श्लोक ५८ पर प्रवचन

देखो, तीर्थंकरों ने समोशरण में दिव्यध्वनि द्वारा समझाया, परन्तु वहाँ भी सभी जीव नहीं समझ पाते। जिनकी स्वयं की योग्यता होती है, वे ही समझ पाते हैं। शेष नहीं समझते। जो तीर्थंकर के उपदेश से भी नहीं समझे, वे मेरे द्वारा कैसे समझ सकेंगे ?

इस प्रकार धर्मी जीवों को उपदेश देने का विकल्प उठता है, पर वे अपने उन विकल्पों की निःसारता को समझते हैं। उन्हें वस्तु के स्वतन्त्र परिणमन की पूर्ण श्रद्धा है, अतः उन्हें विकल्पों को पूर्ण करने पर जोर नहीं आता। सहज बनाव बने तो वे समझाते हैं, न समझाने की हठ भी नहीं करते। जिन पात्र जीवों की योग्यता पकती है, वे समझ भी जाते हैं। परन्तु धर्मी जीव अधिकांश तो अपने उन विकल्पों को तोड़कर चिदानन्द स्वरूप में ही ठहरना चाहते हैं।

ज्ञानी विचार करते हैं कि मेरा स्वरूप तो जानना - देखना ही है। उसके सिवाय मैं अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। यदि कुछ करने का विकल्प उठता है, तो उससे राग उत्पन्न होता है। वाणी का कर्त्ता तो मैं कभी हूँ ही नहीं और वस्तुतः देखा जाय तो उस राग - विकल्प का कर्त्ता भी मैं नहीं हूँ।

चैतन्यस्वरूप तो स्वसंवेदनगम्य है, वह वाणी व विकल्पों द्वारा समझाया जा सके - ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है।

इसलिए ज्ञानी मुख्यतया दूसरों को उपदेश देने की प्रवृति में नहीं पड़ते। वे तो सदा अपना आत्महित साधने में ही तत्पर रहते हैं। कदाचित् उपदेश की वृत्ति भी उठती है, पर उन्हें उसकी मुख्यता नहीं है।

परोपदेश की वृत्ति का जो शुभराग है, वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधारूप है। इसलिए ज्ञानी इस राग के व्यामोह में पड़कर कभी आत्महित से विमुख नहीं होते।

आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप में रहना ही समाधि है। तथा दूसरों को समझाने का जो विकल्प उठता है, वह शुभराग है। उस शुभराग से भी बन्धन ही होता है। इसकारण ज्ञानी को उस राग की पूर्ति करने में विशेष उत्साह जागृत नहीं होता।

दूसरे मुझे ज्ञानी मानें तो ही मेरा ज्ञान सच्चा हो - ज्ञानी को ऐसी आकांक्षा नहीं होती। उसे किसी के सील-सिक्का लगवाने की गरज नहीं होती। अर्थात् ज्ञानी के पराश्रय वृत्ति नहीं होती।

ज्ञानी को तो चैतन्य स्वभाव का चिन्तन और उसी में एकाग्रता ही परम प्रिय है। उपदेश से मैं दूसरों को समझा सकता हूँ - ऐसी मिथ्या मान्यता ज्ञानी के नहीं होती।

समकिती भले ही छोटी उम्र का ही क्यों न हो वह भी राग से व देह से भिन्न अपने शुद्धात्म स्वरूप को जानता है। इसलिए वह देहादि की क्रिया से और राग से उदासीन रहता है।

प्रश्न : ज्ञानी उपदेश देते तो हैं न ?

उत्तर : अरे भाई ! ज्ञानी अपने ज्ञानानन्द स्वरूप के सिवाय एक विकल्प के भी कर्ता नहीं हैं। तथा भाषा के कर्ता भी नहीं है। यदा-कदा, यत्किंचित् विकल्प आते हैं एवं उपदेश भी देते हैं; परन्तु उस समय भी ज्ञानी को तो अपने चैतन्य स्वभाव की ही भावना रहती है। तू ज्ञानी की इस अन्तर भावना को नहीं पहचानता। इस कारण ऐसा प्रश्न करता है कि ज्ञानी उपदेश देते तो हैं न ? विकल्प और वाणी के चक्कर में ज्ञानी कभी चैतन्य की भावना से नहीं चूकते। वे तो चैतन्य भावपने से स्वयं अपना ही वेदन करते हैं।

* * *

लोक ५९

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थ :– (यत् बोधयितुं इच्छामि) मैं जो समझाना चाहता हूँ **(तत् न अहं)** वह तो मैं हूँ नहीं। अर्थात् मैं विकल्पों में उलझे मूढ़ जीवों को जो समझाना चाहता हूँ - संबोधित करना चाहता हूँ, वह विकल्प तो मैं हूँ ही नहीं। तथा **(यत् अहं)** जो मैं हूँ - जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभवगम्य मेरा वास्तविक स्वरूप है **(तदपि)** वह भी **(अन्यस्य ग्राह्यं न)** दूसरों को ग्राह्य नहीं है। **(तत् पुनः अन्यस्य किं बोधये)** तो फिर मैं दूसरों को क्यों समझाऊँ ?

भावार्थ :– ज्ञानी विचार करता है - अन्य जीवों को आत्मस्वरूप का बोध देने का विकल्प, आत्मा का स्वरूप समझाने का भाव व्यर्थ है। जब-जब ज्ञानियों को उन्हें समझाने का विकल्प उठता है, तभी उन्हें ऐसा विचार आता है कि मैं जिनको समझाना चाहता हूँ वे तो विकल्पारूढ़ या मूढ़ - मिथ्यादृष्टी हैं ही। तथा मेरी वाणी में जो विकल्प से व भेद से कथन आता है, उन मूर्तिक शब्दों से भी अमूर्त आत्मा पकड़ में नहीं आता। इसलिए वाणी व विकल्प से मैं किसी को कैसे समझा सकता हूँ? सामने बैठे जीवों को समझाते समय तो विकल्प ही होता है, आत्मा पकड़ में नहीं आता, क्योंकि आत्मा तो अनुभव्य है। स्वसंवेदनगम्य आत्म तत्त्व अन्य जीवों को वाणी या विकल्पों से ग्राह्य कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

श्लोक ५९ पर प्रवचन

तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा भाषा की व्यर्थता - निरर्थकता को भली-भाँति समझता है। वह सोचता है कि जो आनन्दमय आत्मतत्त्व का अनुभव मुझे हुआ है, हो रहा है, मैं उसे अन्य जीवों को कैसे समझाऊँ ?

जब आत्मा विकल्पों के जाल में पकड़ में आता ही नहीं है, तो मैं अन्य को कैसे समझा सकता हूँ ? आत्मा तो स्वसंवेदन में ही आता है। अत: अन्य जीवों को उपदेश देने का विकल्प निरर्थक ही है।

इसप्रकार के चिन्तन से धर्मात्माओं का पर को समझाने के प्रति उत्साह नहीं होता। तथा अपने चैतन्यस्वभाव की सावधानी में उत्साह बढ़ जाता है।

देखो, ऐसे भानपूर्वक ज्ञानी का जो उपदेश निकलता है, वह बिल्कुल जुदी जात का होता है। वे आत्मा को अन्तर्मुख होने को ही कहते हैं। बहिर्मुख वचन से आत्मा को किंचित् भी लाभ नहीं है। इसलिए वाणी व विकल्प का अवलम्बन छोड़कर परम महिमापूर्वक चैतन्यतत्त्व का ही अवलम्बन करो - ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

ज्ञानी होने के पश्चात् उपदेशादि का प्रसंग बनता ही न हो - ऐसा नहीं है। परन्तु उस उपदेशादि में ज्ञानी को ऐसा अभिप्राय नही है कि मुझसे अन्य जीव समझ ही जावेंगे। तथा वह ऐसा भी नहीं मानता कि इस विकल्प से मुझे लाभ होता है। ज्ञानी तो ऐसा जानता व मानता है कि बहिरात्मा तो पराश्रय बुद्धि की मूढ़ता के कारण अन्तरंग में झुक नहीं पाता। इसकारण मेरे समझाने से भी वह अपने आत्मस्वरूप को नहीं समझ सकता। जब यह जीव स्वयं पराश्रय बुद्धि छोड़कर अन्तर्मुखी होकर स्वसंवेदन करेगा, तब ही वह प्रतिबोध पायेगा।

बहिर्मुखी बुद्धि वाले अज्ञानी जीवों को थोड़ी भी तत्त्वज्ञान विषयक जानकारी हुई नहीं कि उन्हें स्वयं समझने के बजाय दूसरों को समझाने का ही तीव्र विकल्प आने लगता है। और कदाचित् कुछ लोग समझने की भावना से उसे सुनने आने लगें, तब तो उसे ऐसा भ्रम होने लगता है कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ और मुझे इस कार्य से धर्म की प्राप्ति हो रही है।

बस, इसी कारण उसका बल वाणी द्वारा विकल्पों की पूर्ति तक ही सीमित रह जाता है। वाणी व विकल्पों से पार आत्मा पर उसका जोर नहीं जा पाता। क्योंकि उसने स्वयं उस आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं किया है।

जगत के मूढ़ जीव भी उसकी वैराग्य प्रेरक शास्त्रीय भाषा व मधुर वाणी के व बाह्याचार के प्रभाव से प्रभावित होकर ऐसा मानने लगते हैं कि यह बड़ा धर्मात्मा है, पर यह धर्मात्मापने का सही माप नहीं है। यह भी संभव है कि पुण्य के योग से अज्ञानी - मिथ्यादृष्टि के क्षयोपशम ज्ञान का उघाड़ अच्छा व व्याख्यान शैली आकर्षक हो और उसके विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा की भाषा - शैली उतनी आकर्षक न हो।

इसप्रकार धर्मी जीव निज स्वरूप में ही रहना चाहते हैं। दूसरों को समझाने का विकल्प चैतन्यस्वरूप से बाह्य है। उन विकल्पों से चैतन्यस्वरूप ग्राह्य नहीं है। चैतन्यस्वरूप तो स्वसंवेद्य ग्राह्य है। भगवान की दिव्यध्वनि तभी धर्म का निमित्त बनती है, जब जीव स्वयं अन्तर्मुखी होकर स्वसंवेदन करता है। ऐसे स्वसंवेद्य तत्त्व को मैं दूसरों को कैसे समझा सकता हूँ ? फिर बाह्य चेष्टा में मैं रुकूँ ही क्यों? अटकूँ ही क्यों? ऐसे विचार से ज्ञानी धर्मात्मा जीव अपने अन्तर्मुखी पुरुषार्थ में ही प्रयत्नशील रहते हैं।

* * *

श्लोक ६०

बहिस्तुष्यति मूढ़ात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्ति कौतुक ।। ६० ।।

अन्वयार्थ :- **(अन्तरे पिहित ज्योति)** अन्तरंग में जिसकी ज्ञान ज्योति मोह से आच्छादित हो गई है, वह **(मूढ़ात्मा)** बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव **(बहिः तुष्यति)** शरीरादि पर पदार्थों में ही संतुष्ट रहता है। उनमें अनुराग करके उनकी अनुकूलता में ही अपने को सुखी मानता है और **(प्रबुद्धात्मा)** जिसको स्वरूप विवेक जागृत हो गया है - ऐसा अन्तरात्मा **(बहि व्यावृत्ति कौतुकः)** शरीरादि बाह्य पदार्थों के अनुराग से निवृत्त हो जाता है, उनमें राग नहीं करता। **(अतः तुष्यन्ति)** उसे तो आत्मा के स्वरूप में ही संतोष आता है।

भावार्थ :- धर्मी तो जानते हैं कि आत्मानुभव का जो अतीन्द्रिय आनन्द है, वैसा आनन्द जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है। जगत में यदि कोई सर्वाधिक आश्चर्यकारी, अद्भुत एवं महान कौतुकमय वस्तु है तो वह एकमात्र अपना आत्मा ही है। चैतन्य आत्मा जैसी अचिन्त्य वस्तु इस जगत में अन्य कोई नहीं है।

आत्मा की महिमा से मण्डित धर्मी जीव सदैव अपने आत्मस्वरूप में ही संतुष्ट रहते हैं। अब उन्हें बाह्य विषयों का रस और कौतुक बिल्कुल नहीं रहा। भले ही वे अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से बाहर में इन्द्रिय विषयों में रचे-पचे दिखाई देते हों, पर अन्तरंग में उन्हें इनमें रुचि नहीं रहती।

इसके विपरीत जिन्हें ऐसे आत्मा के आनन्द की खबर नहीं है, वे बहिरात्मा मूढ़ जीव बाह्य विषयों में सुख मानकर उन्हीं में रचे-पचे रहते हैं तथा उसी में प्रीति करते हैं, उन्हें चैतन्य स्वरूप अपने आत्मा की महिमा नहीं आती।

ऐसे जीवों को सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं - अरे मूढ़!

उन विषयों में जरा भी सुख नहीं है। सुख का सागर तो एकमात्र तेरा आत्मा ही है। अतः उसी में प्रीति कर, उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न कर।

श्लोक ६० पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्रदेव भी समयसार में कहते हैं कि हे जीव! देहादि परद्रव्य का पड़ौसी होकर उन देहादि से अपने आत्मा को भिन्न जानकर एक बार तू अन्तर में अपने चैतन्य स्वरूप को ज़ानने का प्रयत्न कर। तुझे अवश्य ही आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के दर्शन होंगे।

यहाँ आचार्यदेव उग्र पुरुषार्थ और रुचि जागृत करने के लिए कहते हैं कि तू मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो। तात्पर्य यह है कि चैतन्य तत्त्व को जानने के लिए तू अपना जीवन समर्पित कर दे। यदि तू दृढ़ निश्चय करके अन्तर रुचि से प्रयत्न करेगा तो अल्पकाल में ही तुझे चैतन्य का अनुभव हो जायगा, सम्यग्दर्शन हो जायेगा।

ज्ञानी अपने अन्तरंग चैतन्य में अपना आनन्द देखता है। बाह्य में उसे कहीं भी सुख का आभास नहीं होता है। बस इसी कारण उसकी दृष्टि बाह्य विषयों से हटकर अन्तरंग में झुक जाती है। इसके विपरीत अज्ञानी अपने अविवेक के कारण बाह्य विषयों व रागादि में आनन्द मानकर उनमें ही प्रीति करता है, चैतन्य की प्रीति नहीं करता। इस कारण उसे समाधि नहीं होती।

अरे भाई ! चैतन्य के समक्ष तो ज्ञानी के सारे जगत का कौतूहल, रुचि आदि का विकल्प छूट गया है। इस कारण उसे तो निरन्तर समाधि ही वर्तती है।

चैतन्य के आनन्द को पहचानकर उसकी प्रीति करना, उसी में लीनता करना ही निर्विकल्प शान्ति और समाधि प्राप्त करने का उपाय है।

* * *

श्लोक ६१

न जानन्ति शरीराणि सुख दुःखान्य बुद्धयः ।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा विचार करता है कि **(शरीराणि सुख-दुःखानि न जानन्ति)** शरीर सुख-दुःख को नहीं जानता । **(तथापि अबुद्धयः)** तो भी मूढ़जन **(अत्रएव)** इस शरीर में ही **(निग्रहानुग्रहधियं कुर्वते)** निग्रह और अनुग्रह की बुद्धि करते हैं ।

भावार्थ :- शरीर जड़ होने के कारण - अचेतन होने से कुछ जान नहीं सकता, उसे सुख-दुःख का वेदन भी नहीं होता । तो भी बहिरात्मा को देह में निग्रह व अनुग्रह की बुद्धि रहती है । उसका कारण यह है कि उसे देह में आत्मबुद्धि होती है । उसे देह व आत्मा भिन्न-भिन्न भासित नहीं होते ।

श्लोक ६१ पर प्रवचन

यह शरीर तो जड़ है, वह कहीं सुख-दुःख का वेदन तो करता ही नहीं है। तथापि जिन्हें आत्मज्ञान नहीं हैं वे मूढ़जीव पर-द्रव्य में प्रीति-अप्रीति करते हैं । प्रीति करने योग्य अपने चैतन्यस्वरूप को जिसने नहीं जाना उसकी देहादि में प्रीति वर्तती है । तथा देहादि की उपेक्षा करने के बदले उसे अन्दर ही अन्दर उनसे द्वेषबुद्धि हो जाती है । जहाँ देहबुद्धि है, वहाँ चैतन्य के आनन्द रूप समाधि नहीं होती; किन्तु असमाधि का भाव वर्तता है । वह अज्ञानी विचार करता है कि देह बाधक है; अतः अन्न आदि का त्याग करके इसे सुखा डालूँ, इन्द्रियों के निग्रह के नाम पर वह शरीर का निग्रह अर्थात् शोषण करने लगता है । इसप्रकार समाधि के नाम पर किए गए त्याग में उसे शान्ति नहीं बल्कि द्वेषबुद्धि रहती है ।

जो यह नहीं जानते कि यह शरीर तो मेरे ज्ञानानन्द स्वभाव से सर्वथा भिन्न है, उन अज्ञानियों को शरीर में ही अनुग्रह व निग्रह बुद्धि

होती है। मिथ्यादृष्टि जीव घर-द्वार छोड़कर जंगल में जाकर रहे तो भी चैतन्य की शान्ति के बिना समाधि के नाम पर शरीर के प्रति द्वेषबुद्धि से शरीर का त्याग करता है। पर शरीर द्वारा धर्म का साधन करने के लिए शरीर को आहार दूँ अथवा उपवास आदि द्वारा शरीर का निग्रह करूँ - ऐसी जिनकी बुद्धि है उनको अनन्तानुबंधी राग-द्वेष मौजूद है। उन्हें चैतन्य के अनुभव का वेदन नहीं है। इसकारण उनके समाधि नहीं है, बल्कि असमाधि ही है। स्वस्थ्य शरीर को ही सुख का साधन मानता है। अतः शरीर के पोषण करने की राग-बुद्धि भी होती है और विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियों को दुःख का कारण मानता है, अतः यदा-कदा उस पर द्वेषबुद्धि भी हो जाती है। इसप्रकार उसे देह की चिन्ता से निरन्तर असमाधि ही रहती है।

इसके विपरीत धर्मी को चैतन्यस्वरूप में ही प्रीति है। अपने चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त देहादि के प्रति उसे सदा अरुचि व उपेक्षा या उदासी ही वर्तती है। ज्ञानस्वरूप आत्मा शान्ति व आनंद का सागर है। उसकी ओर झुकाव होने पर देहादि की सहज ही उपेक्षा होने लगती है। धर्मी के आत्मस्वभाव की शान्ति के वेदनपूर्वक पर के प्रति उपेक्षा वर्तती है। धर्मी विचारता है कि मैं तो देह से भिन्न ज्ञानदर्शन स्वरूप हूँ। देह में मेरा सुख-दुःख है ही नहीं - ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना व सभी परद्रव्यों से आत्मा को भिन्न जानकर सर्व परद्रव्यों से उपेक्षित होकर ज्ञानानन्दस्वरूप में प्रीति करना ही समाधि का उपाय है।

अज्ञानी को आत्मभाव की तो खबर ही नहीं है, अतः उसके पर को भिन्न जानकर त्यागने का तो प्रश्न ही नहीं है। यदि पर को छोड़ने की सोचे, पर का त्याग करे तो उसे दुःख का कारण मानकर ही छोड़ता है। अतः अनिष्ट बुद्धि होने से द्वेष बुद्धि हो जाती है।

धर्मात्मा जीवों को - ज्ञानी जीवों को जगत के समस्त बाह्य विषयों का कौतुक छूट गया है। उन्हें बाह्य विषयों में कहीं भी सुख भासित नहीं होता। उन्होंने तो अमृत का सागर अथवा आनन्द का कल्पवृक्ष अपने अन्दर में ही साक्षात् देखा है और इसी का स्वाद चखा है; इसकारण उन्हें राग के फल की मिठास कैसे आ सकती है ?

ज्ञानी तो स्वतत्त्व में ही संतुष्ट है। अत: उसे ही सच्चा त्याग व सच्ची समाधि होती है। देखो ! ऐसे आत्मतत्त्व को जानकर अन्तर्मुख हो उसी की भावना करना ही परमशान्ति प्राप्त करने का उपाय है। ज्ञानी धर्मात्मा भले ही गृहस्थपने में हो, शरीर का संस्कार करता दिखाई दे, तो भी उसने श्रद्धा में अपने आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न जाना है, माना है; उसका पक्का निर्णय है कि मैं तो चैतन्य महाप्रभु हूँ, देह में हूँ ही नहीं जैसे खंभा आत्मा से जुदा है, वैसे ही शरीर भी मुझसे अत्यन्त भिन्न है।

यह देह को किंचित् भी सुख-दु:ख का कारण नहीं मानता यह जानता है कि - देह स्वयं अचेतन है, उसे तो सुख-दु:ख का भान होता नहीं है और सुखी-दु:खी करे - ऐसी सामर्थ्य भी उसमें नहीं है। इस प्रकार शरीर आत्मा के साथ सुख-दु:ख का कारण नहीं है। इसकारण ज्ञानी को न तो शरीर का शोषण करने का द्वेषभाव होता है और न पोषण करने का राग ही होता है। ज्ञानी को तो देह के प्रति उपेक्षा भाव वर्तता है - तटस्थ भाव या उदासीनता रहती है। ज्ञानी का ज्ञातास्वभावी स्वतत्त्व की ओर झुकाव होने से सम्पूर्ण जगत के प्रति व शरीर के प्रति सच्ची उपेक्षा बुद्धि हो गई है। जब तक स्वपर का भेदज्ञान नहीं है तभी तक संसार सम्भव है, भेदज्ञान होने पर संसार से निवृत्ति हो जाती है।

* * *

श्लोक ६२

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥ ६२॥

अन्वयार्थ :- (यावत्) जब तक कोई भी व्यक्ति **(कायवाक् चेतसां त्रयम्)** शरीर, वचन और मन को **(स्वबुद्धया गृह्णीयात)** आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, इन्हें ही आत्मा मानता है, **(तावत् संसार:)** तब तक संसार है। **(तु)** और जब **(ऐतेषां भेदाभ्यासे)** इन सबसे ज्ञान करके इन्हें आत्मा से भिन्न मानने लगता है, इनसे भेदाभ्यास कर लेता है तो **(निर्वृति :)** उसकी मुक्ति हो जाती है।

भावार्थ :- जब तक जीवों को मन-वचन-काय में एकत्व-ममत्व है, जब तक वह इन्हें अपना अभिन्न अंग मानता है, तब तक मिथ्याबुद्धि के कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है। और जब इनमें आत्मबुद्धि का भ्रम टूट जाता है, भेदज्ञान द्वारा आत्मानुभव का अभ्यास हो जाता है, तब वह संसार के बंधन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

श्लोक ६२ पर प्रवचन

जो व्यक्ति अपनी श्रद्धा-ज्ञान में ऐसा निर्णय नहीं करता कि मै ज्ञाता-दृष्टा चिदानन्द स्वरूप हूँ तथा शरीर-मन-वाणी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। जब तक जीव शरीरादि को आत्मबुद्धि से ग्रहण कर लेता है, ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि 'मैं तो चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ, शरीर-मन-वचन मैं नहीं हूँ'- ऐसी भेदज्ञानपूर्वक हुई श्रद्धा ज्ञान और आत्मानुभूति से संसार की निवृत्ति होती है।

जड़ के साथ एकत्वबुद्धि संसार का कारण है और भेदज्ञान का अभ्यास, देहादि से अत्यन्त भिन्नता तथा चैतन्यतत्त्व की बारम्बार भाई गई भावना मुक्ति का उपाय है। भेदज्ञान से ही मोक्ष के उपाय का प्रारम्भ होता है और भेदज्ञान की भावना से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

नियमसार में कहा है — ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है, उससे ही चारित्र होता है। भेदज्ञान ही मोक्ष का कारण है। समयसार कलश में भी कहा है कि अब तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं तथा जितने अभी तक संसार में बन्धन बद्ध हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही हैं।

इसलिए कहा है कि -

भावयेद्भेद विज्ञानम् इदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥

अर्थात् अविछिन्न रूप से भेदविज्ञान की भावना तबतक भानी चाहिए जब तक कि ज्ञान पर से हटकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जाय, आत्मा में ही लीन न हो जाय।

देखो ! ऐसे भेदज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा तो स्वपर प्रकाशक है, ज्ञानानन्दस्वरूप है। इसप्रकार जिसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में पर से भिन्न चैतन्य तत्त्व की स्वीकृति हुई है, वही जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

जो शरीर-मन-वाणी को अपना स्वरूप मानते हैं, उन्हें शरीरादि जड़ से भिन्न अपना ज्ञानानन्द स्वरूप भासित नहीं होता। शरीरादि पर दृष्टि रहने से उन्हें सदैव असमाधि ही वर्तती है। तथा ज्ञानी को तो सदैव ऐसा ही भासित होता है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूपी ही हूँ। ऐसे भानपूर्वक चैतन्यस्वरूप के आश्रय से धर्मी को समाधि होती है।

शरीर रोगी हो या निरोगी, दोनों ही स्थितियों में ज्ञानी अपने आत्मतत्त्व को सदैव भिन्न ही मानता है। इसकारण वह अपने चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता है, अजीव को अंशमात्र भी अपना नहीं मानता। इसकारण वह चैतन्यस्वभाव में लीन होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानी कहते हैं कि तुम भी इसीप्रकार भेदज्ञान को मोक्ष का कारण जानकर निरन्तर इसी भेदज्ञान की भावना भाओ।

* * *

श्लोक ६३

घनेवस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥ ६३॥

अन्वयार्थ :-(यथा घने वस्त्रे) जिस प्रकार मोटे वस्त्र को पहनने से **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष **(आत्मानं घनं)** स्वयं को मोटा **(न मन्यते)** नहीं मानता, अपने शरीर को पुष्ट नहीं मानता। **(तथा स्वदेहे पि घने)** उसीप्रकार अपने देह के मोटा होने से, तन्दुरुस्त होने से **(बुधः)** बुद्धिमानजन **(आत्मानं घनं न मन्यते)** आत्मा को मोटा या पुष्ट नहीं जानता।

भावार्थ :- तात्पर्य यह है कि जिसतरह शरीर व वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं, उसीतरह शरीर व आत्मा भी एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव देह में आत्म बुद्धि होने के कारण शरीर की पुष्टि से आत्मा की पुष्टि मानता है।

श्लोक ६३ पर प्रवचन

शरीर के साथ एकता की बुद्धि संसार का कारण है और शरीर से भिन्न चिदानन्द स्वरूप का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का कारण है। अब दृष्टान्त द्वारा यह समझते हैं कि धर्मात्माओं को शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान कैसे हो ?

आचार्य कहते हैं कि जिसतरह शरीर व वस्त्र दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उसीतरह आत्मा व शरीर दोनों जुदे-जुदे हैं। धर्मी को वस्त्र की तरह यह शरीर स्वयं से प्रगट भिन्न भासित होता है। यह बात चार श्लोकों द्वारा बहुत ही सरल रीति से समझा रहे हैं। देखो ! आत्मा का शरीर तो ज्ञानानन्दमय है। यह जड़ शरीर आत्मा का नहीं है। शरीर व वस्त्र दोनों ही जड़ हैं तथा आत्मा का स्वरूप तो दोनों से ही सर्वथा भिन्न है, इनकी

जाति ही जुदी है। आत्मा तो चैतन्यमूर्ति है और शरीर अचेतन मूर्ति है। इसतरह जब दोनों का स्वभाव ही जुदा है तो वे एक कैसे हो सकते हैं? वस्त्र का परमाणु तो कभी पलटकर शरीर रूप हो भी सकता है, परन्तु शरीर आत्मा रूप कभी भी नहीं हो सकता। तथा आत्मा भी कभी जड़ रूप नहीं होता। दोनों की जाति ही अत्यन्त जुदी है। ज्ञानी तो अपने आत्मा को चेतन रूप ही देखते हैं। जड़ शरीर को कभी अपने रूप नहीं देखते हैं।

देखो ! अत्यन्त सरल दृष्टांत देकर देह व आत्मा की भिन्नता समझाई है। जिसतरह वस्त्र तो प्रतिदिन नये-नये बदल लेते हैं पर शरीर तो वही का वही रहता है। उसीप्रकार शरीर अनेक बार बदले जाने पर भी आत्मा तो वही का वही रहता है। यदि देह ही आत्मा हो तो देह के नाश से आत्मा का नाश हो जाना चाहिये और देह के पुष्ट होने पर ज्ञानादि में भी वृद्धि होनी चाहिए पर ऐसा नहीं है। देह पुष्ट होने पर भी व्यक्ति बुद्धिहीन देखे जाते हैं और देह कृश होने पर भी बुद्धि अच्छी पायी जाती है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा को देह से भिन्न जानकर उसमें एकाग्रता करने का नाम ही समाधि है।

जिसतरह बहुत वस्त्र पहिनने से मनुष्य अपने को पुष्ट, मोटा-तगड़ा नहीं मानता, उसीतरह तुष्ट - पुष्ट युवा शरीर में रहने से धर्मी अपने को मोटे - तगड़ शरीर रूप नहीं मानता। धर्मी ऐसा मानता है कि यह युवा शरीर व इसकी क्रियायें मैं नहीं हूँ। मैं तो चैतन्यमय आत्मा हूँ।

अज्ञानी जीव देह से भिन्न अपनी जुदाई को जानता नहीं है। इसकारण वह देहादि के प्रति होनेवाले राग से छूटने का उपाय भी नहीं जानता। देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लिए बिना रागादि छोड़ना चाहे तो नहीं छोड़ सकता। चैतन्य के आनन्द में एकाग्रता से ही रागादि छूटते हैं।

जब शरीर ही मैं नहीं हूँ तो शरीर की निरोगता से मुझे सुख कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। शरीर आत्मा से सर्वथा जुदा है। अतः शरीर से आत्मा को सुख-दुःख होता ही नहीं है, आत्मा स्वयं ही सुख-दुःख रूप परिणमता है। आत्मा का सहज स्वभाव तो चिदानन्द सुखस्वरूप ही है। उसके अनुभव में तो सुख ही है। परन्तु अज्ञानी उसे नहीं जानता। इसकारण शरीर को अपना मान उसमें राग-द्वेष रूप दुःख का ही अनुभव करता है। बस यही असमाधि है।

इसके विपरीत ज्ञानी यह जानता है कि मेरा आत्मा तो ज्ञान व आनन्दमय है और वही मेरा स्व है। इसकारण वह अपने चैतन्य सुख का ही अनुभव करता है। यही सच्ची समाधि है और यही मोक्ष का कारण है।

* * *

श्लोक ६४, ६५, ६६

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं, न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेप्यात्मानं, न जीर्णं मन्यते बुधः ॥ ६४ ॥
नष्टे वस्त्रे यथात्मानं, न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेप्यात्मानं, न नष्टं मन्यते बुधः ॥ ६५ ॥
रक्ते वस्त्रे यथात्मानं, न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेप्यात्मानं, न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ :-(यथा वस्त्रे जीर्णे, नष्टे वा रक्ते सति) जिसप्रकार वस्त्र के जीर्ण, नष्ट या रक्त हो जाने पर **(बुधः आत्मानं जीर्णं नष्टं व रक्तं न मन्यते)** ज्ञानी बुद्धिमान पुरुष आत्मा को जीर्ण, नष्ट या रक्त नहीं मानते। **(तथा स्वदेहे अपि जीर्णे, नष्टे व रक्ते सति)** उसी प्रकार अपने देह के जीर्ण, नष्ट व रक्त होने पर **(बुधः)** ज्ञानीजन **(आत्मानं जीर्णं, नष्टं व रक्तं न मन्यते)** आत्मा को जीर्ण, नष्ट व रक्त नहीं मानते।

भावार्थ :- अज्ञानी को शरीर में एकत्व बुद्धि रहने के कारण वह शारीरिक अनुकूलता को आत्महित में साधक और प्रतिकूलता को आत्महित में बाधक मानता है। वह ऐसा मानता है कि शरीर स्वस्थ व निरोग हो तो ही धर्म हो सकता है, जीर्ण व रोगग्रस्त शरीर में धर्म नहीं हो सकता। परन्तु यह उसका भ्रम है।

ज्ञानी तो ऐसा मानते हैं कि मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त हूँ। बचपन, युवापन और बुढ़ापा मेरा रूप नहीं है। ये तो शरीर की अवस्थायें हैं, मेरा स्वरूप नहीं। हाँ, मेरी अज्ञान दशा में मेरे बालपना था; अब आत्मभाव रूप साधक दशा में धर्म की युवावस्था है - अर्थात् पुरुषार्थ की दशा है; तथा केवलज्ञान तथा सिद्धपद प्राप्त होना आत्मा की वृद्धावस्था है। वहाँ ज्ञान परिपक्व हुआ है। इसके सिवाय

शरीर की बाल, युवा एवं वृद्ध अवस्था आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं। वृद्धावस्था में शरीर की शक्ति क्षीण हो जाने पर आत्मा की शक्तियाँ क्षीण नहीं होतीं।

श्लोक ६४, ६५, ६६ पर प्रवचन

अज्ञानी को तो देह व इन्द्रियों से पार चैतन्य तत्त्व लक्ष्य में ही नहीं आया। इस कारण वह तो देह व इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। तथा देह व इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने से अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरी शक्ति ही क्षीण हो गई है। देह में ऐसी आत्मबुद्धि होने से वह आकुल-व्याकुल रहता है। देह की अनुकूलता हो तो 'मैं सुखी हूँ' - ऐसा मानकर वह अनुकूलता में मूर्च्छित हो जाता है। और जहाँ प्रतिकूलता होती है वहाँ मैं 'दुःखी हूँ' - ऐसा मानकर वह प्रतिकूलता में मूर्छित हो जाता है। इसके विपरीत ज्ञानी स्वयं को देहादि से भिन्न चैतन्य स्वरूप ही मानता है, इस कारण वह संयोगों में मूर्छित नहीं होता। चैतन्य के लक्ष्य से उसे शान्ति रहती है।

देह के नाश के प्रसंग में भी ज्ञानी को ऐसा भय व संदेह नहीं होता कि मेरा मरण (सर्वनाश) हो रहा है। वह जानता है, मानता है कि मेरी मृत्यु कभी होती ही नहीं है। इस कारण उसे मृत्यु भय नहीं होता।

तथा जिसप्रकार वस्त्र के लाल-पीले-काले और सफेद आदि रंगों से जगतजन स्वयं को वैसे रंगवाला नहीं मानता, उसीप्रकार ज्ञानी शरीर के रंग को आत्मा का रंग नहीं मानता। इसप्रकार ज्ञानी स्वयं को देह से भिन्न मानता है।

अहा ! देखो तो सही - जिसतरह वस्त्र जुदा है, उसीतरह शरीर भी आत्मा से भिन्न है। जिसतरह पत्थर का स्तम्भ आत्मा से जुदा है, उसीतरह देह आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। जिस तरह खंबे की क्रिया से आत्मा को धर्म नहीं होता, उसी प्रकार देह की क्रिया से आत्मा को धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

धर्मी अन्तरात्मा जानते हैं कि मैं ज्ञान व आनन्द स्वरूप हूँ। यह जड़ शरीर मैं नहीं हूँ, देह के नाश से मेरा नाश नहीं होता। जिसप्रकार शरीर का वस्त्र के साथ सम्बन्ध नहीं है, उसीप्रकार शरीर का आत्मा के साथ एकता का सम्बन्ध नहीं है।

देखो ! चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, देह तो दोनों की छूटती ही है। परन्तु ज्ञानी ने देह को जुदा जाना है, उसकी देह चैतन्य के लक्ष्य से छूटती है। इसकारण उसको मरण का भय नहीं होता। और अज्ञानी ने आत्मा को देह रूप ही माना है। इसकारण उसका शरीर, शरीर के लक्ष्य से छूटता है। यही कारण है कि उसको मरणभय तो होता ही है, साथ ही संक्लेश भी बहुत होता है। देह से जुदे आत्मस्वभाव के अनुभव बिना मरण का भय कभी टलता नहीं है।

शरीर नाश होने पर भी खेद न हो - ऐसी स्थिति तभी आ सकती है, जब शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लिया हो। जो शरीर को ही निजरूप अनुभव करते हैं, खेद-खिन्न हुये बिना उनकी देह छूट ही नहीं सकती। देह व आत्मा के भेदज्ञान पूर्वक ही देह की ममता छूटती है और तभी वीतरागभाव रूप समाधि होती है। समाधि अर्थात् वीतरागी आत्मशान्ति - जिसका मूल भेदज्ञान है।

अहा ! जो मुनिजन संसार की ममता छोड़कर आत्मा में एकाग्रता द्वारा निजपद में रमते हैं उन्हें परम समाधि वर्तती है। भले ही सिंह शरीर को फाड़-फाड़कर खाते हों अथवा शान्त होकर भक्तिभाव से उनके दर्शन करते हों - दोनों ही स्थितियों में मुनिराजों के समभावरूप समाधि होती है।

सम्यग्दृष्टियों के भी चैतन्यस्वभाव की वीतरागी दृष्टि हुई है। अतः उन के भी भूमिकानुसार सम्यग्दर्शन रूप समाधि है। जितने अंश में उनके राग-द्वेष है, उतनी आंशिक असमाधि भी है।

अज्ञानी को तो वीतरागी समभाव की, परमसुख की खबर ही नहीं है, उसने तो समाधि के सुख का कभी स्वाद ही नहीं लिया। उसके तो शुभोपयोग के समय भी असमाधि ही है।

राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। वे अपने राजभंडार में भरे रत्नों को पत्थर तुल्य मानते थे। और मुनिराजों के रत्नत्रय को बहुमूल्य मानकर उनकी महिमा और आदर-सत्कार करते थे। मुनिराजों के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष विषयभोगों को विष के समान मानते थे।

राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर के पधारने पर एक राज चिह्न के सिवाय जो करोड़ों के बहुमूल्य रत्नाभरण पहन रखे थे, उतारकर उनके सम्मान में अर्पित कर दिए और तुरन्त सिंहासन से उठकर भगवान के सम्मुख सात पग जाकर नमन किया।

सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति उनकी ऐसी भक्ति-भावना थी। वे राजा श्रेणिक भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। उन्होंने अज्ञान अवस्था में मुनि की विराधनारूप अपने ही द्वारा किए अक्षम्य अपराध के फलस्वरूप नरकगति की आयु बांध ली थी, जिसके कारण वे वर्तमान में प्रथम नरक में हैं। पर वहाँ पर भी देह से भिन्न आत्मानुभूति के बल से सम्यग्दर्शन के कारण अन्य नारकियों की तरह वे मानसिक दुःख से दुःखी नहीं हैं।

बाह्य में नारकियों द्वारा उदीरित दुःख भोगते हुए भी अन्तर में समरस रूप समाधि में रहते हैं।

इस प्रकार अन्तरात्मा अपने आत्मा को देह से भिन्न जानकर आत्मा की ही भावना भाते हैं। इसकारण मृत्यु प्रसंग जैसी दुःखद स्थिति में भी ज्ञानी को आत्मभावना पूर्वक सम्यक् समाधि वर्तती है।

* * *

श्लोक ६७

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रिया भोगं स शमं याति नेतरः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थ :-(यस्य) जिन ज्ञानी पुरुषों को **(सस्पंदनं जगत्)** स्पन्दनशील - सचेष्ट जगत **(निःस्पन्दनेन समं)** निश्चेष्ट काष्ठ - पाषाणादि के समान **(अप्रज्ञं)** चेतना रहित - जड़ तथा **(अक्रिया भोगं)** सुखादि अनुभव रूप भोग से रहित व चेष्टा रहित **(आभाति)** भासित होता है, **(सः अक्रिया भोगं शमं याति)** वे मन-वचन-काय की क्रिया से रहित तथा इन्द्रिय भोगों से रहित परम वीतरागतारूप शान्ति - सुख को पाते हैं। **(इतरः न)** अन्य (बहिरात्मा जीव) वीतरागतारूप समतासुख को नहीं पाते।

भावार्थ यह है कि जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूप की भावना करते-करते स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उस समय उसकी इस जड़ क्रियात्मक प्रवृत्तिमय जगत की ओर का लक्ष्य छूट जाता है और वह परम वीतरागता को प्राप्त होकर निर्विकल्प निराकुल आनन्द का अनुभव करने लगता है।

श्लोक ६७ पर प्रवचन

जिन ज्ञानियों को शरीरादि की अनेक क्रियाओं द्वारा स्पन्दनशील जगत काष्ठ की भाँति निस्पंद और जड़ भासित होता है, वे ही परम सुख का अनुभव करते हैं। उनके अनुभव में इन्द्रियों के व्यापार रूप क्रिया नहीं है और इन्द्रिय विषयों का भोग भी नहीं है। ज्योंही उपयोग अन्तरंग में झुककर आत्मा के आनन्द के अनुभव में एकाग्र हुआ, त्योंही देहादि की ओर से लक्ष्य हट जाता है। तथा उन्हें सारा जगत निश्चेतन (शून्य) सा लगने लगता है। ऐसे ज्ञानी ही अपने अन्तर्मुखी उपयोग द्वारा आत्मिक सुख का अनुभव करते हैं।

मन-वचन-काय की क्रिया को अपना मानने वाले अज्ञानी बहिरात्मा जीव चैतन्य के परम सुख का अनुभव नहीं कर सकते।

ज्ञानानन्द स्वरूपी आत्मा अशरीरी है। उसे साधनेवाले जीव को जहाँ शुभ का भी रस नहीं है, वहाँ अशुभ परिणाम की तो बात ही क्या है? जिनको आत्मा के स्वरूप की रुचि हुई हो, उनको संसार का और देह का राग टले बिना नहीं रहता। उन्हें परजीव की किंचित् भी प्रीति नहीं रहती। यहाँ तो यह कहते हैं कि जिनकी दृष्टि चैतन्यस्वरूप में निस्पंद हो गई है, स्थिर हो गई है - ऐसे ज्ञानी को सस्पंद जगत भी निस्पंद समान लगने लगता है। जब जगत की क्रियाओं के साथ निज का सम्बन्ध छूट जाता है, तब फिर वह उन्हें अपने से भिन्न ही देखता-जानता है, अनुभवता है। वह अपनी चेतना का एक अंश भी पर में नहीं देखता। ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा सर्वस्व मुझ में ही है। अत: वह अपने आत्मा को जगत से असंग रूप से अनुभव करता है।

भाई ! यदि तुझे अपने आत्मा का अनुभव करना हो तो तू जगत को अपने से अत्यन्त भिन्न, अचेतनवत् देख। तेरी चेतना का व तेरे सुख का एक अंश भी जगत में नहीं है - ऐसा जान !

जगत में तो अन्य अनन्त जीव हैं। अरहंत-सिद्धादि पंचपरमेष्ठी से लेकर सभी साधर्मीजन हैं, कुटुम्ब परिवारादि सारा जगत है। उन सबकी क्रिया उनमें स्वतन्त्र रूप से हुआ करती है। परन्तु जब यह ज्ञानी आत्मा अपने उपयोग को स्वानुभव द्वारा अन्तर्मुख करता है तब इसे सारा जगत शून्यवत् भासित होता है। ऐसा ज्ञानी ही आत्मा के परम सुख को भोगता है।

आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के अभिलाषियों को जगत की क्रिया से पार अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को ही जानना चाहिए।

* * *

श्लोक ६८

शरीर कंचुकेनात्मा संवृत्त ज्ञान विग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद्भ्रमत्यति चिरं भवे ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ :-(शरीर कंचुकेन) शरीररूपी काँचली से **(संवृत्त ज्ञान विग्रहः आत्मा)** ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका - ऐसा बहिरात्मा जीव **(आत्मानं न बुध्यते)** आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। **(तस्मात्)** इसकारण **(अतिचिरं भवे भ्रमति)** बहुत लम्बे काल तक संसार में परिभ्रमण करता है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान ही उसका शरीर है। परन्तु संसारी जीव की अनादि से शरीर के साथ एकत्व बुद्धि होने से आत्मा का स्वरूप ही विकृत हो गया है। इसकारण वह आज तक संसार में अटक रहा है।

श्लोक ६८ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि बहिरात्मा जीव आत्मा को देहादि से भिन्न नहीं जानता, इसकारण वह संसार में रखड़ता है।

आत्मा तो चैतन्य शरीरी अतीन्द्रिय है। जो उसे जानकर, उसमें अन्तर्मुख होने का प्रयत्न नहीं करता, उसे ध्येय नहीं बनाता, वह आत्मा को प्राप्त नहीं कर पाता। वस्तुतः वह आत्मा को जानता ही नहीं है; वह तो देहादिक व रागादिक को ही आत्मा मानता है। उसका ज्ञान-शरीर कर्मरूपी काँचली से ढक गया है। उसका झुकाव आत्मा की ओर न होकर कर्म की ओर ही है। इसकारण वह संसार का ही परिभ्रमण कर रहा है।

जिस प्रकार काँचली सर्प नहीं है, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप जो काँचली है वह आत्मा नहीं है, आत्मा का स्वरूप

नहीं है। उस राग-द्वेष-मोहरूप काँचली के कारण अज्ञानी को आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहचान नहीं होती। इसकारण वह रागादि को ही आत्मा मानकर स्वयं अपने चैतन्यस्वरूप को आवरण से ढक कर चार गति में रखड़ता है।

ऐसे जीवों को भगवान का उपदेश है कि हे जीव ! तेरा चैतन्य तत्त्व रागादि से रहित है, देहादि से भिन्न है। तू उसमें अन्तर्मुख हो जा ! तेरी भूल से ही तेरा भव भ्रमण हो रहा है। उस भूल को टाल ! तभी तेरा भव भ्रमण मिटेगा और मुक्ति की प्राप्ति होगी।

जिसतरह पानी में नमक मिलाने पर पानी खारा लगता है। वस्तुतः पानी का स्वभाव खारा नहीं है, खारा तो नमक है। उसीतरह आत्मा में कर्मों की ओर के झुकाव से जिस राग-द्वेष-मोहरूप आकुलता का वेदन होता है, वस्तुतः वह आकुलता आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वाद नहीं है। वह तो कर्म की ओर के झुकाववाले विकारी भावों का स्वाद है। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ; ज्ञान व आनन्द ही मेरा शरीर है - ऐसी अन्तर स्वरूप की सावधानी करने पर चैतन्य के स्वाद का अनुभव होता है। परन्तु अज्ञानी जीव भ्रान्ति के कारण उसे नहीं जानता तथा कर्म की ओर के झुकाववाले रागादिरूप स्वाद को ही वह आत्मा का स्वाद मानता है।

अज्ञानी जीव कदाचित् सुन-सुनकर ऐसा भी कहे कि राग धर्म नहीं है, परन्तु अंतरंग में तो राग के वेदन से अपने को भिन्न अनुभव नहीं कर पाता। सूक्ष्मरूप से राग की मिठास में ही अटका रहता है। राग से भिन्न या पार होकर ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं करता।

जब तक राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव को नहीं जानेगा तब तक अज्ञानी बहिरात्मा संसार में ही परिभ्रमण करता रहेगा।

* * *

श्लोक ६९

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणुनां समाकृतौ ।

स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ :-(अबुद्धयः) अज्ञानी बहिरात्मा **(देहे)** अपने शरीर में **(प्रविशद्गलतां)** आने-जाने वाले **(अणुनां व्यूहे)** परमाणुओं के समूह के **(उत्पन्नध्वंसौ)** उत्पन्न विनाश होते रहने पर भी **(समाकृतौ)** बाहर से शरीर का आकार वैसा ही बने रहने पर, **(स्थितिभ्रान्त्या)** स्थिर रहने के भ्रम से **(तम्)** उस पुद्गल शरीर को **(आत्मानं)** आत्मा **(प्रपद्यन्ते)** समझ लेते हैं।

श्लोक ६९ पर प्रवचन

अज्ञानी बहिरात्मा जीव अपने नित्य स्वभाव को भूलकर भ्रांति से इस क्षणिक संयोगी शरीर को नित्य, शाश्वत एवं स्थिर मान रहा है; तथा यही मैं हूँ इसप्रकार स्वयं को देहरूप मान रहा है। यद्यपि देह में प्रतिसमय अनन्त परमाणुओं का आना एवं खिरना होता है। तथापि स्थूल रूप से शरीर में कुछ परिवर्तन दिखाई नहीं देता; जिससे अज्ञानी इसे स्थिर मानता है। देह के साथ जीव का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी यह जीव सदा ही देह से पृथक् अनुभव स्वरूप ही है। जीव की देह में एकत्वबुद्धि का कारण देह नहीं है। ज्ञानी को तो देह के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी भेदज्ञान से आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न ही अनुभव में आते हैं। अज्ञानी जीवों को देह और आत्मा में भिन्नता भासित नहीं होती। इसलिये वे देह को ही आत्मा मानते हैं, और देह की क्रिया को अपनी क्रिया मानते हैं।

इसलिए समझाते हैं कि हे भाई ! तू तो चैतन्यमूर्ति अरूपी वस्तु है, और देह तो रूपी जड़ है। एक साथ रहने से क्या तू पुद्गलस्वरूप जड़ हो गया है? तेरा स्वरूप तो पुद्गल के स्वरूप से सर्वथा जुदा ही है। अनन्तों बार देह बदली; पर तू तो सदा से एक जैसा ही - ज्ञानस्वभावी ही रहा है।

पूर्वभव के (जातिस्मरण) ज्ञानवाले जीव देखने/सुनने में आते हैं। उनसे भी देह और आत्मा की भिन्नता सिद्ध होती है। पूर्व की देह पलट गई, और जीव तो वही का वही रहता है। अतः सिद्ध होता है कि देह जीव नहीं है।

जीव तो देह में रहने वाला एक शाश्वत चेतन तत्त्व है। और वह सदा ही देह से भिन्न है। यदि देह ही आत्मा हो तो देह के नाश हो जाने पर आत्मा का नाश हो जाना चाहिए; परन्तु आत्मा का नाश नहीं होता। इससे देह से भिन्न भगवान आत्मा का अस्तित्व जान पड़ता है। और वह देह से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

अरे, कहाँ चैतन्यस्वरूप आनंदरस से भरपूर आत्मा और कहाँ यह जड़-पुद्गल का पुतला शरीर, इसमें एकत्वबुद्धि कैसी ? अरे भाई ! यह देह में एकत्वपना तुझे शोभा नहीं देता।

जिसप्रकार मृतक शरीर के साथ किसी जीव की सगाई नहीं होती, वैसे ही जीवन्त चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, दोनों में एकता नहीं हो सकती; दोनों में अत्यन्त भिन्नपना है। देह तो स्थूल, इन्द्रियगम्य, नाशवान वस्तु है, और जीव अति सूक्ष्म, अतीन्द्रियस्वरूप, इन्द्रियों से जानने में न आने वाला अविनाशी तत्त्व है। अरे भाई ! जीव तो सदा ही आनन्द-ज्ञान का धाम है। तू अपनी अन्तरंग वस्तु की ओर जरा देख तो सही !

हे भाई ! ज्ञानी जीव को देह - आत्मा में ऐसी भिन्नता समझ में आने से प्रतिसमय शांति - समाधि वर्तती है। समाधि का मूल भेद-विज्ञान ही है। स्वपर का भेद-ज्ञान करने से, स्वरूप में स्थिर होने से समाधि है, और समाधि में ही आनन्द है, शांति है, सुख है एवं वीतरागता है।

इसलिये हे जीव ! तू देह से भिन्न आत्मा को ही जान और नित्य उसकी ही भावना भा।

* * *

श्लोक ७०

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम्॥ ७० ॥

अन्वयार्थ :- (अहं) मैं **(गौरः)** गोरा हूँ, **(स्थूलः)** मोटा हूँ, **(वा कृशः)** अथवा दुबला-पतला हूँ। **(इति)** इसप्रकार **(अंगेन अविशेषयन)** अंगों के विशेषणों से आत्मा विशेषित नहीं होता। **(आत्मानं)** आत्मा तो **(नित्यं)** सदाकाल **(केवलज्ञप्तिविग्रहम्)** केवलज्ञानशरीरी है, ज्ञानविशेषण वाला है, **(इति धारयेत्)** ऐसा धारण करना चाहिये।

श्लोक ७० पर प्रवचन

भाई ! आत्मा तो केवलज्ञान शरीर वाला है, ज्ञानशरीरी ही है। इस पुद्गलमय जड़शरीर में आत्मा नहीं है, ज्ञान नहीं है। मैं गोरा हूँ, पतला हूँ, मोटा हूँ एवं मनुष्य हूँ आदि। ये तो शरीर के - जड़ पुद्गल के विशेषण हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा उक्त विशेषणों से लक्षित नहीं होता। इनसे तो जड़ शरीर ही लक्षित होता है।

ज्ञानीजन काले-गोरे, मोटे-पतले आदि विशेषणों से आत्मा को नहीं पहचानते। वे तो सदैव ज्ञानशरीर विशेषण से ही आत्मा को जानते हैं - पहिचानते हैं, जो जड़ शरीर अथवा उसके काले-गोरे आदि विशेषणों से सर्वथा भिन्न है।

अरे भाई ! शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में रहते हुए भी शरीर एक क्षण भी जीव के साथ नहीं है, अर्थात् दोनों जुदा-जुदा ही हैं। जीव तो ज्ञानानन्दमय है। ऐसे ही स्वरूप को हे भाई ! सदैव धारण कर ! और श्रद्धा में, ज्ञान में, अनुभव में अपने को ज्ञानानन्दमय, ज्ञानशरीरी ही जान-मान !

जो ज्ञान है, वही मैं हूँ।

जो आनन्द है, वही मैं हूँ।

जो शरीर है, वह मैं नहीं हूँ॥

परमात्म प्रकाश में भी आचार्य योगीन्दु देव कहते हैं -

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु।
हउँ तणु - अंगउँ थूलु एहउँ मुढउ मण्णु॥ ८०॥

मैं गोरा हूँ, काला हूँ, अनेक वर्ण वाला हूँ, कृश (पतले शरीर वाला) हूँ, मोटा हूँ आदि, इसप्रकार मिथ्यात्व परिणाम से परिणत मिथ्यादृष्टि जीव को तू मूढ़ जान !

जीव तो शान्ति स्वरूप है, और इस शान्ति स्वरूप के अनुभव में विकार कहाँ ? केवलज्ञान स्वरूपी भगवान आत्मा में वीतरागी स्वरूप ही ठसाठस भरा है। इसमें विकार के लिए कोई अवकाश नहीं है, कोई स्थान नहीं है।

अशरीरी आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञान वाला है और सदैव ज्ञान ही इसके उपयोग में आता है। कहा भी है 'सिद्ध समान सदा पद मेरो', 'सर्व जीव हैं सिद्ध सम' - ऐसी प्रतीति से देह के साथ एकत्वबुद्धि कभी भी रह ही नहीं सकती, और देह सम्बन्धी पंच-इन्द्रियों के विषयों में भी सुख बुद्धि नहीं रहती है।

भेदज्ञान वाले इस आत्मा की पहचान मात्र में ही सादि अनन्त सुख समाधि रूप मोक्ष का कारण विद्यमान है, यह बात आगे की गाथा में कहेंगे।

* * *

श्लोक ७१

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।

तस्य नैकान्तिकी मुक्ति र्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थ :-(यस्य चित्ते) जिसके चित्त में **(अचला धृतिः)** आत्मस्वरूप की निश्चल **(धृतिः)** धारणा है, **(तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः)** उसकी नियम से मुक्ति होती है। तथा **(यस्य नास्त्यचला धृतिः नास्ति)** जिसकी धृति - धारणा अचल नहीं है, **(तस्य एकान्तिकी मुक्ति न)** उसके नियम से मुक्ति नहीं होती।

भावार्थ :-जिसका उपयोग आत्मस्वरूप में ही स्थिर रहता है, यत्र-तत्र-अन्यत्र कहीं नहीं भटकता, उसे नियम से मुक्ति होती ही है। तथा जिसका उपयोग एक जगह से दूसरी जगह जा-जाकर भटकता है, एक आत्मा में स्थिर नहीं रहता, उसे कभी मुक्ति नहीं होगी।

श्लोक ७१ पर प्रवचन

जो अचलपने चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता करते हैं, उन्हें ही नियम से मुक्ति होती है। तथा जो व्यवहार में कहीं भी एकाग्रता करते हैं, उन्हें मुक्ति नहीं होती, ऐसा अनेकान्त है। इसप्रकार शुद्धोपयोग से ही मुक्ति होती है। शुभोपयोग से किसी को कभी भी मुक्ति नहीं होती। यह अबाधित नियम है।

देखो ! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही मुक्ति होती है। इसके सिवाय, पंच महाव्रतादि के शुभ भाव भी मुक्ति के कारण नहीं हैं। ध्यान रहे, जहाँ शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग होता है, वहाँ दिगम्बरत्व भी नियम से होता ही है। परन्तु जहाँ शुद्ध रत्नत्रय नहीं है, वहाँ बाह्य नग्नता आदि के होते हुए भी मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार चैतन्य स्वरूप में एकाग्रता रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नियम से - एकान्ततः मोक्ष का कारण है।

सर्वप्रथम जिसने शरीरादि से भिन्न चैतन्य स्वरूप का ज्ञान किया हो, उसका दृढ़ निर्णय किया हो; तत्पश्चात् उसी में एकाग्रता की हो, उसे

ही मुक्ति हो सकती है। चैतन्यराज को जानकर, उसकी सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) करने से मोक्षसुख की प्राप्ति अवश्य ही होती है। यहाँ 'एकान्तिकी मुक्ति' कहकर मोक्ष का यह नियम बताया है कि जिसको चैतन्य स्वरूप की अचल धारणा है, वही जीव नियम से मुक्ति प्राप्त करता है। जिसके चित्त में ऐसा संदेह है कि कदाचित् राग से भी मुक्ति होती है, तो उसकी वह मान्यता ठीक नहीं है। नियमसार के ९४वें कलश में मुनिराज पद्मप्रभमलधारीदेव ने कहा है कि योग परायण होते हुए भी जिन जीवों को कदाचित् भेदविकल्प उत्पन्न होता है, उनको अरहंतदेव के मत में मुक्ति होगी कि नहीं, यह कौन जाने ? अर्थात् योग-परायण मुनियों को भी भेद विकल्प के होने पर मुक्ति नहीं होती। जो निर्विकल्प होकर स्वरूप में ठहरते हैं, उन्हें ही मुक्ति होती है।

अहो ! मुक्ति का धाम तो यह चैतन्य तत्त्व ही है। अत: उसमें एकाग्र होने पर ही मुक्ति होती है। जो ऐसा निर्णय करता है, उसे तो अल्पकाल में मुक्ति हो ही जाती है।

यहाँ सम्यग्दर्शन के बाद चैतन्य स्वभाव में लीन होने की बात है। सम्यग्दर्शन होने पर भी, जब तक चित्त डांवाडोल रहता है तबतक मुक्ति नहीं होती। राग-द्वेष रहित होकर अन्तर स्वरूप में लीन होकर स्थिर रहने पर ही मुक्ति होती है। भूमिकानुसार, धर्मी जीवों को भक्ति का भाव आता तो अवश्य है, आना भी चाहिए, परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। चैतन्य स्वरूप में लीनता ही मुक्ति का कारण है। ज्ञानी धर्मात्मा को ऐसी दृढ़ प्रतीति सदैव बनी रहती है।

लोक संसर्ग से चित्त चंचल होता है। अत: लोक संसर्ग छोड़कर आत्मा में एकत्व स्थापित करो - यही इस श्लोक का सार है।

* * *

श्लोक ७२

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जैनर्योगी ततस्त्यजेत् ।। ७२ ।।

अन्वयार्थ :- (जनेभ्यः वाक्) लोगों के संसर्ग से वचन प्रवृत्ति होती है। **(ततः मनसः स्पन्दः)** उससे यानि वचन प्रवृत्ति से मन की व्यग्रता होती है। **(तस्मात्)** मन की व्यग्रता से **(चित्विभ्रमाः भवन्ति)** चित्त में विविध प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं, मन विक्षिप्त हो जाता है। **(ततः योगी जनः संसर्गं त्यजेत्)** इसकारण योगी लौकिकजनों के संसर्ग का त्याग करें।

भावार्थ :- लौकिक जनों के साथ वार्तालाप करने से मन व्यग्र होता है, चित्त चलायमन होता है, और विविध प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं। इसकारण आत्मस्वरूप में स्थिरता नहीं रहती। इसलिए आत्मस्वरूप के अभ्यर्थियों (मुनिजनों) को लौकिक जनों का संसर्ग दूर से ही त्यागने योग्य है।

श्लोक ७२ पर प्रवचन

यहाँ मुख्य रूप से मुनि को लक्ष्य करके कथन किया गया है। परन्तु भूमिकानुसार, सभी आत्मकल्याण की भावना वालों को अपने-अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को पाप से बचाने के लिए उपर्युक्त कथन उपयोगी है। क्योंकि जिन्हें अधिक जनसम्पर्क के कारण एकान्त में बैठकर आत्मा का विचार करने की फुरसत ही न मिले, जो चौबीसों घंटे बाहर की प्रवृति में ही रचे-पचे रहें; वे आत्मा का अनुभव कब और कैसे कर सकेंगे ?

अरे ! जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भी प्रतिदिन घड़ी दो घड़ी जगत से जुदा पड़कर, लौकिकजनों से सम्पर्क कम करके, अन्तर में अपने चिदानन्द तत्त्व को लक्ष्यगत करके स्वानुभव करने का प्रयत्न करे,

तब कहीं सम्यग्दर्शन होता है। तो मुक्ति की प्राप्ति के लिए, केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए तो यह करना ही होगा न ?

जिन्हें जगतजनों का संग रुचता है, असंग चैतन्य के साधने में उनका परिणाम किस प्रकार झुकेगा-लगेगा? भाई ! लौकिक रुचि वालों को आत्मा की प्राप्ति न केवल अत्यन्त दुर्लभ है, बल्कि असंभव ही है। तथा सम्यग्दर्शन के हो जाने पर मुनियों की भूमिका में भी जितना-जितना लोक संसर्ग होगा, उतने अंश में मन की व्यग्रता होती रहती है। और वह व्यग्रता केवलज्ञान के होने में रुकावट बनती रहती है। अत: स्वभाव की ओर झुकाव करने के लिए तथा उसी में लीन होने के लिए लोक का संसर्ग छोड़ना आवश्यक है।

धर्मात्मा अन्तर की गहराई में गोते लगा-लगा कर अपनी चैतन्यनिधि को प्राप्त कर उसे अन्तरंग में गुप्त रूप से अकेले-अकेले ही भोगते हैं, उसका अनन्द लेते हैं। धर्मात्माओं का अंतरंग का अनुभव बाहर से दिखाई नहीं देता। उनके आनन्द का आलौकिक अनुभव अन्दर में ही समाया रहता है। वे उसको प्रगट नहीं करते।

नियमसार में कहा है कि जिसतरह कोई मनुष्य निधि को प्राप्त कर उसके फल को अपने वतन में रहकर एकांत में अकेला ही भोगता है; उसीप्रकार ज्ञानीजन परजनों का संसर्ग छोड़कर निज निधि को भोगते हैं, निज वैभव का आनन्द लेते हैं, ताकि कोई उसे उनसे छीन न ले, कोई उनके आनन्द में बाधक न बने।

इसप्रकार ज्ञानीजन ज्ञान की रक्षा करते हैं और अपने घर में गुप्तरूप से रहकर ध्यान गुफा में बैठे-बैठे स्वयं अकेले ही आनन्द निधान का उपभोग करते हैं।

समयसार की ४९वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख व अनन्तवीर्य स्वरूप शुद्धात्मा

की प्राप्ति दुर्लभ है, वह अपूर्व है और वही उपादेय है। ऐसा समझकर शुद्धात्मा की निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए सुखामृतरस की अनुभूतिस्वरूप गहरी गिरि-गुफा में बैठकर उसका ध्यान करना।

बाहर में - जंगल में जाकर बैठे और अन्दर चैतन्य की अनुभूति की पहचान नहीं करे, तो मात्र गुफाओं में बैठने से शान्ति मिलनेवाली नहीं है। इसलिए कहते हैं कि भाई ! तू अपने अन्तर में शुद्धात्मा का - अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा का ध्यान कर। वस्तुतः आत्महित के लिए चैतन्य की गिरि-गुफा ही शरणभूत है।

जिसतरह सती अंजना राजमहल से निष्कासित होकर जब जंगल में पहुँची तो बहुत थक चुकी थी। उसे थका जानकर उसकी सखी बसंतमाला ने कहा कि हे देवी ! यहाँ खुले मैदान में हिंसक पशुओं का भय है। अतः पास ही में जो गुफा है, वहाँ चलकर विश्राम करलें। ज्यों ही उन्होंने उस गुफा में प्रवेश किया तो वहाँ नग्न दिगम्बर संत ध्यान में बैठे हुए थे। मुनिराज को देखते ही अंजना के आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। मानो उसे धर्म पिता ही मिल गये हों। वह अब तक के सारे दुःखों को भूल गई। उसीतरह जब संसार के दुःखों से थके हुए जीव अन्तर्मुख होकर अपने चैतन्य गुफा की शरण में जाते हैं, वहाँ आत्मा रूपी समस्त गुणों से परिपूर्ण कारणपरमात्मा के दर्शन करते हैं तो उनके आनंद का समुद्र उमड़ पड़ता है, सुख का सागर हिलोरें लेने लगता है। अनादि से अब तक संसार में भोगे हुए दुःखों को भूल जाते हैं और परमशान्ति स्वरूप चैतन्यतत्त्व की अनुभूति हो जाती है।

जिन्हें ऐसी जिज्ञासा जागृत हुई हो कि इस देह से भिन्न मैं कौन हूँ? अनादिकाल से यह भवभ्रमण क्यों हो रहा है? आत्मा को शान्ति क्यों नहीं मिलती? आदि।

ऐसे जीवों को आचार्य देव शान्ति का उपाय बताते हैं। आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर को ही अपना मानता है। बस यही भ्रान्ति है। और इसी भ्रान्ति के कारण ही जीव अनादिकाल से अशरणपने भव अटवी में परिभ्रमण कर रहा है। लक्ष्मी का ढेर या स्त्री -पुत्रादि कुटुम्बीजन कोई भी जीवों को क्षणमात्र भी शरणभूत नहीं है। परन्तु मूढ़ जीव उन्हें शरणभूत मानता है तथा उनमें सुख मानता है।

देखो ! मरण के काल में असीमित शारीरिक व मानसिक वेदना हो और संयोग में असीमित सम्पत्ति, स्त्री-पुत्रादि सभी मौजूद हों, वे सभी उसके दुःख को कम करने की कोशिश कर रहे हों, तो भी क्या कोई उसके उस मरण जन्य दुःख को किंचित् भी कम कर पाते हैं ? नहीं कर पाते। क्योंकि जब यह शरीर भी इस जीव को शरणभूत नहीं है, तो अन्य जो सर्वथा जुदे हैं - ऐसे स्त्री-पुत्र धनादि इसका दुःख दूर कैसे कर सकेंगे ?

अरे भाई ! तुझे तो एकमात्र तेरा आत्मा ही शरणभूत है। अशरीरी, अरूपी, चैतन्यमूर्ति आत्मा ही तेरा 'स्व' है। वही तेरी सच्ची लक्ष्मी है, वैभव है; उसके सिवाय जगत में अन्य कोई तुझे शरणभूत नहीं है। अज्ञानी भ्रमवश मंदकषाय में सुख शान्ति मान लेता है, पर उसमें शान्ति नहीं है। इसलिए कहते हैं कि हे योगी ! आत्मा के आनन्द में एकाग्र होने के लिए तू बाह्य संसर्ग को छोड़ ! तथा चैतन्य स्वभाव में ही निवास कर !

यदि तू लौकिक परिचय में ही रहता रहेगा तो तेरा असंग स्वभाव की ओर परिणाम कहाँ से/कैसे होगा ? परवस्तुएँ इसके परिणाम को बिगाड़तीं नहीं हैं, परन्तु पर की ओर के संग का प्रेम अन्तर की एकाग्रता को रोकता है। इसलिए ऐसा उपदेश है कि मुमुक्षुओं को लौकिकजनों के परिचय के प्रसंग में अधिक नहीं आना चाहिए।

यद्यपि निमित्त परिणामों को बिगाड़ते नहीं हैं; परन्तु हमारा-तुम्हारा झुकाव शुद्धात्मा की ओर से हटकर निमित्त की ओर गया ही क्यों?- यह विचारणीय है। वस्तुतः हमारे उपादान में ही ऐसी कमजोरी है। उपदेश में तो ऐसा ही कथन आयेगा कि 'तू परसंग छोड़'; क्योंकि उपदेश के कथन में तो निमित्त की ही प्रधानता रहती है।

अरे भाई ! जब अन्दर के सूक्ष्म संकल्प-विकल्प भी स्वरूप की स्थिरता में बाधक हैं तो बाहर के संसर्ग का - संग का प्रेम तो बाधक है ही। इसलिए हे भव्य ! आत्मा को साधने के लिए तू बाहर का लक्ष्य छोड़कर असंगपने अन्तर की चैतन्य गुफा में जा और उसी का ध्यान कर।

* * *

श्लोक ७३

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ :-(अनात्मदर्शिनां) जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ ऐसे अज्ञानियों के **(ग्रामः अरण्यमिति)** ग्राम व वन - इसप्रकार **(द्वेधानिवासः)** दो ही निवासस्थान होते हैं। किन्तु **(दृष्टात्मनां)** आत्मानुभवी - ज्ञानी पुरुषों का इनसे भिन्न, **(निश्चलः विविक्तात्माएव)** चित्त की व्याकुलता रहित एवं रागादि रहित शुद्ध आत्मा ही **(निवासः)** निवास स्थान है।

भावार्थ :-तात्पर्य यह है कि - जिन्हें आत्मानुभूति नहीं हुई, भेदज्ञान नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीवों को ही ग्राम या नगर में बसने का विकल्प आता है। ज्ञानी का निवास धाम तो लोक संसर्ग से भिन्न निज आत्मा ही है।

श्लोक ७३ पर प्रवचन

७२ वें श्लोक में ऐसा कहा था कि बाह्य संसर्ग से चित्त क्षुब्ध होता है, इसलिए बाह्य -लौकिकजनों का संसर्ग त्यागने योग्य है। इससे कोई जन - सामान्य ऐसा न समझ ले कि केवल बाह्य संयोग ही आत्मोपलब्धि में बाधक होते हैं। मात्र संयोगों को ही ध्यान में बाधक मानने वाले - संयोगाधीन दृष्टिवालों को अनात्मदर्शी की संज्ञा देते हुए आचार्य कहते हैं कि जो अनात्मदर्शी हैं, जिन्हें आत्मा का दर्शन व अनुभव नहीं है, वे ही ग्राम व जंगल में निवास स्थान की कल्पना करते हैं, मात्र स्थान विशेष को ही ध्यान का साधक व बाधक मानते हैं।

जिन्होंने आत्मानुभव किया है, वे आत्मदर्शी अन्तरात्मा तो पर से भिन्न रागादि रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना निश्चल निवास स्थान मानते हैं। तथा बाह्य के सभी संसर्गों को छोड़कर या उपेक्षा

करके स्वरूप में वास करते हैं, आत्मा में ही एकाग्र होकर रहते हैं। अज्ञानी की बाह्यदृष्टि है। जहाँ लोकसंसर्ग छोड़ने की बात आती है, वहाँ उसकी दृष्टि जंगल की ओर जाती है; क्योंकि वह ऐसा मानता है कि जंगल में शान्ति है। पर भाई ! जंगल में शान्ति नहीं है। सच्ची शान्ति तो आत्मा में है। इसलिए आत्मा में उतरने से ही वह शान्ति प्राप्त होगी। जगत की गुफाओं में तो सिंहादि भी रहते हैं। इसलिए तू तो अन्तर की चैतन्यगुफा में जाकर ध्यान कर ! तभी तुझे आनन्द का अनुभव होगा।

जब भी लोक संसर्ग छोड़ने की बात आती है, तो ज्ञानियों का झुकाव अन्तरस्वरूप की ओर ही होता है। वह विचारता है कि मैं तो जगत से जुदा ही हूँ तथा जगत मुझसे जुदा ही है। मेरे स्वरूप में जगत का प्रवेश नहीं तथा जगत में मेरा प्रवेश नहीं। मेरा चिदानन्दस्वरूप ही मेरा निवासस्थान है। इसके सिवाय बाह्य में जंगल हो या महल, वे कोई भी मेरे निवासस्थान नहीं हैं।

अज्ञानी ने जंगल में शान्ति मानकर जंगल को इष्ट माना। आत्मा की ओर नहीं झुका। इस कारण जंगल में जाने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। इसलिए शरीरादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लो तथा उसी में निवास करो। ये शरीरादि संयोग तो क्षणभंगुर हैं, वे आत्मा के निवासस्थान नहीं हैं। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा ही सच्चा निवास स्थान है।

जो जीव आत्मा के अनुभव से शून्य हैं, जो स्व में स्थित नहीं हैं, वे ही बाहर के ग्राम व जंगल को अपना स्थान मानते हैं। 'लोकसंसर्ग से राग-द्वेष होता है, इसलिए एकान्त जंगल में रहेंगे तो शान्ति मिलेगी' - ऐसी मान्यता वाले भी बहिरात्मा हैं। जैसे लोक बाह्य है, उसी प्रकार जंगल भी बाह्य है। लोक संसर्ग छोड़कर जंगल से प्रेम करना - उसे इष्ट मानना भी बाह्य दृष्टि ही है। ज्ञानी तो लोक संसर्ग को छोड़कर अन्तर के चैतन्यतत्त्व में बसते हुए जंगल में रहते हैं; किन्तु बाह्य जंगल से मुझे

शान्ति मिलती है - ऐसी उनकी मान्यता नहीं होती। वे तो ऐसा ही मानते हैं कि हमारा वास तो हमारे शुद्धस्वरूप में ही है।

मुनिराज जंगल में से आहारादि के लिए जब ग्राम/नगर में आते हैं तो वहाँ जनसमुदाय के बीच में रहते हुए भी उन्हें भूलकर भी ऐसा संदेह कभी नहीं होता कि 'मैं स्वरूप से हटकर लोक संसर्ग में आ गया हूँ।' चारों ओर भक्तों की भीड़ में रहते हुए भी मुनिजन जानते हैं कि मेरा आत्मा लोकसंसर्ग से परे है। मेरे चैतन्यस्वरूप में ही मेरा निवास है।

जिसप्रकार बाहर में भक्तों के बीच में रहने पर उन्हें बाह्यदृष्टि नहीं है, उसीप्रकार बाह्य में लोक का संसर्ग छोड़कर जंगल में जाकर गुफा में रहने से लोकदृष्टि छूट गई - ऐसा भी वे नहीं मानते।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा तो सर्वलोक से जुदा ही है, भिन्न ही है। ज्ञानानन्दस्वरूप मेरा आत्मा ही मेरा निवासधाम है। ऐसी अन्तर्दृष्टिपूर्वक ज्ञानी तो आत्मा में ही एकाग्र होते हैं। चैतन्य के आनन्द में एकाग्र होने पर बाह्य संसर्ग के प्रति राग-द्वेष होते ही नहीं हैं, इससे ऐसा कहा जाता है कि 'ज्ञानी ने बाह्य संसर्ग छोड़ा।'

* * *

श्लोक ७४

देहान्तर गतेर्बीजं, देहेऽस्मिन्नात्म भावना।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्म भावना॥ ७४॥

अन्वयार्थ :-(अस्मिन् देहे आत्मभावना) इस शरीर में ही आत्मबुद्धि का होना **(देहान्तर गतेः बीजं)** पुनः शरीर प्राप्ति का हेतु है, बारम्बार जन्म मरण का कारण है। तथा **(आत्मनि एव आत्म भावना)** आत्मा में ही आत्मभावना अर्थात् शुद्धात्मा को पहचान कर आत्मा में ही अपनापन होना **(विदेहनिष्पत्तेः बीजं)** शरीर के सर्वथा अभावरूप अर्थात् जन्म-मरण रहित होकर मुक्ति प्राप्त करने का कारण है।

भावार्थ :-तात्पर्य यह है कि यदि हम चाहते हैं कि हमारा पुनः पुनः जन्म-मरण न हो, हम शीघ्र ही संसार से पार हो जावें, जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पा जावें तो हमें देह में अपनेपनरूप बहिरात्मदृष्टि छोड़कर आत्मा के निजस्वरूप में अपनापन स्थापित करना होगा। तभी हमारी मुक्ति संभव है। जब तक देह से एवं देह से सम्बन्धित विषयों से ममत्व नहीं छूटेगा और आत्मा में अपनापन नहीं आयेगा तब तक जन्म-मरण होता ही रहेगा।

श्लोक ७४ पर प्रवचन

हे आत्मन् ! यदि तुझे देहातीत होना हो तो देह से भिन्न आत्मा की भावना भा ! यहाँ कहते हैं कि देह में एकत्वबुद्धि संसार का बीज है। और दोनों में भेदज्ञान करके आत्मा की पहचान होना सिद्ध पद का कारण है।

इस शरीर को ही आत्मा मानने वाले और आत्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाले बहिरात्मा नया-नया शरीर धारण करके जन्म-मरण के दुःख प्राप्त करते हैं। तथा देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही आत्मभावना करनेवाले देहरहित सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

एक ओर देहभावना और दूसरी ओर आत्मभावना - ऐसे दोनों ही पहलू लिए हैं। रागादि भावों से जो आत्मा का लाभ मानता है, उसे भी वस्तुतः देह में ही आत्मभावना है। राग से जिसने लाभ माना, उसे उस राग के फल में जो संयोग मिलेंगे, उनमें भी वह आत्मबुद्धि करेगा तथा उससे नये-नये शरीर धारण करके संसार में ही परिभ्रमण करेगा।

इसके विपरीत जो आत्मा को देह से पार तथा राग से भी पार चैतन्यतत्त्व के रूप में देखता है - आत्मा में ही आत्मभावना करता है; वह मोक्ष का पात्र है।

ऐसी आत्मभावना वाला जीव स्वयं शरीरादि जड़ प्राणों का अनुसरण नहीं करता। इस कारण वे प्राण भी आत्मा का अनुसरण नहीं करते। अर्थात् वह बार-बार जन्म-मरण नहीं करता। तथा जो प्राणी शरीरादि जड़ प्राणों का अनुसरण करता है, ममत्व करता है, उसे ही वे प्राण पुनः पुनः मिलते हैं, उसका ही बारम्बार जन्म-मरण होता है।

देखो, आजकल तो धर्म के क्षेत्र में अराजकता जैसा वातावरण हो गया है। जैनधर्म के नाम पर जिसको जो जँचता है, वही कहने लगा है। न आगम का आदर, न युक्तियों की परवाह। वर्तमान में यहाँ तीर्थंकर केवली तथा शास्त्रकार, आचार्य, उपाध्याय व साधुओं का तो विरह हो गया है। तत्त्व के विराधक स्वच्छन्द जीव अधिक तैयार हो रहे हैं। अतः वे शास्त्रों का भी मनमाने ढंग से अर्थ करते हैं, राग में व देह की क्रिया में धर्म मानते हैं। उनसे आचार्य कहते हैं कि ऐसे जीव इस अज्ञान के फल से पुनः पुनः देह धारण कर करके भवभ्रमण करेंगे।

इसके विपरीत जो चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसी में आत्मभावना करते हैं, वे विदेह पद को प्राप्त करते हैं, अशरीरी सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता ही आत्मभावना है। और यही आत्मभावना मोक्ष का कारण है।

इसके सिवाय व्यवहार रत्नत्रय के राग से लाभ मानकर जो उसकी भावना करता है, उसे तो देह की ही भावना होना कहते हैं। ऐसे सीधे तौर पर किसी की बारम्बार देह धारण करने की भावना भले न हो, परन्तु देह में जो आत्मबुद्धि वर्तती है, वही देह को धारण करने का कारण है। देह के लक्ष्य से रागादि की जिसको भावना वर्तती है, वह भी देह को ही आत्मा मानता है। जिसे राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व की भावना नहीं है, परन्तु राग की व राग के फल की ही भावना है, वह भावना ही भव की कारण है।

'भावना भव नाशिनी व भावना भव वर्द्धनी' - यह तो कहते सुना ही होगा। पर कौन-सी भावना भव का नाश करनेवाली है और कौन-सी भावना भव बढ़ानेवाली है - यह भी सोचा कभी ? अरे भाई ! 'मैं ज्ञानानन्द स्वरूपी हूँ' - मात्र यही भावना भव का अभाव करनेवाली है। तथा देह में एकत्व ममत्व सहित मिथ्या अभिप्राय पूर्वक भायी गई दया, दान व राग-द्वेष की भावना संसार का कारण है। इस प्रकार भावना के अनुसार ही बन्ध-मोक्ष होता है।

जगत के जीव अपनी भावनाओं को चाहे पहचानें या न पहचानें; पर जिनकी जैसी शुभाशुभ भावना अन्तर्मन में बुद्धि-अबुद्धिपूर्वक जाने-अनजाने में चलती रहती है, उन्हें अपनी भावनाओं के अनुसार उनका अच्छा-बुरा फल तो भोगना ही पड़ता है।

देखो, रामचन्द्रजी वनवास के समय जब गुप्ति-सुगुप्ति मुनिवरों को आहार दान दे रहे थे, उस समय वहाँ झाड़ पर बैठे जटायू पक्षी को भी भावना जागृत हुई, मुनि के प्रति भक्तिभाव जागृत हुआ तो उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया है और वह मुनिवरों के चरणों में पड़ गया तो उसका शरीर भी सुन्दर स्वर्ण जैसा हो गया। तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य धारण करके उसने श्रावक के व्रत धारण किए और समाधिपूर्वक देह त्याग कर स्वर्ग गया।

इस उदाहरण से यह बताने का प्रयोजन है कि उस पक्षी ने आहार दान नहीं दिया था, मात्र आहारदान की अनुमोदना ही की थी, भावना ही भायी थी, तो भी उसके फल में उसे देवगति की प्राप्ति हुई।

यद्यपि उदाहरण में तो शुभ भाव की बात है। इसीप्रकार यदि कोई चिदानन्दस्वरूप आत्मा में ही आत्मभावना भाये तो वह अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति करेगा। तथा जो राग में एवं देहादि में ही आत्मापने की भावना करेगा वह बारम्बार देह को धारण कर-करके संसार में जन्म-मरण करेगा।

इस प्रकार सब जीवों को अपनी भावना अनुसार ही संसार व मोक्ष होता है । ऐसा जानकर आत्मार्थियों को देहादि से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप की भावना अवश्य भानी चाहिए। ऐसी आत्मभावना से सिद्ध दशा प्राप्त होती है।

* * *

श्लोक ७५

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्मनिर्वाणमेव च।

गुरुरात्मा त्मनस्तस्मात् नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ :- (आत्माएव आत्मानं) आत्मा ही अपने आप **(जन्म-निर्वाणम् एव च नयति)** जन्म व निर्वाण प्राप्त करता है। **(तस्मात्)** इसलिए **(परमार्थतः)** निश्चय से **(आत्मनः गुरुः आत्मा एव)** आत्मा का गुरु आत्मा ही है। **(अन्यः न अस्ति)** अन्य कोई नहीं।

श्लोक ७५ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि - जीव अपने शुद्ध व अशुद्ध उपादान से स्वयं ही अपने आत्मा का हित-अहित करता है। उसमें कर्म व परपदार्थ अहेतुवत् हैं, अकिंचित्कर हैं। अतः निश्चय से आत्मा ही आत्मा का गुरु है।

जब तक जीव अपने आत्मा के सामर्थ्य का भान कर अंतरंग शत्रु रागादि कषाय परिणति पर विजय प्राप्त नहीं करके स्वयं के - अपने आत्मा के उद्धार करने का प्रयत्न नहीं करता; तब तक वह संसाररूपी कीचड़ में फँसा रहता है तथा जन्म-मरण का असह्य कष्ट भोगता रहता है।

जब जीव आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करके स्वयं स्वभाव सन्मुखता का विशेष उग्र पुरुषार्थ करता है, तब क्रम-क्रम से राग-द्वेषादि कषाय भावों का या विभाव परिणति का स्वयं त्याग होता जाता है। तथा रागादि भावों से सर्वथा मुक्त होकर परम वीतरागता प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है।

यद्यपि व्यवहार में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध है। जो हित का उपदेश देकर शिष्यों का कल्याण करते हैं, वे लोक में गुरु कहे जाते हैं। परन्तु

गुरु ने जो उपदेश दिया उसे झेला तो शिष्य ने ही है न ? तथा उस उपदेशानुसार आचरण करके अपना कल्याण भी शिष्य ने ही प्रगट किया है। इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपने हित का कर्ता होने से स्वयं ही परमार्थ से अपना गुरु है।

श्री गुरु तो ऐसा उपदेश देते हैं कि हे जीव ! तू देह से व रागादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व है। तू अपनी चैतन्य की वीणा बजाकर अपने आत्मा को जगा। अन्तर्मुख श्रद्धा द्वारा अपने चैतन्य की वीणा में से आनन्द की झंकार कर !'

श्री गुरु का ऐसा पतित पावन हितोपदेश सुनकर भी जबतक जीव स्वयं जागृत न हो, आत्मा का अनुभव नहीं करे, तबतक उसका उद्धार नहीं होता। हाँ, पात्र जीवों को देशनालब्धि में ज्ञानी गुरु की निमित्तता होती अवश्य है। पर जो जीव अपनी परिणति नहीं बदलता, उसके लिए श्री गुरु क्या करें ? श्री गुरु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र हैं। संसार में या मोक्ष में तो जीव स्वयं ही अपनी योग्यतानुसार जाता है।

निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है। सर्वज्ञ देव व ज्ञानी गुरु मिले, उन्होंने आत्मा के हित का उपदेश दिया; परन्तु जो जीव स्वयं समझकर आत्मज्ञान न करे तो देव या गुरु क्या करें ? आत्मा स्वयं ही, स्वत: अपने स्वसंवेदन से ही अपने को प्रकाशित करता है। जिसप्रकार आकाश स्वयं स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं है। तथा जिसप्रकार काल को परिणमाने के लिए कोई अन्य आधार नहीं, वह स्वयं अपने स्वभाव से ही परिणमता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं अपने से ही स्वयं को जानता है। उसमें किसी अन्य का कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार जिसका जो स्वभाव है, वह निरालम्बी है।

आत्मा को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किसी अन्य का आलम्बन नहीं है। आत्मा स्वयं के आलम्बन से ही स्वयं को जानता है। समोशरण

में तीर्थंकर परमात्मा भी सिंहासन से चार अंगुल ऊंचे आकाश में निरालम्बी विराजते हैं।

तात्पर्य यह है कि परमार्थ से तो आत्मा स्वयं अपने आश्रय से ही मुक्ति प्राप्त करता है। इसकारण आत्मा स्वयं ही अपना देव है, तथा स्वयं ही अपना गुरु है। तथा जिन देव - गुरु ने ऐसा स्वाश्रय होने का उपदेश दिया है, वे सर्वज्ञ देव व ज्ञानी गुरु व्यवहार से हमारे पूज्यनीय देव-गुरु हैं। इसीकारण धर्मात्माजन उनके प्रति विनय-बहुमान की भावना रखते हैं।

इसप्रकार स्वाश्रय का प्रयत्न करने वाले जीव निमित्तरूप से देव गुरु का भी विवेक रखते हैं, और उनकी भक्ति-पूजा आदि भी करते हैं। परन्तु बन्ध में या मोक्ष में आत्मा स्वयं ही स्वयं को परिणमाता है। अन्य कोई किसी के बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं है।

* * *

श्लोक ७६

दृढ़ात्मबुद्धिर्देहादौ, उत्पश्यन्नाश मात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च, बिभेति मरणाद्भृशम्॥ ७६॥

अन्वयार्थ :-(देहादौ दृढ़ात्मबुद्धिः) देहादि में दृढ़ - अविचल आत्मबुद्धिवाला बहिरात्मा **(आत्मनः नाशं)** अपने शरीर के नाश को **(च)** और **(मित्रादिभिः वियोगं)** मित्रादि के वियोग को **(उत्पश्यन्)** देखकर **(मरणात्)** मरण से **(भृशंबिभेति)** बहुत अधिक भयभीत होता है।

श्लोक ७६ पर प्रवचन

जिन जीवों को दृढ़तापूर्वक - निश्चलपने देह में ही आत्मबुद्धि है; 'देह ही मैं हूँ' - ऐसी अटल-दृढ़ धारणा है, वे जीव मृत्यु के समय - देह विलय होने पर अपना (आत्मा का) ही मरण मानकर भयभीत होते हैं। तथा स्त्री-पुत्र, मित्रादि का वियोग देखकर भयभीत व दुःखी होते हैं।

देखो, कभी न कभी तो सभी को इस प्राप्त देह के वियोग का प्रसंग आना ही आना है। जिसने देह से भिन्न आत्मतत्त्व को लक्ष्य में नहीं लिया, वह देह के वियोग में आत्मा का मरण मानते हैं। ज्ञानी तो आत्मा को देह से पहले से ही जुदा जानते हैं। ध्रुव चैतन्य की दृष्टि में उन्हें मरण का भय नहीं होता। ज्ञानी जानते हैं कि यह जड़-शरीर मेरा नहीं है। मेरा तो ज्ञान शरीर है। उस ज्ञान शरीर से मेरा कभी वियोग नहीं होता। इसकारण मेरा मरण नहीं होता। जब मेरा मरण होता ही नहीं, तो फिर मरण का भय कैसा ? जिसकी देह में एकत्वबुद्धि है, उसी को मरण भय होता है ; क्योंकि उसे देह से भिन्न आत्मा की शरण भासित नहीं होती। इसकारण वह असहाय एवं अशरण होकर मरता है।

भाई ! पहले आत्मा और देह - दोनों के बीच भिन्नता जानकर आत्मा को देह से जुदा जानकर अपने आत्मा का स्व संवेदन कर!

आत्मदृष्टि वालों को ही अपना अविनाशी स्वरूप भासित होता है। इससे उसको मरण का भय नहीं रहता।

ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं -

अब हम अमर भये न मरेंगे... !

या कारण मिथ्यात्व दियो तज, फिर क्यों देह धरेंगे ?

देह और आत्मा में एकत्वबुद्धि रखकर जीव चाहे जितने तप- त्याग करे, शुभ राग करे, पर उस शुभराग में ऐसी कोई ताकत नहीं है कि जो मरण का भय मिटा सके। तथा भेदज्ञान किसी बाह्य क्रियाविशेष या राग के आश्रय से नहीं होता, वह तो चैतन्य के स्वसंवेदन के अभ्यास से ही होता है।

अहा ! जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, भेदज्ञान हुआ, वहीं भवकटी हो जाती है, अनन्त जन्म-मरण का अभाव हो जाता है। तू बालबुद्धि छोड़ दे और बालकों की तरह पर पदार्थों से कट्टी करले, एवं रागादि से दोस्ती छोड़ दे।

अज्ञानी तो शरीर की सत्ता को ही अपनी सत्ता मानता है। शरीर के वियोग को अपना मरण मानता है। शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। और अपनी ज्ञानक्रिया को जानता नहीं है। भाई ! तू चेतन, शरीर जड़; तेरी क्रिया ज्ञानमय, शरीर की क्रिया अज्ञानमय। जीव का धर्म तो जीव की क्रिया द्वारा होता है या अजीव की क्रिया द्वारा ? देह से भिन्न उपयोग स्वरूप आत्मा सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है, वैसा ही अत्यन्त स्पष्ट रूप से संतों द्वारा समझाया गया है।

'मेरी कोई भी चेष्टा देह में नहीं है तथा देह की किसी भी चेष्टा में मैं नहीं हूँ।' - ऐसा भेदज्ञान जिसे नहीं है, वह मरण के भय से थरथर काँपता है। भले ही कदाचित् उसके व्यवहार में मृत्यु के समय बाहर से धैर्य व शान्ति दिखे; परन्तु 'मैं मरता हूँ' - ऐसा जो अभिप्राय है, उसमें

अपने अस्तित्व के नाश की ही भावना विद्यमान है। इसकारण वस्तुतः उसके मरण का भय नहीं मिटता। उसका मरना उसकी मजबूरी है। इसकारण उसकी मृत्यु कभी भी महोत्सव नहीं बन पाती।

इसके विपरीत ज्ञानी निःशंक है। क्योंकि उसने अपने अविनाशी आत्मपद को दृष्टि में लेकर 'मरण' को ही मार डाला है। अतः उसे मरण का भय नहीं होता।

आचार्य देव अज्ञानी से पूछते हैं कि भाई ! बाहर में तो तू ने अब तक शरीर, मित्र, धन आदि को शरणरूप मानकर जीवन बिताया, अब वियोग के काल में किसकी शरण लेगा ? अन्दर में जो वास्तविक शरण है, उसे तो तूने जाना नहीं है। अरे भाई ! संयोग की शरण में कभी भी शांति व समाधि नहीं होती। बस इससे स्पष्ट है, सिद्ध है कि अज्ञानी तो देहदृष्टि के कारण - देह में आत्मबुद्धि के कारण मरण से भयभीत होकर असमाधि पूर्वक ही मरता है।

इस प्रकार अज्ञानी की बात कही।

* * *

श्लोक ७७

आत्मन्येवात्मधीररन्यां शरीरगतिमात्मनः ।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतर ग्रहम् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ :-(आत्मनि एव आत्मधीः) आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धि वाला अन्तरात्मा **(शरीरगतिं)** शरीर के विनाश को **(वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तर ग्रहम् इव)** एक वस्त्र को त्यागकर दूसरे वस्त्र को ग्रहण करने के समान **(निर्भयं)** निर्भयता से **(आत्मनः अन्यां मन्यते)** आत्मा से भिन्न मानता है।

भावार्थ :-आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धि वाला अन्तरात्मा आत्मा को शरीर से भिन्न समझता है, मानता है। दोनों को कभी भी एकरूप अथवा शरीर को ही आत्मा नहीं मानता। अर्थात् शरीर की उत्पत्ति-विनाश में आत्मा का जन्म - मरण नहीं मानता। अतः वह मरण भय से निर्भय रहता है।

श्लोक ७७ पर प्रवचन

जिसने चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसी में एकत्वबुद्धि की है तथा देह को अपने से भिन्न जाना है, उस धर्मात्मा को देह छूटने का प्रसंग आने पर भी आकुलता नहीं होती। वह श्रद्धा की अपेक्षा पूर्ण निर्भय रहता है। 'मैं मर जाऊँगा' - ऐसा भय उसको नहीं होता। वह तो मृत्यु को मात्र जीर्णवस्त्र की तरह बदल कर नवीन वस्त्र धारण करने जैसा मानकर सहज रहता है।

'मैं शरीर की उत्पत्ति, बालकपन, युवा एवं वृद्धावस्था तथा मरण आदि इन सबसे पूर्ण जुदा हूँ, मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, शरीर के छूटने पर मेरा ज्ञान नहीं छूटता; इसलिए मेरा तो मरण होता है ही नहीं है' - ऐसे विचार से वह मरणभय से निर्भय रहता है।

वह जानता है कि मेरे विविध परिणामों के कारण शरीर की विविध परिणति होती है। ज्ञानी तो अपने ज्ञान परिणाम को ही अपना कार्य जानता है। अत: वह ज्ञातापने से ही रहता है।

इस शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाही - अतिनिकट सम्बन्ध होते हुए भी यह आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है। देह का कार्य देह करता है व आत्मा का कार्य आत्मा करता है। इस प्रकार ज्ञानी दोनों के कार्यों को भिन्न-भिन्न देखता है।

अज्ञानी तो बोलने में, चलने-फिरने में, उठने-बैठने में ऐसा मानता है कि मैं बोलता हूँ, मैं चलता-फिरता हूँ, इसप्रकार आत्मा व शरीर - दोनों के कार्यों को एकरूप ही देखता है। जबकि धर्मात्मा जानते हैं कि शरीर व संयोग सब मुझसे भिन्न हैं। ये सब यहीं पड़े रह जायेंगे। मेरे साथ एक पग भी नहीं चलेंगे। ऐसे भानपूर्वक धर्मी श्रद्धा-ज्ञान के साथ, समता से देह त्यागता है, समाधिमरण करता है।

जिसने जीवन में अपने देह से आत्मा को जुदा जाना-माना, उसको देह के वियोग के काल में भी अपना मरण भासित नहीं होता। वह तो यह जानता है, मानता है कि - मैं तो चैतन्यभावपने से ही अपने को जानता हूँ।

आचार्य कहते हैं कि प्रभो ! तू एकबार दृष्टि को पूर्णत: पलटकर अपने अन्तर में विराजमान भगवान आत्मा के स्वरूप को देख तो सही। तेरे समस्त दु:ख दूर हो जायेंगे।

हे आत्मन् ! तू तो ज्ञानरूपी दिव्य शरीर का धारी है, इस कृमिकुल कलित देह में अपनापन छोड़कर उस चैतन्य चिन्तामणि देह में अपनापन स्थापित कर।

* * *

श्लोक ७८

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्ताश्चात्मगोचरे ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थ :-(यः व्यवहारे सुषुप्तः) जो व्यवहार में सोता है, अर्थात् व्यवहार में रुचि नहीं लेता **(स आत्मगोचरे जागर्ति)** वह आत्मा की शोध - खोज में जागृत रहता है, आत्मा की उपेक्षा नहीं करता। (तथा) **(यः व्यवहारेस्मिन् जागर्ति)** जो व्यवहार में जागृत रहता है, रुचिवंत है, सजग है; **(स आत्मगोचरे सुषुप्तः)** वह आत्मा के प्रति रुचिवान नहीं होता, वह आत्मा की उपेक्षा करता है; आत्मा को जानने-पहचानने व उसे उपलब्ध करने में उद्यमवंत नहीं होता।

भावार्थ :-व्यवहार में अर्थात् रागादि विकल्पों में तथा प्रवृति-निवृत्ति स्वरूप बाह्य व्यवहार में जो प्रयत्नपरायण नहीं है, वह आत्मदर्शन में, आत्मा के विषय में जागृत है, आत्मानुभव में तत्पर होता है। इसके विपरीत जो उपरोक्त प्रकार के व्यवहार में सजग या प्रवृत्त रहता है, वह आत्मा के विषय में प्रमादी रहता है।

श्लोक ७८ पर प्रवचन

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो जीव प्रवृत्ति-निवृत्ति स्वरूप व्यवहार में अर्थात् भक्ति, व्रत, नियमादि शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार में तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ कार्यों से निवृत्तिरूप व्यवहार में - इसप्रकार शुभाशुभ रूप दोनों व्यवहारों में तत्पर नहीं होता, वही आत्मानुभव कर सकता है। भक्ति आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति से और हिंसा आदि अशुभ कार्यों की निवृत्ति से आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि वह भक्ति एवं व्रत आदि विकल्परूप एवं रागरूप है।

ज्ञानी तो आत्मस्वरूप में स्थिरता रूप प्रवृत्ति करते हैं। इसकारण उनको विकल्परूप व्यवहार धर्म से स्वतः निवृत्ति हो जाती है।

मोक्ष प्राभृत की ३१वीं गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य देव ने यही बात कही है कि ज्ञानी के राग तो होता है, किन्तु उसकी राग में रुचि नहीं होती, वह राग में तत्पर नहीं रहता। उसकी रुचि व तत्परता तो अपने ज्ञानस्वभाव में ही वर्तती है। जिसे राग में रुचि व तत्परता है, जो राग में लाभ मानता है, वह जीव आत्मस्वभाव के प्रयत्न में अनुद्यमी है। अज्ञानी कहता है कि - व्यवहार करते-करते परमार्थ को प्राप्त कर लेंगे। परन्तु यहाँ आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि - जो व्यवहार में जागृत हैं, तत्पर हैं, वे परमार्थ में सोये हुए हैं, इसकारण वे परमार्थ को प्राप्त नहीं होते।

देखो, धर्मी-अधर्मी का माप इस बात पर निर्भर करता है कि उसका झुकाव आत्मा की ओर है या राग की रुचि की ओर है ? अहा ! आत्मा की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही समाधि है। आत्मा के स्वभाव को जानकर जो उसमें तत्पर हैं, वे आत्मा में जागृत हैं, आत्मा के आराधक हैं। वे रागादि में सोये हैं अर्थात् वे रागादि में लिप्त नहीं होते। तथा जो जीव रागादि में धर्म मानते हैं, उसी में तत्पर हैं; वे अज्ञानी हैं, राग की ही आराधना करते हैं। वे राग रहित चिदानन्द स्वभाव को नहीं आराधते।

एक-दूसरे से विरुद्ध दो परिणतियाँ एक साथ नहीं रह सकतीं। अर्थात् जिनको चैतन्य स्वभाव में रुचि है, तत्परता है; उन्हें रागादि व्यवहार में रुचि नहीं होती। और जिन्हें रागादि व्यवहार में रुचि व तत्परता है, आदरबुद्धि है, उन्हें आत्मा के चैतन्यस्वभाव में तत्परता - आदरबुद्धि नहीं है। चैतन्यस्वभाव व राग - दोनों एक दूसरे से विरुद्ध हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो आत्मा के चिदानन्द स्वभाव का ही आदर करके उसी में अपनी परिणति को जोड़ते हैं। इसप्रकार व्यवहार से उदासीन होकर शुद्ध चैतन्यस्वभाव में तत्पर होना ही मोक्ष का उपाय है।

अहो ! पहले इस बात का निर्णय करना चाहिए कि मुझे मेरे चिदानन्द स्वभाव की ही शरण है, राग की शरण नहीं है। चैतन्यस्वभाव

की शरण से ही सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा निर्णय करके चैतन्य सन्मुख होने से समाधि होती है। तथा जिसे ऐसा निर्णय नहीं है, वह मिथ्यादृष्टी है। वह कितना ही तप-नियम संयम करे, तो भी सम्यग्दर्शन के बिना वह सब व्रतादि असमाधि ही है।

समाधि कहो या मोक्ष का उपाय कहो - वह सब आत्मा के चैतन्य स्वभाव के आश्रय से ही होता है। इसलिए रागादि व्यवहार का आदर छोड़कर शुद्ध ज्ञायक स्वभाव का ही आदर करना। ऐसा संतों का उपदेश है।

* * *

श्लोक ७९

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा, दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तर विज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥ ७९॥

अन्वयार्थ :-(अन्तरे) अन्तरंग में **(आत्मानं दृष्ट्वा)** आत्मा के वास्तविक स्वरूप को देखकर **(बहिः)** बाहर में **(देहादिकं दृष्ट्वा)** शरीरादि परभावों को देखकर **(तयोः)** दोनों के - आत्मा व शरीरादि के **(अन्तर विज्ञानात्)** भेदविज्ञान से तथा **(अभ्यासात्)** भेदज्ञान के अभ्यास से **(अच्युतः भवेत्)** आत्मा में स्थिरता आती है।

श्लोक ७९ पर प्रवचन

आत्मा को अन्तर में देखकर तथा देहादि को अपने से बाह्य देखकर भेदज्ञान द्वारा दोनों की भिन्नता जानकर आत्मा का निजरूप व देहादि का पररूप भेदाभ्यास करने से भेदज्ञानी जीव आत्मा में स्थिर होने लगता है। और पूर्ण स्थिर हो सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है।

यहाँ देहादि कहकर रागादि को भी उसमें शामिल कर लिया है; क्योंकि वे रागादि भी आत्मा के स्वभाव से बाह्य हैं।

देखो, भगवान पूज्यपाद स्वामी स्पष्ट कहते हैं कि निश्चय का आदर तथा व्यवहार के प्रति उदासीनता ही मुक्ति का कारण है। ज्ञानी निश्चय व व्यवहार दोनों को जानता अवश्य है, परन्तु दोनों को जानकर वह निश्चय (अर्थात् शुद्ध आत्मा) में तो तत्पर होता है, और व्यवहार में (रागादि में) तत्पर नहीं होता, बल्कि उसे हेय मानता है। इस कारण वह उससे मुक्त हो जाता है। इसके विरुद्ध, जो जीव व्यवहार में तत्पर रहते हैं वे तो मिथ्यादृष्टी हैं। और इसीकारण संसार में भटकते रहते हैं।

जो ऐसा मानते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति हो जायेगी, वे जीव वस्तुतः व्यवहार में ही तत्पर हैं; क्योंकि जो व्यक्ति जिसे लाभ का कारण मानता है, वह उसमें अटके बिना नहीं रहता।

जो निश्चय का आदर करता है तथा व्यवहार का आदर नहीं करता, उसने ही निश्चय-व्यवहार को यथार्थ जाना है। जिसने व्यवहार को आदरणीय माना है, उसने तो निश्चय - व्यवहार को जाना ही नहीं है।

जिसप्रकार शरीर और आत्मा - दोनों को जानते हुए भी धर्मात्मा जड़ शरीर को अपने से भिन्न बाह्यपने ही देखता है तथा आत्मा को ही अन्तर में देखता है; उसीप्रकार रागादि व्यवहार को तथा आत्मा के शुद्ध स्वभावरूप निश्चय को - दोनों को जानते हुए भी धर्मात्मा रागादि व्यवहार को तो अपने से बाह्यपने देखता है, तथा शुद्धस्वभाव को ही अपने अन्तरतत्त्वपने देखता है।

राग बाह्यतत्त्व होते हुए भी उसे जो अन्तर के स्वभाव के साथ एकरूप ही देखता है, वह मिथ्यादृष्टी है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा को अन्तरपने देखना चाहिए तथा रागादि को बहिरंगरूप से देखना चाहिए। ऐसे भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा ही जीव अपने में स्थिर होता है। अर्थात् अविनाशी मोक्ष पद पाता है।

भाई ! सर्वप्रथम तू अपने अंतरंग में ऐसा निश्चय कर कि अन्तर्मुख होने में ही मेरा हित है और रागादि में मेरा हित नहीं है। अपनी रुचि का जोर आत्मा की ओर का ही होना चाहिए। वही मूल वस्तु है। रागादि व्यवहार की मदद से कभी कोई जीव मुक्ति नहीं पाता, ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से ही मुक्ति प्राप्त करता है।

अहो ! इस पंचम काल के मुनिराजों ने भी धर्म की धारा को खण्डित नहीं होने दिया। सर्वज्ञ भगवन्तों के भावों को जैसा का तैसा सुरक्षित रखा है। मुनिराज धर्म के स्तम्भ हैं। उन्हीं के सहारे यह धर्म का महल खड़ा है, मोक्षमार्ग चल रहा है। स्वयं ने तो आत्मा व राग की भिन्नता का भलीभांति अनुभव किया ही, जगत के लिए भी भेदज्ञान की हेतुभूत जिनवाणी को अपनी वाणी व लेखनी द्वारा सुरक्षित कर दिया है।

पहले स्वभाव और राग को भिन्न जानकर स्वभाव में एकाग्रता द्वारा राग से भिन्न होते जाना ही मोक्षमार्ग है।

प्रथम तो अज्ञानी जीव की देखने में ही भूल हो जाती है। रागादि जो कि वस्तुतः अपने स्वभाव से बाह्य है, फिर भी उसे यह अज्ञानी जगत अपने रूप ही देखता है तथा उससे लाभ मानता है। बस इस कारण उसे राग से छुटकारा नहीं मिलता, मुक्ति प्राप्त नहीं होती। धर्मी जीव गृहस्थी में रहकर भी एवं रागादि के होते हुए भी उस राग को आत्मा से बाह्यतत्त्वपने ही देखता है। तथा निज चैतन्यतत्त्व को ही अतरंग तत्त्वपने देखता है।

देखो, सीताजी धर्मात्मा थीं, उन्हें भेदज्ञान था। वे रामचन्द्रजी के प्रति हुए राग को अपने आत्मस्वभाव से बाह्यपने जानतीं थीं तथा चैतन्यतत्त्व को उस राग से भिन्न अंतरंग तत्त्वपने जानतीं थीं। एक यही मार्ग है। पुरुष हो या स्त्री, रोगी हो या निरोगी, राजा हो या रंक, स्वर्ग में हो या नरक में, वृद्ध हो या बालक - सभी के लिए हित का यही एक मार्ग है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप को ही अंतरंग में देखें एवं रागादि समस्त परभावों को अपने से बाह्यपने देखें। जिसे अपने से भिन्न पर जान लेगा, उसका आदर सहज ही कम हो जायेगा।

देहादि को बाह्यपने देखना व चैतन्यस्वरूप आत्मा को अंतरंगपने देखकर उसी में एकाग्रता का अभ्यास करना ही मुक्ति का मार्ग है। यह अन्तरंग चैतन्य तत्त्व ही जगत का सर्वोत्कृष्ट प्रमेय है। स्वज्ञेय होने से यही मुख्य प्रमेय है। इसलिए अपने आत्मा को अंतरंग में देखकर उसे ही प्रमेय बनाना तथा रागादि परज्ञेयों को बाह्यपने देखने का प्रयत्न करना ही मोक्ष का उपाय है।

* * *

श्लोक ८०

पूर्वं दृष्टात्म तत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥ ८०॥

अन्वयार्थ :-(पूर्वं दृष्टात्म तत्त्वस्य) जिसको प्रथम अभी-अभी आत्मदर्शन हुआ है, उस प्राथमिक - प्रारम्भिक भूमिकावाले अन्तरात्मा को **(जगत् उन्मत्तवत् विभाति)** जगत उन्मत्त की भाँति पागल-सा दिखाई देता है। तथा **(पश्चात् स्वभ्यस्तात्मधियः)** जो आत्मस्वरूप के अभ्यास से आत्मज्ञान में परिपक्व हो गये हैं, उन्हें यह जगत काष्ठ - पाषाण की भाँति निश्चेष्ट - मृतवत् भासित होता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव की प्रारम्भिक स्थिति में - प्रथम भूमिका में भेदज्ञानी अन्तरात्मा को, यह विकल्पारूढ़ जगत विवेकशून्य क्रियायें करता हुआ पागल- सा प्रतीत होता है। अतः करुणा आती है। परन्तु जब वही भेदज्ञानी अन्तरात्मा आत्मज्ञान में - तत्त्वज्ञान में सम्यक् तथा परिपक्व हो जाता है तो उसे वही जगत पाषाणवत् प्रतीत होने लगता है; क्योंकि फिर उसे जगत के फेरफार करने, उसे सुधारने के सम्बन्ध में कुछ भी विकल्प नहीं उठते। वह उसके प्रति पूर्ण निर्विकल्प हो जाता है।

श्लोक ८० पर प्रवचन

आत्मस्वरूप का सम्यक् भान होने पर धर्मी जीवों को प्रारम्भ में ऐसे विकल्प आते हैं कि अरे ! ये जगत के जीव अपने चैतन्य स्वरूप के चिन्तन से भ्रष्ट होकर शुभ - अशुभ चेष्टाओं में ही पागल हो रहे हैं, परद्रव्य को अपना मान रहे हैं। इसप्रकार करुणा बुद्धि से उनको जगत पागल जैसा दिखाई देता है।

जगत से जुदा होकर - जगत से ऊपर उठकर ज्ञानी ने अपने चैतन्य स्वभाव का भान तो कर लिया है; परन्तु उसे प्रारम्भिक भूमिका

वाले अन्य जीवों को देहादिक की क्रिया में मग्न देखकर ऐसा लगता है कि 'अरे ! ये जीव मोह से मूर्च्छित हो पागल की तरह विवेकशून्य हो रहे हैं, मोहरूपी भूत इन्हें परेशान कर रहा है, ऐसी करुणा आती है। अतः प्रारम्भ में ज्ञानी भी करुणाबुद्धि के कारण अज्ञानी के दुःख से यदा - कदा दुःखी हो जाता है।

जब वही आत्मज्ञानी भेदज्ञान के अभ्यास से अपने अंतरंग में विशेष दृढ़ता प्राप्त कर लेता है, तब फिर उसे सारा जगत काष्ठवत् अचेत जैसा लगने लगता है। अर्थात् अपने आत्मज्ञान के चिन्तन की उग्रता होने पर जगत की ओर लक्ष्य ही नहीं रहता; सहज उदासीन परिणति हो जाती है। उसे ऐसा विचार आता है - मेरे चैतन्यधाम के बाहर सबकुछ मुझसे अत्यन्त भिन्न है, सबका स्वतंत्र परिणमन है, मेरा उसमें कुछ भी हस्तक्षेप संभव नहीं है। ऐसे विचार से उसका उपयोग बाहर ही नहीं जाता। इसकारण उसे जगत चेतना रहित प्रतीत होने लगता है। उसके प्रति सहज उदासीनता आ जाती है।

देखो ! यह ज्ञानी की दशा ! विकल्प आने पर भी ज्ञानी उनसे उदासीन है। परन्तु उदासीन होते हुए भी जितने अंश में विकल्प है, उतनी तो असमाधि की स्थिति है ही। और जब वे विकल्प भी छूटकर स्वरूप में पूर्ण स्थिर हो जाते हैं, तो पूर्ण समाधि की स्थिति बन जाती है।

आचार्य कहते हैं कि चैतन्य का ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप है, फिर भी जगत इस ओर आकर्षित क्यों नहीं होता ? सत्य को समझने की कोशिश क्यों नहीं करता ?

यहाँ अन्तरात्मा की दो भूमिकायें सिद्ध कीं हैं। प्रथम, विकल्प की भूमिका तथा दूसरी, स्वरूप में स्थिरता रूप भूमिका। विकल्प की भूमिका में जगत के प्रति करुणा व खेद आ जाता है। वह सोचता है - ये जगत के प्राणी बिचारे आत्मस्वरूप को भूलकर उन्मत्त की तरह भवभ्रमण कर रहे हैं; जड़ की क्रिया में व राग में धर्म मानकर उसके मोह में पागल हो गये हैं।

प्राथमिक दशा में अन्तरात्मा को भी ऐसे विकल्प आते हैं। इन विकल्पों से उन्हें अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए। तथा इस भूमिका में राग का जो विकल्प आता है, वह करने योग्य है - ऐसा भी नहीं मान लेना चाहिए।

द्वितीय भूमिका में चैतन्य में स्थिरता के विशेष अभ्यास द्वारा जहाँ आत्मा में एकाग्रता हो जाती है, वहाँ राग का विकल्प ही नहीं रहता। वहाँ जगत सम्बन्धी चिन्ता ही नहीं रहती। इसकारण जगत अचेत जैसा भासित होने लगता है।

जगत के बाह्य पदार्थों में निज चैतन्य का अभाव है - ऐसा जानकर ज्ञानी अन्तर में एकाग्र होकर अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही देखता है, देखने का प्रयत्न करता है।

देखो, एकबार बाली मुनिराज उस कैलाश पर्वत पर ध्यानस्थ थे, जिस पर भरत चक्रवर्ती ने तीन चौबीसी के जिनबिम्ब विराजमान कराये थे। उसी बीच रावण वहाँ से विमान द्वारा निकला जहाँ मुनिराज ध्यानस्थ थे। इसकारण उसका विमान अटक गया। रावण ने जब उतर कर देखा तो मुनिराज के प्रति उसका पूर्व का वैरभाव जागृत हो गया। मुनिराज के प्रति प्रतिशोध की भावना से उसने कैलाश पर्वत को ही पलटने की ठान ली। यह स्थिति देखकर बाली मुनिराज को जिनबिम्बों की रक्षा करने का शुभभाव सहज ही आ गया और उन्होंने पैर का अंगूठा दबा दिया। बस फिर क्या था, रावण ऐसा दबा कि वह रो पड़ा। जिनबिम्ब तो सुरक्षित बच गये, पर मुनिराज ने अपने किए का पश्चाताप किया, प्रायश्चित लिया; क्योंकि भूमिकानुसार जिनबिम्ब बचाने का भाव तो आया, पर उन्होंने उस विकल्प को भी उपादेय - अच्छा नहीं माना। जो उस शुभ विकल्प को करने लायक माने वह भी मिथ्यादृष्टी और भूमिकानुसार ऐसा संकट उपस्थित होने पर जिसे ऐसा भाव न आये वह

भी मिथ्यादृष्टी। संकट काल में ऐसा शुभभाव आता ही है, आये बिना रहता ही नहीं है। पर वे उसे उपादेय नहीं मानते।

धर्मी को शुभ विकल्प उठते हैं, परन्तु वे उन्हें छोड़ कर स्वरूप में ही स्थिर रहना चाहते हैं। और ज्यों ही स्वरूप में गये, स्थिर हुए कि जगत से सम्बन्धित चिन्ताओं का अभाव हो जाने से सहज ही परम उदासीनता वर्तने लगती है। उन्हें जगत विषयक राग-द्वेष नहीं रहते। इस कारण जगत काष्ठवत् भासित होने लगता है।

पहले देह से भिन्न आत्मा को जानता है। फिर भेदज्ञान के अभ्यास से स्वरूप में ठहरने पर समस्त विकल्प छूटने से जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। भेदज्ञान के अभ्यास की ऐसी महिमा है।

* * *

श्लोक ८१

श्रण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेत् - भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थ :- (आत्मानं) आत्मा का स्वरूप **(अन्यतः)** दूसरों के द्वारा **(कामं श्रण्वन्नपि)** बहुत सुनने पर भी तथा **(वदन्नपि)** स्वयं के द्वारा दूसरों को बोलने पर या सुनाने पर भी **(यावत् कलेवरात् भिन्नं)** जब तक आत्मा को शरीर से भिन्न रूप से **(न भावयेत्)** नहीं भाया जाता **(तावत्)** तब तक **(मोक्षभाक् न)** जीव मोक्ष का पात्र नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि - आत्मा की बात भले ही बहुत बार गुरुमुख से सुनी हो तथा स्वयं ने दूसरों को सुनाई हो; परन्तु जबतक आत्मा को शरीर व राग-रंग से भिन्न अनुभव नहीं करता, जबतक स्वसन्मुखता पूर्वक आत्मा का भाव भासन नहीं करता, तबतक जीव मुक्ति का पात्र नहीं बन सकता।

भेदज्ञान द्वारा स्वसन्मुखता पूर्वक जीव-अजीवादि तत्त्वों का भाव भासन होना ही सच्ची श्रद्धा है, और यही निश्चय सम्यक्त्व है। इसके बिना जीव मोक्ष का पात्र नहीं होता।

श्लोक ८१ पर प्रवचन

यहाँ शिष्य पूछता है कि 'हे नाथ ! आपने आत्मा में स्थिर होने के अभ्यास करने की बात कही है, किन्तु यह बात कुछ बैठती नहीं है; क्योंकि शरीर व आत्मा भिन्न हैं - जब ऐसी धारणा से अथवा यह बात सुनने/सुनाने से ही मुक्ति हो जायेगी तो फिर स्थिरता का उद्यम करने से क्या प्रयोजन है ?'

शिष्य की इस भ्रान्ति युक्त धारणा का निराकरण करने के लिए ही मानो पूज्यपाद स्वामी ने यह श्लोक लिखा है। वे लिखते हैं - अरे

भाई ! देह और आत्मा भिन्न हैं - ऐसा कहने/सुनने मात्र से अथवा बारम्बार धारणा में लेने मात्र से भी मुक्ति नहीं मिलती। जबतक अन्तर्मुख होकर इस देह से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं होता, तब तक जीव मुक्ति नहीं पाता।

आत्मा देह से जुदा है - ऐसी बात तो बरसों से सुनता आ रहा है, और स्वयं भी लाखों मनुष्यों को सुनाता/समझाता रहा है; किन्तु यह सब तो दोनों ओर से पर की ओर का झुकाव होने से आकुलतामय वृत्ति ही है। भाई ! वाणी तो पर है, अनात्मा है, उसके आश्रय से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। वाणी सुनने व कहने का अभ्यास कोई स्व का अभ्यास नहीं है। अर्थात् वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो स्व का अभ्यास है। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा को देह से भिन्न जानकर अन्तर्मुख होकर एकाग्रता के अभ्यास करने का नाम स्व का अभ्यास है। तथा वही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। जो अन्तर्मुख होकर ऐसी आत्मभावना करते हैं, उन्होंने ही श्री गुरु का उपदेश सुना है, समझा है; क्योंकि श्री गुरु भी देह से भिन्न आत्मा को जानकर उसी में अन्तर्मुख होने को कहते हैं। दूसरों को सुनाना या दूसरों से सुनना - यह कोई स्व का अभ्यास नहीं है, यह तो राग है। इस राग की भावना से मोक्ष मानना तो मिथ्यात्व है, मिथ्या मान्यता है। अज्ञानी के अन्तरंग में झांक कर देखेंगे तो पायेंगे कि वह धर्म उपदेश के बहाने जगत से मान चाहता है। उसे पर को समझाने की भावना है और आत्मा की भावना नहीं है।

भाई ! आत्मा में एकाग्रता का अभ्यास ही मोक्ष का कारण है। इसके सिवाय पर के अवलम्बन से सुनना/मनन करना व धारण करना मोक्ष का कारण नहीं है। वह सब तो मात्र विकल्प है, राग है। तथा राग से संवर-निर्जरा रूप धर्म मानना मिथ्यादर्शन है। वह तो राग का ही अभ्यास है, आत्मा का अभ्यास नहीं है।

अरे भाई ! सुनना या सुनाने का रागभाव आत्मा नहीं है। आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावी है। ऐसा जानकर, पहचानकर अन्तर्मुखी हो आनन्दस्वरूप का अनुभव कर ! ज्ञायकस्वभाव में जितनी एकाग्रता करेगा उतना ही तेरा हित है और वही मोक्ष का कारण है। वाणी व वाणी की ओर का विकल्प तुझे शरणभूत नहीं है।

यद्यपि तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि गणधरदेव भी सुनते हैं, तथापि उस वाणी को सुनने का विकल्प भी राग ही है। मात्र राग रहित वीतरागी लीनता ही धर्म है, वही वीतरागी लीनता मोक्ष का कारण है।

देखो तो सही ! भगवान कहते हैं कि मेरी दिव्यध्वनि की ओर झुकनेवाला गणधरों का विकल्प भी राग ही है। उसमें आत्मा का हित नहीं है। आत्मा का हित तो अपने ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होने में ही है। अतः हम अपने ज्ञायकस्वभाव में अन्तर्मुख होकर उसी की श्रद्धा, ज्ञान व लीनता करने का पुरुषार्थ करें। इसी में हमारा हित है।

* * *

श्लोक ८२

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥ ८२॥

अन्वयार्थ :-(देहात् आत्मानं व्यावृत्य) देह से आत्मा का भेदज्ञान करके, भिन्न अनुभव में लेकर **(आत्मनि)** आत्मा में **(तथैव)** इस प्रकार **(भावयेत्)** भावना करो, **(यथा पुनः)** जिससे फिर से **(स्वप्नेऽपि)** स्वप्न में भी **(देहे आत्मानं न योजयेत्)** देह में आत्मा को न लगा दे। अर्थात् शरीर में पुनः आत्मबुद्धि न हो।

तात्पर्य यह है कि - आत्मा को शरीर से भिन्न जानकर तथा आत्मा को आत्मा रूप से ही जानकर उसमें अपनेपन की ऐसी दृढ़ धारणा करो कि जिससे पुनः देह को आत्मा मानने का अध्यवसाय ही न हो।

स्व-पर को भिन्न जानने का चिह्न तो ज्ञान-वैराग्य शक्ति है। भेदज्ञान की भावना से यह वैराग्यभाव (पर पदार्थों में उपेक्षाभाव) यदि श्रद्धा व ज्ञान में नहीं हो सका तो वह भावना कार्यकारी नहीं होगी, सार्थक नहीं होगी। अतः ज्ञानी तो शरीरादि पर पदार्थों के प्रति सदा दृढ़ भावना से उपेक्षा भाव वर्तता है।

श्लोक ८२ पर प्रवचन

भिन्न आत्मा की भावना ऐसी दृढ़ करो कि फिर स्वप्न में भी देह का सम्बन्ध न हो। आत्मा में अन्तर्मुख होकर देह से भिन्न आत्मा को ऐसा भाओ कि जिससे पुनः देह के साथ स्वप्न में भी आत्मा का सम्बन्ध न हो। 'मैं देह से जुदा चैतन्यबिम्ब होकर अनन्त सिद्धभगवन्तों के बीच बैठा हूँ' - इस भावना को ऐसा नचाओ कि सदैव ऐसे-ऐसे ही स्वप्न आयें।

यहाँ वाणी से या विकल्प से यह बात करने की नहीं है, यह तो अन्तर में, आत्मा में एकाग्र होकर भावना करने की बात है। देह से भिन्नता

की जो बात कही, उसका अर्थ आत्मा को न केवल देह से भिन्न जानना, बल्कि रागादि से भी आत्मा को भिन्न समझना तथा ऐसी ही भावना भाना।

समयसार में आचार्य देव ने जैसा एकत्व-विभक्त आत्मा का वर्णन किया है, वैसी ही भावना भाने की यहाँ बात है। पहले स्वयं एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वानुभव करके उसकी भावना करना। मूढ़बुद्धि जीव जब शरीर को ही धर्म का साधन मानता है तो वह शरीर से भिन्न आत्मा को कहाँ से/कैसे भायेगा? ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरा आत्मा देह से अत्यन्त भिन्न, शान्ति का धाम है।

'यह देह मैं हूँ' ज्ञानी की ऐसी एकत्वबुद्धि स्वप्न में भी नहीं है। इस कारण वह स्वप्न में भी आत्मा को देह के साथ नहीं जोड़ता। आत्मा में ही श्रद्धा-ज्ञान का जुड़ान करके आत्मा की ही भावना भाता है। भेदज्ञान से निरन्तर यही भावना करना ही मोक्ष का कारण है।

* * *

श्लोक ८३

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ ८३॥

अन्वयार्थ :-(अव्रतैः) हिंसादि पाँच अव्रतों से **(अपुण्यं)** अपुण्य अर्थात् पाप होता है। और **(व्रतैः)** अहिंसादि व्रतों से **(पुण्यं)** पुण्य होता है। **(तयोः)** दोनों के **(व्यय)** नाश से **(मोक्षः)** मोक्ष होता है। **(ततः)** इसकारण **(मोक्षार्थी)** मोक्षाभिलाषी पुरुष **(अव्रतानीव)** अव्रतों के समान **(व्रतान्यपि)** व्रतों को भी **(त्यजेत्)** छोड़े।

श्लोक ८३ पर प्रवचन

अव्रतों से पाप तथा व्रतों से पुण्य होता है और दोनों के नाश से मोक्ष होता है। इसलिए मोक्षार्थी जीव अव्रतों की भाँति ही व्रतों का भी त्याग करते हैं।

देखो, इस प्रकरण में पूज्यपाद स्वामी स्पष्ट कह रहे हैं कि व्रतों का शुभ राग पुण्यबंध का कारण है। वह मोक्ष का कारण नहीं है, इसलिए मोक्षार्थियों को तो वह भी छोड़ने योग्य ही है। यद्यपि अपनी-अपनी भूमिका में अव्रत छोड़कर व्रतों का शुभराग धर्मी जीवों को आता है, यह जुदी बात है; परन्तु यदि उन व्रतादि के शुभ भावों को हेय न मानें और उनसे लाभ होना मानें तो उससे तो श्रद्धा ही उल्टी हो जायेगी। जो कि मिथ्यात्व का कारण है। मिथ्यादृष्टियों को तो यथार्थ व्रत भी नहीं होते।

वास्तविकता तो यह है कि भेदज्ञान के बाद ही धर्मी को व्रतादि धारण करने का भाव आता है। धर्मी जीव जानते हैं कि जिस तरह मैंने अव्रतरूप अशुभ भावों को छोड़ा उसी प्रकार जब मैं इन शुभ के विकल्पों को भी छोडूँगा और शुद्धभाव रूप वीतराग परिणति को प्राप्त होऊँगा तभी मुक्ति की प्राप्ति होगी। ये व्रत के विकल्प मेरे लिए मुक्ति के हेतुभूत नहीं हैं।

देखो, जिसतरह भावपाहुड़ की ८३वीं गाथा में भी भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने स्पष्ट कहा है कि व्रतादि में पुण्य है और धर्म उससे जुदी वस्तु है। उसी प्रकार यहाँ पूज्यपाद स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि मोक्षार्थियों को, अव्रत की तरह ही व्रत भी छोड़ने योग्य हैं। क्योंकि व्रत के विकल्प पुण्य बंध के कारण हैं। वे मोक्ष के कारण नहीं हैं।

अहो ! सभी मुनिवरों ने एक ही बात कही है। जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा ही सभी संतों ने प्रसिद्ध किया है। संतों के द्वारा इतना स्पष्ट रूप से समझाने पर भी राग की रुचि से हठात् ही जीव ऐसा अंधा हो गया है कि उसे सत्य स्वरूप दिखाई ही नहीं देता।

श्री मद् राजचन्द्र कहते हैं कि —

'बीत्यो काल अनन्त ते कर्म शुभाशुभ मांय।
तेह शुभाशुभ छेदतां उपजे मोक्ष स्वभाव ॥'

देखो, यहाँ ऐसा नहीं कहा कि शुभ करते-करते मोक्ष होता है। किन्तु यह कहा है कि शुभ - अशुभ दोनों के छेदन से मोक्ष होता है। धर्मात्मा जहाँ चैतन्य स्वभाव में एकाग्र होकर आनन्द में लीन हो जाता है, वहाँ व्रतादि के शुभ विकल्प भी छूट जाते हैं और मुक्ति हो जाती है। इसलिए अन्तरात्मा व्रतादि के विकल्पों को भी छोड़कर वीतरागी स्वरूप में ठहरने की भावना भाता है। शुभभाव से भी पार वीतराग भाव को परम उदासीनता कहते हैं और वह वीतराग भाव ही मोक्ष का कारण है। 'रागी जीव तो कर्मों से बंधते हैं तथा विरक्त जीव ही कर्मों से छूटते हैं।' यह जैन धर्म का महान सिद्धान्त है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि 'यदि ऐसा कहोगे कि व्रत मोक्ष का कारण नहीं है तो लोग व्रत छोड़कर क्या अव्रती नहीं हो जायेंगे ?'

उससे कहते हैं कि अरे भाई ! यहाँ यह बात ही कहाँ है ? जहाँ व्रतों के शुभ भावों को ही मोक्ष का कारण मानने का निषेध किया हो, वहाँ अव्रत के अशुभ अर्थात् पापरूप परिणामों को उपादेय कैसे माना जा सकता है ? जो व्रत छोड़कर अव्रत में जाकर अपना अधःपतन करे, वह तो महापापी ही है। यहाँ व्रतों के शुभभावों को भी छोड़कर वीतराग

रूप शुद्ध भावों से ऊपर-ऊपर चढ़ने की बात है। कोई स्वच्छन्दी होकर गिरे तो इसमें कथन करने वालों का क्या दोष है? वह अज्ञानी मोक्ष के उपाय को तो जानता नहीं है। अरे भाई ! अव्रत व व्रत दोनों प्रकार के राग से रहित होकर वीतराग भाव से आत्मस्वरूप में ठहरना ही मोक्ष का कारण है। धर्मी ऐसा जानते हैं। इसलिए वे व्रत व अव्रत दोनों ही विकल्पों को छोड़ने योग्य मानते हैं।

प्रथम, अव्रत को छोड़कर व्रत धारण करने के विकल्प आते हैं। किन्तु उसी समय वह धर्मी शुद्धात्मा को उन दोनों विकल्पों से भिन्न जानता है। यदि वह ऐसा न जाने-माने, और शुभ विकल्पों को मोक्ष का कारण माने तो उन विकल्पों को छोड़कर स्वरूप में कैसे ठहरे ? धर्मी तो पहले से ही समस्त विकल्पों से अपने आत्मा को भिन्न जानता है।

धर्मी ऐसा मानता है कि जिसतरह अव्रत के अशुभ भाव बंध के कारण हैं, उसीप्रकार व्रत के शुभ भाव भी बन्ध के कारण हैं। वे भी आत्मा की मुक्ति में बाधक हैं। जैसे लोहे की बेड़ी पुरुष को बन्धन करती है। उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बन्धन करती है। पुण्य जो कि आत्मा की मुक्ति में बाधक रूप है - विघ्नरूप है, तो भी जो उसे मोक्ष का कारण मानता है वह मिथ्यादृष्टी है। क्योंकि वह बंध के कारण को मोक्ष का कारण मानता है। वस्तुतः वह बंध व मोक्ष के स्वरूप को नहीं जानता।

अज्ञानी कहता है कि - व्रतादि व्यवहार करते-करते मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। उससे कहते हैं कि भाई ! व्रतादि व्यवहार तो मुक्ति में विघ्न करनेवाले हैं। यद्यपि साधक को निचली अवस्था में भूमिकानुसार व्रतादि का राग छूटता नहीं है, किन्तु उस राग को वह बाधक रूप जानता है उसे साधक रूप नहीं मानता। जबकि अज्ञानी राग को साधक रूप जानता है, इस कारण उसकी तो श्रद्धा ही खोटी है।

मोक्षार्थी जीवों को तो रागादि भाव बन्ध के कारण मानकर छोड़ने योग्य ही है। समाधि तो एक वीतराग भाव से होती है। इसलिए मोक्षार्थी जीवों को अव्रत की तरह व्रत भी छोड़ने योग्य ही हैं।

* * *

श्लोक ८४

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ :-प्रथम **(अव्रतानि परित्यज्य)** हिंसादि पाँच अव्रतों को छोड़कर **(व्रतेषु परिनिष्ठतः)** अहिंसादि व्रतों में निष्ठावान बनकर उनका पालन करें। तत्पश्चात् **(आत्मना परमं पदं)** आत्मा के परम वीतराग पद को **(संप्राप्य)** भलीप्रकार प्राप्त करके **(तानि अपि त्यजेत्)** उन्हें भी छोड़ देवें।

तात्पर्य यह है कि प्रथम तो पापी जीव हिंसादि पापों का त्याग करने के लिए अहिंसादि पाँचों व्रतों का पालन करने की प्रतिज्ञा लेवें। उन्हें दृढ़ता से पालें, अहिंसादि रूप आचरण करें। तत्पश्चात् अपने परम पद को प्राप्त करने के लिए, वीतरागी बनने के लिए अपने निज शुद्धात्मा का आश्रय लेकर उन शुभभावरूप अहिंसादि के विकल्पों को भी छोड़कर वीतरागता रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त करें।

श्लोक ८४ पर प्रवचन

अव्रत अशुभ भाव है तथा व्रत शुभ भाव है। दोनों आस्रव हैं। अतः ये दोनों ही छोड़ने लायक हैं। ऐसी श्रद्धा अन्तरात्मा ज्ञानी जीवों को होती तो है, परन्तु ज्ञानी भी इन दोनों को एक ही साथ नहीं छोड़ सकते। प्रथम अशुभभाव (पाप भाव) छोड़कर शुभ भाव में प्रवृत्ति होती है, किन्तु वे इनमें भी पूर्ण तन्मय नहीं होते; अतन्मय भाव से रहते हुए शुभ भाव में वर्तते हैं। तत्पश्चात् आत्मसन्मुखता का पुरुषार्थ बढ़ने पर वीतरागी पद की प्राप्ति हेतु शुभभाव को भी छोड़ देते हैं।

जब तक सम्यग्दृष्टी शुद्धोपयोग रूप परिणमित नहीं होते, तब तक वे अशुभ से बचने के लिए व्यवहार पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम, शीलादि

शुभ भाव में रहते ही हैं, परन्तु वे उन्हें धर्म नहीं मानते, उपादेय बुद्धि भी नहीं रखते।

यद्यपि दोनों ही छोड़ने लायक हैं, पर उनके छोड़ने का क्रम कैसा होता है यह बात इस श्लोक में कही गई है। अव्रत और व्रत दोनों से ही अपने भगवान आत्मा को भिन्न पहचान कर, सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करके पश्चात् उसी में स्थिरता के उद्यम द्वारा धर्मी पहले तो अव्रतों को छोड़कर व्रतों का पालन करते हैं। अर्थात् जब तक चैतन्य में विशेष स्थिरता नहीं है तब तक ऐसा शुभ राग रहता है। पश्चात् शुद्धोपयोग की वृद्धि होने पर स्वरूप में लीन होकर वे व्रतों का भी राग छोड़कर आत्मा के परम-पद को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अव्रतों की भाँति व्रतों का भी त्याग कर के शुद्धोपयोग द्वारा अन्तरात्मा मुक्ति प्राप्त करते हैं।

पहले अव्रतों को छोड़कर व्रतों को धारण करने का भाव आता है। तब धर्मी बुद्धिपूर्वक व्रतों का पालन करते हैं। ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो धर्मी को व्रतों के राग को पालन करने की भावना नहीं है। उसे तो एकमात्र शुद्धोपयोग की ही भावना है। अतः वह व्रतों के विकल्प को भी छोड़कर शुद्धोपयोग में स्थिर होने की भावना करता है।

जब तक व्रत के विकल्प हैं तब तक मुक्ति नहीं होती। तथा जब तक व्रतों के विकल्प से लाभ मानता है, तब तक तो मिथ्यात्व से भी मुक्ति नहीं होती।

व्रतों का शुभ राग भी मोक्ष का कारण नहीं है, बल्कि यह शुभ राग तो मोक्ष प्राप्ति में बाधक है, इस कारण छोड़ने लायक है। हाँ, ध्यान रहे, उपदेश सदा ऊपर चढ़ने को दिया जाता है। अतः शुभ को हेय सुनकर शुभ को छोड़, अशुभ में जाना योग्य नहीं है। शुभ को छोड़कर शुद्धोपयोग

में जाने के लिए शुभ को हेय कहा गया है, न कि अशुभ में जाने के लिए।

सर्वप्रथम ऐसे यथार्थ वस्तु स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव में ही है। राग में मोक्षमार्ग नहीं है। बाद में अशुभ हो या शुभ, सभी प्रकार का राग हेय ही होता है - ऐसा निश्चय करना चाहिए। भले वह राग अरहंत व सिद्ध भगवान की भक्ति का ही क्यों न हो? है तो आखिर राग ही न? इसलिए जो भगवान जिनेन्द्र द्वारा निरूपित इस सत्य तथ्य को समझेगा, उसे ही वीतराग भगवान के प्रति सच्ची भक्ति जागृत होगी।

* * *

श्लोक ८५

यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षा जालमात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ :- (अन्तर्जल्प संपृक्तं) अंतरंग में जल्प युक्त **(यत्उत्प्रेक्षाजालं)** जो विकल्प जाल है, वह **(आत्मनः दुःखस्य मूलं)** आत्मा के दुःख का मूल कारण है। **(तन्नाशे)** उस विकल्प जाल का नाश होने पर **(इष्टं परमं पदं शिष्टम्)** हितकारी परम पद की प्राप्ति होती है।

श्लोक ८५ पर प्रवचन

अंतरंग जल्प अर्थात् मन में उठनेवाले रागादि विकल्पों का कल्पना जाल संसारी आत्मा के दुःख का मूल है। उन मानसिक विकल्पों का नाश होने पर ही परम वीतराग पद की प्राप्ति हो सकती है।

हिंसादि अव्रतरूप अशुभ विकल्प और अहिंसादि व्रत रूप शुभ विकल्प - दोनों ही प्रकार के विकल्प राग-द्वेष रूप होने से आत्मस्वरूप के घातक हैं। भगवान की पूजा-भक्ति, अणुव्रत-महाव्रतादि तथा तप आदि करने के भाव भी शुभ विकल्प हैं। इन समस्त शुभाशुभ विकल्पों से हट कर उपयोग जब आत्मस्वरूप में स्थिर हो तब ही परम वीतराग पद की प्राप्ति होती है।

आत्मा को शुभाशुभ योग से रोककर, दर्शनज्ञान में स्थित होकर, अन्य वस्तुओं की इच्छा से विराम लेकर, सर्वसंग से रहित होकर जो अपने आत्मा को अपने ही द्वारा ध्याता है; कर्म व नोकर्म को नहीं ध्याता; स्वयं चेतयिता होने से - ज्ञाता-दृष्टा होने से एकत्व का ही चिन्तवन करता है, अनुभव करता है, वह आत्मा दर्शनज्ञानमय तथा अनन्यमय हो अल्पकाल में ही कर्म से रहित होकर आत्मा को प्राप्त करता है।

व्रत व अव्रत दोनों के त्याग का क्या फल है? ऐसा प्रश्न पूछने पर आचार्यदेव ने इस श्लोक में कहा है कि इन दोनों के त्याग से आत्मा को परम पद की प्राप्ति होती है।

अन्तर में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों का जो कल्पना जाल है, वही आत्मा के दुःख का मूल है। चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता से संकल्प - विकल्पों का नाश करने पर अपने प्रिय हितकारी परमपद की प्राप्ति होती है।

संत कहते हैं कि 'निर्विकल्प रस पीजिए' अर्थात् अपने चिदानन्द मय परम अतीन्द्रिय स्वरूप का निर्विकल्प वेदन करना ही आनन्द है। तथा उस स्वरूप से बाहर जितने भी संकल्प-विकल्प हैं, वे सब दुःख के कारण हैं। जो अन्तर्मुख होकर निर्विकल्प होता है, वही परमपद को प्राप्त करता है। जो चैतन्यस्वरूप को चूककर संकल्प-विकल्पों को अपनाता है, वह परमपद को नहीं पाता।

किसी भी प्रकार के रागभाव से आत्मा का लाभ मानना तो विष से बुझी तलवार को पेट में भौंकने जैसा दुःखदाई व अपघातक है। आत्मा का चिदानन्द स्वभाव ही आनन्द का मूल है। तथा उस स्वभाव से बाहर आने पर जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठतीं हैं, वे सब आकुलता जनक हैं।

चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर एकमात्र परमवीतरागी आनन्द का वेदन करना ही परम इष्ट है। वही हमारे लिए हितकर है, वही हमारा प्रियपद है, वही सुन्दर है। इसके सिवाय सभी राग की वृत्तियाँ दुःखदायक हैं।

यह भगवान आत्मा इन्द्रियों से पार अतीन्द्रिय है, विकल्पों से पार निर्विकल्प स्वरूप है, चिदानन्दमय है। ऐसे अपने आत्मा को भूलकर बाह्य-विषयों की ओर के झुकाव से जो संकल्प-विकल्प होते हैं, अज्ञानी

उन्हीं में फंस रहा है। परन्तु यहाँ तो इस सबके बावजूद यह कह रहे हैं कि चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान होने के बाद भी अस्थिरता से जो व्रतादि के विकल्प उठते हैं, वे भी आकुलता रूप हैं, बंध के कारण हैं, दुःख के कारण हैं। ऐसा जीव भले ही सीधी रीति से बाह्य-विषयों में नहीं प्रवर्तता है, परन्तु अन्दर में यदि संकल्प-विकल्प होते हैं तो वे भी दुःख रूप हैं।

संकल्प-विकल्पों के सर्वथा छूटने के पहले इस बात का निर्णय करना चाहिए कि अहो ! मेरी शान्ति व आनन्द तो मेरे आत्मा के अनुभव में ही है; संकल्प-विकल्पों में मेरी शान्ति नहीं है; साधक दशा में व्रत-तप के विकल्प आते तो हैं, परन्तु उन्हें छोड़कर स्वरूप में ठहरूँगा, तभी मुझे पूर्णानन्द की प्राप्ति होगी। यदि ऐसा निर्णय न करे तथा संकल्प-विकल्पों से लाभ माने तो वह अज्ञानी है। इष्ट पद क्या है ? इसकी उसे खबर नहीं है। उसने तो राग को ही इष्ट मान रखा है। इसके विपरीत ज्ञानी तो अपने चैतन्यपद को ही इष्ट समझता है। तथा अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़कर - दोनों पर से अपने उपयोग को समेटकर चिदानन्द-स्वरूप में लीनता से परम इष्टपद को प्राप्त कर लेता है।

जबतक जीव संकल्प-विकल्पों के जाल में फँसा रहे, तब तक उसे परम-सुखमय इष्टपद की प्राप्ति नहीं होती। जब जीव अन्तर के संकल्प-विकल्प के समस्त जाल को तोड़कर स्वयं अपने चैतन्य-चमत्कार रूप विज्ञानघन आत्मा में लीन होता है, तब ही अनन्तसुखमय परमपद की प्राप्ति होती है।

* * *

श्लोक ८६

अव्रती व्रतमादाय, व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञान सम्पन्नः, स्वयमेव परो भवेत्॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ :-(अव्रती) हिंसादिक पाँचों पापों में अनुरक्त अव्रती मानव **(व्रतमादाय)** अहिंसादि पाँचों व्रतों को ग्रहण करके, **(ज्ञानपरायणः)** ज्ञानस्वभाव में लीन होकर अर्थात् व्रतावस्था में हुए विकल्पों का भी नाश करके अरहंत अवस्था में **(परात्मज्ञान सम्पन्नः)** केवलज्ञान से युक्त होकर **(स्वयमेव)** स्वयं ही **(परः भवेत्)** सिद्धस्वरूप को प्राप्त करता है।

निम्नांकित चार बोलों से इस बात को और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

१. सर्वप्रथम अव्रत अवस्था में हुए विकल्पों को अहिंसादि व्रतों के द्वारा नष्ट करना।
२. तत्पश्चात् व्रती अवस्था में अहिंसादि शुभभावरूप जो विकल्प होते हैं, ज्ञानपरायण होकर उनका नाश करना।
३. फिर ज्ञानस्वभाव में लीन होने पर परम वीतराग तथा केवलज्ञान युक्त जिन-दशा प्रकट हो जाती है।
४. तब स्वयं ही सिद्धपद की प्राप्ति हो जाती है।

श्लोक ८६ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् सबसे पहले अव्रती व्रतों को ग्रहण करके अव्रत संबंधी विकल्पों का नाश करता है। इसके बाद ज्ञानपरायण होकर - ज्ञानस्वभाव में लीन होकर, व्रत सम्बन्धी विकल्पों का भी नाश करता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव में लीनता द्वारा वह जीव स्वयं परमात्मज्ञान सम्पन्न अर्थात् केवलज्ञान सम्पन्न परमात्मा हो जाता है।

यह सम्यग्दर्शन होने के बाद की बात है। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे तो अव्रतों का त्याग होता ही नहीं है। उसे तो अंशमात्र भी समाधि नहीं होती। जिसको अपने ज्ञानानन्द स्वरूप का सम्यक् भान नहीं है, वह किसमें एकाग्र होकर संकल्प-विकल्पों का त्याग करेगा ? जितने अंश में चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता होती है, उतने अंश में ही समाधि होती है। देखो न ! केवली भगवान के परिपूर्ण अनन्त सुख रूप समाधि है। मुनिदशा में जो व्रतादि विकल्प उठते हैं, उतनी उनके असमाधि है। समकिती को जो अव्रत के विकल्प उठते हैं, वह विशेष असमाधि है। तथा मिथ्यादृष्टी के तो घोर असमाधि ही है। जिसको जितनी असमाधि है, उसको उतना दुःख है। केवली भगवन्तों को परिपूर्ण समाधि है, अतः अनन्तसुख है।

चौथे गुणस्थान में अव्रत सम्बन्धी विकल्प होते हुए भी श्रद्धा की अपेक्षा से तो समकिती ज्ञानपरायण ही है, विकल्प परायण नहीं है; वह विकल्पों से लाभ नहीं मानता।

प्रथमतः, अव्रतों का त्याग करके व्रती होने की बात कही; इस कारण यदि कोई ऐसा मानले कि 'सम्यग्दर्शन भले न हो, फिर भी व्रत तो ले ही लेना चाहिए, सम्यग्दर्शन बाद में होता रहेगा' तो उसका यह मानना मिथ्या है। ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टियों को जैन शासन की परिपाटी की भी खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन के बिना तो कभी व्रत होते ही नहीं हैं। तथा अव्रत भी छूटते नहीं हैं। पहले मिथ्यात्व छूटता है, बाद में अव्रत छूटते हैं। तदनन्तर जीव अन्तरात्मा होकर व्रत-अव्रत के विकल्पों से भी परे परमात्म दशा प्राप्त करता है। अन्तरात्मा होने के बाद ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन होने से ही परमात्म दशा प्रगट होती है तथा सिद्धपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार ज्ञान भावना ही मोक्ष का कारण है। व्रतादि विकल्प मोक्ष के कारण नहीं हैं।

* * *

श्लोक ८७

लिंग देहाश्रित दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तेस्मात्ते ये लिंग कृताग्रहाः ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ :- (लिंग) नग्नता आदि भेष, **(देहाश्रित दृष्टं)** देह के आश्रित दिखाई देते हैं। **(देहः एव आत्मनः भवः)** देह ही आत्मा का संसार है, **(तस्मात्)** इसलिए **(ये लिंग कृतागृहाः)** जो लिंग (भेष) के ही आग्रही हैं, **(ते पुरषाः)** वे पुरुष **(भवात् न मुच्यन्ते)** संसार से मुक्त नहीं होते।

भावार्थ :-लिंग (भेष) देहाश्रित है तथा देह में आत्मबुद्धि ही संसार है। इसकारण जो देहाश्रित लिंग में अथवा रागादि में ममत्वबुद्धि करते हैं वे संसार से नहीं छूटते।

श्लोक ८७ पर प्रवचन

अन्तरंग में आत्मा के वीतरागस्वरूप धर्म प्रगट हुए बिना मात्र देहाश्रित लिंग अर्थात् बाह्य भेष मात्र से जो स्वयं को धर्मात्मा मान लेता है, केवल बाह्य भेष को ही मोक्ष का साधन मान लेता है, उसे सच्चे धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

यद्यपि शरीर की नग्नता, अट्ठाईस मूलगुणों का निरतिचार पालन आदि बाह्य लिंग मुनि अवस्था में नियम से होते हैं। यदि ऐसा न हो तो भाव लिंग भी सच्चा नहीं हो सकता। दोनों का सहज निमित्त नैमित्तिक संबंध है, परन्तु जो अकेले बाह्य लिंग से मोक्षमार्ग माने, वह मिथ्यादृष्टि है। लिंग सम्बन्धी विकल्प भी आत्म साधना में बाधक हैं।

समयसार में आचार्य देव कहते हैं कि जब आत्मा के देह ही नहीं है तो फिर देह अथवा देहाश्रित भाव मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? पंच महाव्रतादि मुनिलिंग को तथा अणुव्रतादि के शुभभाव रूप गृहस्थ लिंग को आत्मा का स्वरूप मानकर अज्ञानी इसे मोक्षमार्ग मानता है, परन्तु

वह लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि अरहंत भगवान देह के प्रति निर्ममत्व वर्तते हुए लिंग को (महाव्रतादि के विकल्पों को) छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं। भगवान ने तो शुद्धज्ञान की उपासना से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग का ही सेवन किया तथा उसी का उपदेश दिया। द्रव्यलिंग तो शरीराश्रित होने से परद्रव्य है, इस कारण वह मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि ये ही आत्माश्रित है। इसलिए हे भव्य ! तू बाह्य लिंग का ममत्व छोड़कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग में ही आत्मा को जोड़। परन्तु ध्यान रहे, मोक्ष प्राप्त करनेवालों को मुनिदशा में शरीर की दिगम्बर दशा ही होती है - यह तो अकाट्य नियम है। ऐसा जानना-मानना यह किसी का आग्रह नहीं है, यह तो वस्तुस्थिति है। हाँ, जो अन्तरंग के चैतन्यतत्त्व, की आराधना तो करता नहीं है, और शरीर की दिगम्बर दशा मात्र को ही मोक्ष का कारण मानता है, उस जीव के लिंगकृत आग्रह है। जब शरीर सम्बन्धी विकल्प छोड़कर स्वरूप में स्थिर होगा, तभी मुक्ति होगी।

देह तो संसार है। अशरीरी सिद्धदशा के समक्ष संसार का आधार (निमित्तापेक्षा) शरीर है। जिसको शरीर का ममत्व है, जो शरीर को ही धर्म का साधन मानता है, वह जीव शरीर से नहीं छूट सकता तथा अशरीरी सिद्ध पद को नहीं पा सकता।

जो वस्त्र-पात्र वगैरह परिग्रह सहित दशा को मुनि दशा मानते-मनवाते हैं, उनकी तो मोक्षमार्ग के निमित्तों में ही भूल है। उन्हें तो मुनिपद की प्राप्ति त्रिकाल सम्भव ही नहीं है। जिनको मोक्ष का साधन माने उनका ममत्व कैसे छोड़ सकता है ? यह पूर्णतः सत्य है कि मुनि दशा में शरीर नग्न ही होता है। परन्तु मुनिपना नग्न शरीर के आश्रित नहीं है। मुनि दशा तो शुद्धात्मा के आश्रय से होती है। जो शुद्धात्मा को नहीं जानता, उसके मुनि दशा नहीं होती।

यहाँ कोई कुतर्क कर सकता है कि जब देह के आश्रय से मोक्षमार्ग होता ही नहीं है तो फिर शरीर नग्न हो या वस्त्र सहित हो उससे तुम्हें क्या ?

उसके उत्तर में कहते हैं कि भाई ! निमित्तों का भी कार्य के सम्पन्न होने में सहज सुमेल होता है। भले ही वे कार्य के कर्ता न हों, तो भी सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है। जिस दशा में जिस वस्तु का राग नहीं होता, वह वस्तु भी संयोग में नहीं होती।

जिन मुनिराजों के अंतरंग में परिग्रह का भाव नहीं है, उनके बाहर में भी वस्त्रादि का परिग्रह नहीं होता। राग के छूटते ही उसके निमित्त भी सहज ही छूट जाते हैं। अतः मुक्ति में मुनि दशा (दिगम्बर शरीर) निमित्त रूप में ही होता है। अरहंत भगवान ने भी देहाश्रित लिंग के विकल्प को छोड़कर रत्नत्रय की आराधना के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त की है। इसलिए यही मुक्ति का मार्ग है, लिंग मुक्ति का मार्ग नहीं है। ऐसा निःशंक जानना।

* * *

श्लोक ८८

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ :- (जातिः देहाश्रिता दृष्टा) जाति शरीर के आश्रित देखने में आती है। **(देहः एव आत्मनः भवः)** देह में आत्मबुद्धि ही जीव का संसार है। **(तस्मात्)** इस कारण **(ये जातिकृताग्रहः)** जिसको मुक्ति की प्राप्ति हेतु जाति का हठाग्रह है **(ते अपि भवात् न मुच्यन्ते)** वे भी संसार से मुक्त नहीं होते।

भावार्थ :- ब्राह्मण-वैश्य आदि जातियाँ देहाश्रित हैं, तथा देह में आत्मबुद्धि ही संसार है। और जो जाति को मुक्ति का कारण मानते हैं, वे संसार से नहीं छूटते। क्योंकि वे संसार के आग्रही हैं।

श्लोक ८८ पर प्रवचन

मुनि होने के लिए आगम में जिसप्रकार की जाति का विधान है, तदनुसार ही सच्चा मुनिपना होगा; उसी में मुनि होने की पात्रता होगी। अतः इस विषय में आगम को ऊर्ध्व रखकर ही, आगम के अनुसार ही मुनि दीक्षा होनी चाहिए। अतः उस ओर का हठाग्रह छोड़कर आत्म सन्मुख होकर आत्मा में लीन होने से ही मोक्ष होता है। ऐसा यथार्थ निर्णय होना चाहिए। यही बात इस श्लोक का खास विषय है।

जो व्यक्ति जाति को जीव से अधिक महत्त्व देने लगे, उसे कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। भाई ! वणिक या ब्राह्मण - ये आत्मा की वास्तविक जातियाँ नहीं हैं। तेरी सच्ची जाति तो 'चैतन्य' जाति है। चेतना ही तेरा सच्चा स्वरूप है।

धर्मी जानते हैं कि हम तो चैतन्य जाति के हैं, क्षत्रिय वगैरह जातियाँ तो देहाश्रित हैं। देह की जाति मैं नहीं हूँ। चैतन्य ही हमारी उत्तम जाति है। तथा उसी की आराधना करना हमारी उत्तम कुल परम्परा है।

ऐसे भावपूर्वक देह संबंधी जाति और कुल के विकल्प छोड़कर धर्मात्मा अपने चैतन्य स्वरूप की आराधना द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं।

देखो, शरीर की उत्तम जाति या कुल मोक्ष का कारण नहीं है - ऐसा यहाँ कहा है। परन्तु इस कारण यदि कोई कहे कि चाहे स्त्री ही क्यों न हो तो भी मुक्ति हो सकती है सो उसका ऐसा मानना अज्ञान है। उसे भी वस्तु तत्त्व की खबर नहीं है।

जिसप्रकार मात्र शरीर की दिगम्बर दशा मोक्ष का कारण न होते हुए भी मोक्ष प्राप्त करने वालों को निमित्त की अपेक्षा तो दिगम्बर दशा ही होती है। दिगम्बर दशा के सिवाय अन्य कोई दशा से कभी मोक्ष होता ही नहीं है - ऐसा नियम है। उसीप्रकार शरीर की जाति मात्र ही मुक्ति का कारण न होते हुए भी उसी भव से मोक्ष पाने वाले को बाहर शरीर के रूप में पुरुषलिंग और ब्राहम्ण, वैष्णव क्षत्रिय - उत्तम जातियां ही होती हैं - ऐसा ही नियम है। चाण्डालादि की जाति में पैदा हुये जीव में मुक्ति की पात्रता - योग्यता ही नहीं होती है।

'स्त्रीलिंग से मोक्ष नहीं होता, पुरुष लिंग व उत्तम जाति से ही मोक्ष होता है' - ऐसा शास्त्रों में कथन आता है। उसका अर्थ यदि कोई ऐसा समझ ले कि लिंग व जाति ही आत्मा का स्वरूप है और इन्हें ही मोक्ष का साधन माने तथा देहादि से भिन्न आत्मा को व रत्नत्रय को नहीं जाने, तो वह देहबुद्धि वाला होने से अज्ञानी - मिथ्यादृष्टि है। उसे मोक्ष नहीं होता। भले ही वह उत्तम कुल में जन्मा हो और पुरुष हो। यदि सचमुच उत्तम कुल - चैतन्य कुल को न जाने, तो अकेला कुल शरीर का क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता। अतः देह व राग से भिन्न चैतन्य जाति को जानो।

* * *

श्लोक ८९

जातिलिंगविकल्पने येषां च समयाग्रहः।
तेपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥ ८९॥

अन्वयार्थ :- (येषां जाति लिंग विकल्पने) जिनको ऐसा विकल्प व आग्रह है कि अमुक जाति या लिंग से ही मुक्ति होती है, वे भी **(आत्मनः परमं पदं)** आत्मा के परम पद को **(न प्राप्नुवन्ति एव)** प्राप्त नहीं कर सकते।

तात्पर्य यह है कि - जाति व लिंग-दोनों ही देहाश्रित हैं और उनके ओर के विकल्प से नियम से राग ही उत्पन्न होता है और राग संसार है। इसकारण जो ऐसा मानता है कि आगम में उत्तम जाति और अमुक लिंग से मोक्ष होता है, वह अज्ञानी है, हठाग्रही है तथा आगम के स्वरूप से सर्वथा अनजान है।

वीतरागी आगम तो कहता है कि वीतरागता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तथा वीतरागता होने पर बाह्य लिंगादि होते अवश्य हैं, परन्तु उसके आश्रय से मोक्ष नहीं हाता। जाति, लिंग और उस संबंधी विकल्पों से मोक्ष होता है - ऐसा माननेवाले शास्त्रों के ज्ञाता नहीं हैं।

श्लोक ८९ पर प्रवचन

इस गाथा का यदि कोई ऐसा उल्टा अर्थ करे कि - देखो, गाथा में लिखा है कि - जाति व लिंगादि के भेद का आग्रह नहीं करना चाहिए तो उसका ऐसा अर्थ करना अनर्थकारक है; क्योंकि इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि चाहे जिस लिंग व चाहे जिस जाति से मोक्ष होता है। शास्त्रों में निमित के रूप में तो जो निमित कहा है, वही निमित्त होता है; उससे विपरीत नहीं होता । जैसे उत्तम जाति व पुल्लिग को ही मुक्ति का निमित कहा है। और नग्न वेष को ही मुक्ति का निमित कहा है, उत्तम जाति पुल्लिग व नग्नता ही निमित रूप होती है, अन्य नहीं।

हॉ, यह बात जुदी है कि इन जाति, लिंग व वेष का आग्रह नहीं रखना; क्योंकि ये मूलभूत कारण नहीं है, निमित मात्र हैं। इन निमित रूप बाह्य साधनों का आग्रह न रखने को कहा है; क्योंकि वास्तविक यथार्थ साधन तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है अत: इनको यथार्थ जानकार कर इनकी उपासना करना चाहिए।

बहुत लोगों को यह भी निर्णय नहीं होता कि मुक्ति के बाह्य साधन क्या है? इस कारण वे लोग किसी भी जाति, लिंग एवं भेष से मोक्ष मान लेते हैं। उन्हें भी सच्चे मार्ग का पता नहीं है। अत: कहा गया है कि मोक्ष का यथार्थ साधन तो निश्चय रत्नत्रय है और जहां ऐसा निश्चय रत्नत्रय रूप मोक्ष साधन होता है, उसके बाह्य साधन के रूप में नियम से उत्तम जाति, और दिगम्बर पुरुष वेष ही होता है। इसके सिवाय अन्य वेष आदि माने तो उसे तो मोक्ष के बाह्य साधनों की ही खबर नहीं है । तो फिर अन्तरंग सच्चा साधन होगा ही कहॉ से?

मुक्ति के बाह्य साधन के रूप में मुनिदशा में पुरुष लिंग और दिगम्बर वेष ही होता है, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य जाति ही होती है, शुद्र जाति कदापि नहीं हो सकती। ऐंसा आगम में जो कहा है वह यथार्थ है। सच्चा निमित कौन होता है, आगम में इसका ज्ञान कराया है। यदि कोई आगम के इस कथन से ऐसा माने कि ये ही मुक्ति के साधन हैं तो ऐसा मानना भी मिथ्या है। मूल साधन तो रत्नत्रय है। जो निश्चय रत्नत्रय की आरधना करेगा, मुक्ति तो उसे ही मिलेगी। पर साथ में निमित्त का भी ज्ञान अति आवश्यक है।

***

श्लोक ९०

यत्त्यागाय निवर्तन्ते, भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥ ९०॥

अन्वयार्थ :- (यत्त्यागाय) जिससे ममत्व हटाने के लिए और **(यद् अवाप्तये)** जिसको प्राप्त करने के लिए **(भोगेभ्यः)** इन्द्रियों के भोगों से **(निवर्तन्ते)** निर्वृति प्राप्त करता है। **(तत्र एव)** उन इन्द्रियों के भोगों में ही **(मोहिनः)** मोही जीव **(प्रीतिं कुर्वन्ति)** प्रीति करता है। तथा **(अन्यत्र)** वीतराग पद पर **(द्वेषं कुर्वन्ति)** द्वेष करता है।

तात्पर्य यह है कि - शारीरादि पर पदार्थो से ममत्व हटाने के लिए तथा परम वीतराग पद की प्राप्ति के लिए कितने ही जीव विषयभोगों का त्याग करके संयम के साधन अंगीकार करते हैं; परन्तु परोक्ष रूप से मोहवश अज्ञानी उन्हीं शरीरादि इन्द्रियों के विषयों में प्रीति करने लगता है। स्वर्गादि की चाह के रूप में उन्हीं भोगों की चाह करनें लगता है और संयम के साधनों में अरुचि दिखाता है।

श्लोक ९० पर प्रवचन

अज्ञानी जीव जिस शरीर से ममत्व छोड़ने के लिए भोगों को छोड़ता है, अज्ञान से फिर उन्हीं भोगों के त्याग के फल में पुनः शरीर की कामना करने लगता है। तथा जिस परम पद को प्राप्त करने के लिए इतना सब प्रयत्न करता है, उसी से अप्रीति अरुचि और - द्वेष करने लगता है।

वस्तुतः अज्ञानी को अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में आने की तो खबर नहीं है, इसकारण एक प्रकार के इन्द्रिय-विषयों को छोड़कर दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-विषयों में ही प्रवर्तने लगता है तथा अतीन्द्रिय स्वभाव के प्रति अरुचि रूप द्वेष करने लगता है।

इसप्रकार मोही जीव का त्यग वस्तुतः सच्चा त्याग नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष गर्भित ही रहता है।

निर्ममत्व चैतन्य स्वभाव की दृष्टि के बिना देहादिक का ममत्व छूटता ही नहीं है। चैतन्य के भान बिना देह का ममत्व छोड़ने के लिए त्यागी होता है, परन्तु उसको इन्द्रिय के विषय के त्याग-ग्रहण की बुद्धि पड़ी रहती है और अतीन्द्रिय चैतन्य स्वभाव को तो उसने लक्ष्य में लिया ही नहीं है। इस कारण वह मानता है कि - यह बाह्य त्याग ही मुझे मोक्ष का कारण होगा; इसलिए उसको शरीर की दिगम्बर दशा आदि पर राग बना रहता है। इस प्रकार जिसको आत्मा का भान नहीं है, उसको देहादिक की ममता का वास्तविक त्याग होता ही नहीं है। बाह्य भोगों की निर्वृति करके परमात्मपद में प्रीति जोड़ना चाहिए थी, उसके बदले शरीर को मोक्ष का साधन माना, इसतरह प्रकारान्तर से उसने शरीर में ही अपना अस्तित्व मानकर उसी में प्रीति जोड़ी। इसकारण उन मोही जीवों के त्याग का उद्देश्य ही पूरा नहीं हुआ।

ऐसे मोही त्यागियों की अपेक्षा तो निर्मोही गृहस्थ ही उत्तम है - ऐसा आचार्च समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है, क्योंकि वे मोही अज्ञानी जीव बाह्य में त्यागी होकर भी जिसका त्याग करना था, उसमें प्रीति करने लगते हैं और जिसकी प्रीति करनी थी, उसे यथार्थ न जानने से उसमें अरुचि रूप द्वेष करने लगते हैं। इसप्रकार भेद ज्ञान के बिना सच्चा त्याग होता ही नहीं है।

जो बाह्य विषय-भोगों को छोड़कर व्रती हुआ, यदि उसे उन व्रतों के पालन करने में कष्ट का अनुभव होता है, तो उसके अभिप्राय में विषयों में ही सुखबुद्धि है।

वस्तुतः विचार व निर्णय ऐसा होना चाहिए कि - "मैं तो ज्ञान ही हूँ, ज्ञान में ही मेरा अस्तित्व है, मेरे ज्ञान स्वभाव में ही मेरा सुख है तथा बाह्य विषयों में कहीं भी सच्चा सुख नहीं है।"

ऐसा भान होते ही शरीरादि में से सुख बुद्धि छूट जाती है। शरीर के साधन से चारित्र का पालन होगा-ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसका शरीर

के ऊपर का ममत्व छूटा ही नहीं है। - उसने विषयों का त्याग करके भी शरीर में ही ममत्वबुद्धि की। जिसको अन्तर को चैतन्यतत्व का वेदन नहीं है, आनन्द का अनुभव नहीं है, उसको किसी न किसी प्रकार बाह्य विषयों में ममता और सुखबुद्धि का वेदन होता ही रहता है।

तात्पर्य यह है कि उसे भोगों से सच्ची निर्वृति हुई ही नहीं है। इसलिए देहादि से भिन्न आत्मतत्व को जानकर उसमें प्रीति जोड़ना। चैतन्य में प्रीति करके उसी में लीनता करने पर बाह्य भोगों से सहज ही निर्वृति हो जाति है तथा देहादि का भी ममत्व छूट जाता है। इसप्रकार परमपद की प्राप्ति होती है।

* * *

श्लोक ९१

अनन्तरज्ञः संधते, दृष्टिं पंगोर्यथान्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संघते तद्वदात्मनः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ :- (अनन्तरज्ञः) भेद को नहीं जानने वाले पुरुष **(यथा)** जैसे **(संयोगात्)** संयोग के कारण **(पंगोःदृष्टि)** लंगड़े की दृष्टि को **(अन्धके संधते)** अंधे व्यक्ति में आरोपित करता है। **(तद्वत आत्मन दृष्टिं)** उसी प्रकार अज्ञानी आत्मा की दृष्टि को शरीर में **(अंगेऽपि संधते)** आरोपित करता है।

तात्पर्य यह है कि - शरीर और आत्मा के संयोग संबंध के कारण अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि - शरीर की क्रिया जीव करता है। आचार्य इस बात को अंधे व लंगड़े का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। एक अंधा लंगड़े को अपने कंधे पर बिठाकर रास्ते में जा रह है। लगड़ा अंधे को सही रहा पर चलने के लिए इशारा करता है, इस तरह लंगड़े और अंधे का जोड़ा है। मार्ग में चलने के लिए अंधे के पैर व लंगड़े की दृष्टि संयुक्त रूप से काम करती है। इन दोनों की संयुक्त गति के भेद को नहीं जानने वाले कोई मंदबुद्धि ऐसा समझते है कि यह अंधा ही देख-देखकर चल रहा है, परन्तु उसका वह भ्रम है।

ठीक इसीप्रकार आत्मा व शरीर के संयोग संबंध का भेद नहीं जानने वाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की क्रिया को आत्मा की क्रिया समझते हैं।

सभी ऑख से देखते हैं, इसलिए अज्ञानी को यह भ्रम होता है कि शरीर ही देखता है, जबकि जाननहार आत्मा तो शरीर से सर्वथा भिन्न ही। हँसना, चलना, बोलना, आदि समस्त क्रियायें आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा तो मात्र उन सब क्रियाओं को जानने का काम करता है।

देखो, ग्रन्थ के प्रांरभ में कहा था कि - जिसे परम सुख की अभिलाषा है, मैं उनके लिए भिन्न आत्मा का स्वरूप कहूँगा। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा की क्रिया तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप ही है तथा शरीर जड़ स्वरूप है, वह केवल हलन-चलन क्रिया रूप है, शरीर में देखने की क्रिया नहीं है। इसप्रकार आत्मा व शरीर दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। दोनों की क्रियायें भी भिन्न-भिन्न ही हैं। पर अज्ञानी कहता है कि मैंने शरीर की क्रिया की, मैं बोला-ऐसी भ्रमबुद्धि के कारण अज्ञानी शरीरादि बाह्य पदार्थो में ही उपयोग की एकता करता है। शरीर से भिन्न आत्मा में अपने उपयोग को नहीं लगाता। उसे यहाँ समझाते हैं कि 'अरे मूढ़ ! जड़ व चेतन की क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं। तेरी क्रिया तो जानने रूप है, शरीर की क्रियायें तेरी क्रियायें नहीं है। इसलिये तू शरीरादि जड़ के साथ का संबंध तोड़ और चैतन्य स्वभाव के साथ अपना सम्बन्ध जोड़।

यदि कोई ऐसा कहे कि शरीर तो जड़ है, उसे तो कुछ खबर नहीं है। आत्मा ही उसकी क्रियायें करता होगा? उससे कहते है कि नहीं भाई। ऐसा नहीं है। शरीर व आत्मा का संयोग होते हुए भी शरीर अपनी स्वयं की शक्ति से चलता है। उसमें ज्ञान न होते हुए भी वह स्वयं अपनी शक्ति से ही चलता-फिरता है। आत्मा उसे चलाता नहीं है। आत्मा शरीर की क्रिया करता है - ऐसा मानना अज्ञान है।

भाई। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और शरीर जड़रुप है। आत्मा अरूपी है और शरीर रूपी है। दोनों की क्रियायें हैं अत्यन्त भिन्न। ऐसा भेदज्ञान अज्ञानी करते नहीं और इस भेदज्ञान बिना अन्य कुछ आत्मा के लिए शरणभूत नहीं है, अन्यत्र कहीं भी शान्ति और समाधि नहीं है। सुखी होना हो तो एक भेदज्ञान से ही सुखी हो सकते हैं। अतः एकमात्र यही करने योग्य है।

* * *

श्लोक ९२

दृष्टि भेदो यथा दृष्टिं पंगोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेत् देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ :-(दृष्टिभेदः) अन्धे और लंगड़े में भेद जानने वाला व्यक्ति **(यथा पंगोदृष्टि)** जिस प्रकार पंगु की दृष्टि को **(अन्धे न योजयेत्)** अन्धे में आरोपित नहीं करता। **(तथा दृष्टात्मा)** उसीप्रकार - आत्मा और शरीर में भेद जानने वाले अन्तरात्मा **(आत्मनः दृष्टिं)** आत्मा की दृष्टि को **(देहे न योजयेत्)** देह में आरोपित नहीं करते।

अन्धे और पंगु का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि - जिसने दृष्टिवाले पंगू पुरुष एवं दृष्टिहीन अंधे पुरुष के बीच जिस प्रकार अन्तर को जाना है वह पंगु की दृष्टि को अन्धे में आरोपित नहीं करता।

उसीप्रकार जिसने यह जाना है कि आत्मा ज्ञानवान है और शरीर चेतनाहीन है, जड़ है, दोनों में जड़-चेतन का अन्तर है। जानने का काम जीव करता है और शरीर की चेष्टाएं जड़ की है। दानों का भिन्न-भिन्न स्वयप है ऐसा जानने वाला चेतना को जड़ में नहीं मिलाता तथा जड़ को चेतना में नहीं मिलाता। दोनों को भिन्न-भिन्न देखता है। ऐसा भेदज्ञान रखने वाले जीव ही अन्तरात्मा है।

देखो। इन्द्रियों में कुछ भी जानने की ताकत नहीं है। किसी को जाति स्मरण होने पर जो विगत अनेक भवों का ज्ञान हो जाता है वह चक्षु इन्द्रियों से नही होता। वह भी ज्ञान से ही दिखाई देता है। अवधिज्ञानी को यहाँ बैठे-बैठे स्वर्ग-नरक साक्षात् दिखते है,वह भी ऑखों की ताकत नहीं है। ज्ञान की ही जानने की ताकत है। सर्वज्ञ परमात्मा ऑख के आलम्बन बिना आत्मा में ही एकाग्रता से ही समसत जगत को साक्षात् देखत-जानते हैं। जानना इन्द्रियों की क्रिया नहीं है। वह ज्ञान की क्रिया है। धर्मी दोनों को भिन्न-भिन्न पहचानता है।

भाई। शरीर और आत्मा - दोनो अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। संयोग सम्बन्ध में एक क्षेत्र में रहते हुए भी दोनों के स्वभाव के बीच में अत्यन्ताभावरूपी बड़ा भारी पर्वत खड़ा है। एक-दूसरे का अंश भी एक दूसरे में नही मिलता। एक रूपी है, दूसरा अरूपी है - दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। इस भिन्नता को ज्ञानी बराबर जानते हैं। ऐसा जानने वाले धर्मात्मा को शरीरादि में अपनेपन की कल्पना कभी नहीं होती। चेतना रहित जड़ है - ऐसा जानने वाला ज्ञानी अपनी ज्ञानक्रिया को शरीर में नहीं जोड़ता। इन इन्द्रियों से मैं जानता हूं - ऐसा नहीं मानता। इसीप्रकार यह भी नहीं मानता कि - "शरीर की क्रिया मुझसे होती है" शरीर व आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर आत्मा में ही ज्ञान को जोड़ते हैं। आत्मा में ही एकता करते हैं।

भाई। ऐसा नहीं हैं कि अन्दर आत्मा बैठा है, इस कारण देहादि की क्रिया व्यवस्थित होती है, अन्यथा इतनी सुन्दर व्यवस्था नहीं हो सकती थी। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, सो वह शरीरादि क्रियाओं का भी ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्ता-धर्ता नहीं।

* * *

श्लोक ९३ व ९४

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥ ९३ ॥
विदिताशेषशास्त्रोपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिः ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोपि मुच्यते ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ :- (अनात्मदर्शिनाम्) जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है - ऐसे बहिरात्माओं को **(सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव)** सुप्त अवस्था व उन्मत्त अवस्था ही **(विभ्रमः)** विभ्रम रूप लगती है। परन्तु **(आत्मदर्शिनः)** आत्मानुभवी अन्तरात्माओं को तो **(अक्षीण दोषस्य)** मिथ्यात्वादि दोष वाले बहिरात्मा जीव भी **(विभ्रमः)** विभ्रम रूप ही लगते हैं।

(देहात्म दृष्टि) शरीर में आत्मबुद्धि रखन वाले बहिरात्मा **(विदिता शेषशास्त्रः जागृतिः अपि)** सम्पूर्ण शास्त्रों के जानकार जागृत होते हुए भी **(न मुच्यते)** कर्म बन्धन से मुक्त नहीं होते। इसके विपरीत **(ज्ञातात्मा)** ज्ञानी जीव **(सुप्तोन्मत्तोऽपि)** निद्रावस्था में तथा उन्मत अवस्था में होते हुये भी कर्म बन्धन से मुक्त होता है।

श्लोक ९३ व ९४ पर प्रवचन

बहिरात्मा ऐसा मानते है कि - सुप्त और उन्मत अवस्था ही भ्रमरूप है। जागृत अवस्था में उन्हें भ्रम नहीं रहता; पर ज्ञानी तो ऐसा मानते है कि - बहिरात्मा सदैव भ्रमित ही है। भले ही वह कितना भी पढ़ा-लिखा या लौकिक कलाओं में निपुण हो, जागृत हो; तो भी अपने को देहादि रूप माननेवाला होने से वह भ्रम में ही पड़ा हुआ है, मोह से वह उन्मत ही है। जगत की दृष्टि में भले ही चतुर हो, पर ज्ञानी की दृष्टि में तो वह मूर्ख ही है। जिसे अपने आत्मा का भान नहीं है। तथा देह को ही आत्मा मानता है, वह अज्ञानी ही है।

इससे विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा की सभी अवस्थायें भ्रम रहित ही हैं। भले वह बाहर से पागल जैसा दिखाई दे अथवा नींद में हो, तो उस स्थिति में भी ज्ञानी भ्रम रूप नहीं है, किन्तु वह चैतन्यस्वरूप में ही जागृत है। उसे देहादि में आत्मपने का भ्रम नहीं है।

देखो न ! जब सीता का हरण हुआ, तब रामचन्द्रजी उनके वियोग में मूर्च्छित तक हो जाते। पेड़-पौधों से पूछते कि क्या आपने हमारी सीता को देखा है ? उस समय भी वे अज्ञानी नहीं थे, बल्कि ज्ञानी थे। ऐसे समय भी उनके अन्तरंग में ऐसा निःशंक आत्मा का भान रहता है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। सीता व सीता के प्रति राग मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी सर्व अवस्थाओं में भ्रान्ति रहित है। उसे आत्मा के सम्बन्ध में भ्रान्ति नहीं होती।

इसके विपरीत अज्ञानी भले ही स्त्री-पुत्रादि के वियोग में रोये नहीं, तो भी वह उन्मत और भ्रान्तिवाला है। सत्-असत् को भिन्न-भिन्न जाने बिना अर्थात् स्व-पर का भेद ज्ञान हुए बिना पर को अपने रूप ही मानता है।

इसप्रकार अज्ञानी का सम्पूर्णज्ञान व सभी चेष्टायें उन्मत्तवत् ही होती हैं, इस कारण वे मिथ्या हैं।

राग व देह की सब अवस्थायें मेरी हैं - ऐसा अज्ञानी को सम्पूर्ण अवस्थाओं में भ्रम वर्तता है तथा ज्ञानी उन सब अवस्थाओं से अपने आत्मा को भिन्न जानता, मानता है। वह अपने आत्मा को सदैव ज्ञानानन्द स्वभावी ही देखता है। इस कारण वह सब अवस्थाओं में भ्रान्ति रहित ही है।

अन्तरात्मा व बहिरात्मा की पहतचान बाह्य दृष्टि से नहीं हो सकती; क्योंकि अज्ञानी को रागादि की प्रति कूलता अपने पर हो तो वह किंचित् भी चिल्लाहट न करे, चुपचाप शानतभाव से सहले। इससे बाह्य दृष्टि वालों को ऐसा लगे कि यह तो बड़ा ज्ञानी है। किन्तु ज्ञानी कहते है कि

उसकी चेष्टा उन्मत्त पुरुष की भाँति है। तथा ज्ञानी को पीड़ा के समय वह पीड़ा सही न जाये और जोर-जोर से हाय-तौबा मचाये तो देखने वालों को ऐसा लगे कि यह अज्ञानी है; जबकि उस ज्ञानी को वेदना के समय भी ज्ञान स्वभाव पर ही दृष्टि है। वह अपने ज्ञान स्वभाव में निभ्रान्त है। ज्ञानी की ऐसी दशा को अज्ञानी नहीं पहचान सकता।

पण्डित बनारसीदास जब जीवन की अन्तिम सांसें गिन रहे थे, तब अन्तर से उनकी पूरी तरह समाधिमरण की तैयारी थी परन्तु जब असहय वेदना के साथ उनका बोलचाल बन्द हो गया और थोड़ी देर उनके प्राण नहीं निकले तो लोगों ने टीका-टिप्पणी प्रारम्भ कर दी। पता नहीं बेचारे के प्राण किसके मोह में अटके है? जब लोगों की मूर्खता भरी बातें उनके कान में पड़ी तो उन्होने उनकी शंका का निराकरण करते हुए एक स्लेट पट्टी पर यह लिखा 'हमने भेदज्ञान रुपी कटार से मोहरुपी शत्रु को मार दिया है। अनन्त सुख से भरा निजस्वरूप हमको प्रगट हो गया है। अब हमारे इस शरीर पर्याय का यानि भव-भ्रमण करने का अन्त निश्चित जानना। अब हम यह देह छोड़कर जा रहे हैं, अब इस अज्ञानमय संसार में पुन: कभी नहीं आवेंगे।

देखो, ऐसी होती है ज्ञानी की दशा। बाहर से देखने वालों को ऐसा लगे कि यह मूर्च्छित है, परन्तु अन्दत से उसका ज्ञान जागृत है। इस बात को अज्ञानी नहीं जानता।

शिष्य पूछता है कि - ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास कब तक करना चाहिए? उत्तर में ज्ञानी कहते है कि - ज्ञानानन्द स्वभाव में अन्तर्मुख होकर जब तक निर्विकल्प अनुभव नहीं हो जाता तब तक भेदज्ञान का प्रयत्न करते रहना चाहिए। निर्विकल्प अनुभव होने होने पर भी जब तक केवलज्ञान न हो जाय तब तक ज्ञानानन्द स्वरूप में ही लीनता का बारम्बार प्रयत्न करते रहना चाहिए। यही मोक्ष का उपाय है।

***

श्लोक ९५ व ९६

यत्रैव हितधीः पुंसः श्रद्धातत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चितः तत्रैव लीयते॥ ९५॥
यत्रैवाहित धीः पुंसः श्रद्धातस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा, कुतश्चितस्य तल्लयः॥ ९६॥

अन्वयार्थ :- (यत्र हित धीः पुंस) जिस विषय में पुरुषों की हित बुद्धि होती है, **(तत्रैव श्रद्धा जायेते)** वहीं या उसी विषय में श्रद्धा हो जाती है तथा **(यत्रैव जायते श्रद्धा)** जहाँ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है **(तत्रैव चितः लियते)** उसी में उसका चित्त स्थिर होता है।

तथा - **(यत्रैव अहित धीः पुंसः)** जिसमें जीवों की अहित बुद्धि है - अनुपकारी बुद्धि है, वहाँ से श्रद्धा हट जाती है। **(यस्मान्निवर्तते श्रद्धा)** जहाँ से श्रद्धा हट जाती है **(कृतःचित्तस्य तल्लयः)** फिर वहाँ चित्त कैसे लग सकता है? नहीं लगता।

श्लोक ९५ व ९६ पर प्रवचन

जहाँ सुखबुद्धि होती है, वही परिणाम स्थिर होता है और जहाँ सुख-बुद्धि नहीं है, वहाँ से परिणाम विरक्त रहता है। यहाँ कहते है कि - जिस विषय में हमें अपना हित भासित होता है, वहाँ ही उसे श्रद्धा होती है तथा वहीं चित्त की लीनता होती है। धर्मत्माओं को अपने आत्मस्वरूप में ही हितबुद्धि होने से सुसुप्तावस्था में भी उनकी श्रद्धा बनी ही रहती है तथा अज्ञानी की बाह्य विषयों में ही श्रद्धा व लीनता रहती है। इसप्रकार जहाँ रुचि वहाँ श्रद्धा तथा जहाँ श्रद्धा वहाँ एकाग्रता होती है।

पहले आत्मा में ऐसी हितबुद्धि होना चाहिए कि इस जगत में यदि कहीं सुख है तो वह एक मेरी आत्मा ही है। मेरे आत्मा के सिवाय बाह्य जगत के विषयों में सच्चा निराकुल सुख है ही नहीं। ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर आत्मा में ही रुचि-श्रद्धा एवं एकाग्रता होती है।

शुद्ध चिदानन्द आत्मा में ही सुखबुद्धि से ऐसी की रटन रहा करती है। मैं चिदानन्द हूँ मैं ज्ञायक हूँ - ऐसी प्रतीति का परिणमन धर्मात्मा के सदा ही वर्तता है। तथा अज्ञानी की मान्यता व धारण ऐसी है कि - मैं देह हूं, मै राग हूं, विषयों में सुख है - ऐसी ओंधी प्रतीति से विषयों मे रुचि-श्रद्धा और लीनता होती है, उसी का अन्तर्जल्प व बहिर्जल्प हुआ करता है। यह विषयों का जोर उसे वहाँ से हटने नहीं देता।

दूसरी ओर ज्ञानी की श्रद्धा का स्वरूप ऐसा है कि - चाहे वज्रपात हो या दैवी प्रकोप हो; तो भी उसकी श्रद्धा में से आत्मा की रटन कम नहीं होती। मै ज्ञानानन्द स्वरूपी हूँ। ऐसी श्रद्धा की रटन उसके निरन्तर वर्तती ही रहती है।

इसप्रकार जीव की जिसमे हितबुद्धि हो, उसमें श्रद्धा व लीनता होती ही है, उपयोग उस ओर बारम्बार जाता ही है। तथा जिसमें हितबुद्धि नहीं होती, उसमें जीव को श्रद्धा व लीनता नहीं होती, उसमें वह अनासक्त ही वर्तता है।

मै ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ व देहादि अचेतन हैं - इसप्रकार जहाँ दोनों की भिन्नता जानी, वहाँ आत्मा में आत्मबुद्धि हुई व देह में से आत्मबुद्धि छूट गई। जिसमें आत्मबुद्धि नहीं होती उसमें लीनता भी नहीं होती।

अरे जीव। एक बार तु नक्की तो कर कि तेरा हित व तेरा सुख किसमें है? जिसमें सुख लगेगा, उसी की रुचि व उसि में लीनता होती है।

आत्मा की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं -

आत्मा में सदा रतिवन्त हो, आत्मा में सदा सन्तुष्ट हो।
आत्मा में ही तू संतृप्त हो, इससे ही उत्तम सुख प्राप्त हो॥

इस ज्ञान स्वरूप आत्मा के सिवाय अन्यत्र कहीं भी आत्मा का सच्चा सुख नहीं है। अतः अन्यत्र कहीं भी रुचि एवं प्रीति मत कर।

सुख तो आत्मानुभूति में है अतः एकबार इस आत्मा का ही लक्ष्य करके देख।

हे जीव। जहाँ अनन्त सुख का वेदन है, ऐसे अपने स्वरूप की तो तूने रुचि नहीं की, प्रीत व श्रद्धा नहीं की तथा जिसमें अकेला दुःख ही दुःख है - ऐसे बाह्य विषयों में प्रीति करके तू उनमें मोहित हो गया। अरे ! अब तो जाग तथा विवेक कर ! स्व-पर को जुदा जानकर स्वरूप का प्रेम कर। ज्ञानी बाह्य सामग्री के मध्य रहता हुआ दिखाई देता है। राग करता भी दिखता है। पर उसकी रुचि की दिशा बदल गई है। उसकी श्रद्धा शुद्धात्म में ही प्रवेश कर गई है। इससे शुद्धात्मा की श्रद्वा व प्रीति छोड़कर उसे कोई और विषय आदि का राग नहीं आता।

जिसने स्वात्मा का सुख चख लिया उसे पर में एकत्व बुद्धि से लीनता होती ही नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञानी की परिणति पर विषयों से पीछे हटकर निजात्मा को ही अपना लक्ष्य बनाती है।

देह से भिन्न आत्मा को साधने वाले योगियों को अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा मोक्ष का मार्ग अरहंत देव के मत में ही है, - यह बताया है।

* * *

श्लोक ९७

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः।
वर्तिदीपं यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थः- **(आत्मा)** आत्मा **(भिन्नात्मानं)** अपने से भिन्न आत्मा की **(उपास्य)** उपासना करके **(तादृशः)** उनके समान **(परः भवति)** परमात्मा हो जाते हैं। **(यथा भिन्नावर्तिः)** जैसे दीपक की वत्ती **(दीर्पउपास्य)** दीपक की उपासना करके **(तादृशी भवति)** दीपक स्वरूप हो जाती है।

आराधक से पृथक्भूत अरहंत सिद्धस्वरूप परमात्मा की उपासना करके आत्मा अर्थात् आराधक अरहंत सिद्ध के समान स्वयं परमात्मा हो जाते हैं।

यहाँ कहते हैं - कि ध्येयरूप शुद्धात्मा की उपासना दो प्रकार से होती है : एक - भिन्न उपासना और दूसरी - अभिन्न उपासना। पहली भिन्न उपासना में अरहंत, सिद्ध भगवान की उपासना होती है और दूसरी अभिन्न उपासना में अपने आत्मा के स्वरूप की उपासना होती है।

भिन्न आत्मा की उपासना का फल दीपक के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं - जैसे बाती दीपक से भिन्न होती है, फिर भी वह बाती दीपक की उपासना से (अत्यन्तं निकट सम्पर्क और समर्पण से) स्वयं दीपकस्वरूप हो जाती है, दीपकमय हो जाती है। उसी तरह अरहंत व सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है।

समयसार की पहली गाथा में भी यह बात कही है कि - सिद्ध भगवन्तों ने पूर्ण शुद्धता को प्राप्त कर लिया है। वे सिद्ध भगवान साध्य-स्वरूप शुद्धात्मा के प्रतिछन्द के स्थान पर हैं, स्थानापन्न हैं, इस कारण वे सिद्ध भगवान को ध्याकर अर्थात् उन जैसा अपने शुद्धात्मा का ध्यान करके यह आत्मा भी उन जैसा शुद्ध हो जाता है। इस तरह भिन्न से अभिन्न में आ जाता है। पर लक्ष्य को छोड़कर स्वतत्त्व को लक्ष्य में

लेवे तो उसकी भिन्न उपासना भी सच्ची कही जाती है और वह स्वयं उपास्य जैसा परमात्मा बन जाता है। किन्तु यदि मात्र पर की ओर ही देखा करे तो उसकी भिन्न उपासना भी सच्ची नहीं कही जाती।

प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में भी कहा है कि -

जो भगवान अरहंत देव की शुद्ध आत्मा को द्रव्य - गुण व पर्याय से जानता है, वह उन जैसे अपने शुद्धस्वरूप को भी पहचान लेता है। उससे इसका मोह क्षय को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार परमात्मा की पहचान कर उनकी उपासना करनेवाला स्वयं भी परमात्मा बन जाता है।

देखो, यह परमात्मा की उपासना का फल है। पर उपासना को सफल करने के लिए जिसने केवलज्ञानी परमात्मा को प्रतीति में लेकर उसे ही उपास्य के रूप में स्वीकार किया है, उसने अपने आत्मा में से रागादि भावों का एवं अल्पज्ञता का आदर करना छोड़ दिया है। तथा जिसने पूर्ण सामर्थ्यवान ज्ञानस्वभाव का आदर कर अपने ज्ञान को स्वयं अपने स्वभाव की ओर मोड़ दिया है, वही अरहंत व सिद्ध परमात्मा का सच्चा उपासक है और उसे ही उपासना का फल मिलता है।

देखो भिन्न आत्मा की उपासना में अकेले भिन्न परमात्मा का ही लक्ष्य नहीं है, परन्तु भिन्न आत्मा का लक्ष्य छोड़कर स्वयं अपने अभिन्न आत्मा की ओर झुकना है। तभी भिन्न आत्मा की (अरहंत सिद्ध भगवान की) सत्य उपासना हुई कही जाती है।

अकेले रागवश भगवान की भक्ति किया करे और उस राग से धर्मलाभ माने तो वह वस्तुतः सर्वज्ञ की उपासना करता ही नहीं है, वह तो राग की ही उपासना करता है। वह सर्वज्ञ की उपासना करने की रीति ही नहीं जानता। सर्वज्ञ की निकटता करके उपासना करे कि - "अहो ! ऐसी होती है सर्वज्ञता? कि जिसमें राग नहीं, अल्पज्ञता नहीं, जिसमें केवल परिपूर्ण ज्ञान व आनन्द का ही परिणमन है। मेरे आत्मा का भी ऐसा ही स्वभाव है।" ऐसी प्रतीति करके ज्ञान स्वभाव का बहुमान करके व रागादि का बहुमान

*** छोड़कर स्वयं अपने ज्ञान

स्वभाव में तन्मय होना भावों की अपेक्षा भगवान के साथ एकता हुई। जैसा भगवान का भाव है, वैसा ही भाव अपने में प्रगट हो, तब उसे भगवान की उपासना कही जाती है।

इस रीति से जो व्यक्ति भगवान सर्वज्ञ की उपासना करता है, वह स्वयं परमात्मा हो जाता है। समयसार की 31वीं गाथा में भी यही कहा है कि - जो जीव द्रव्येन्द्रियों से भिन्न अपने उपयोगस्वरूप आत्मा को जानता है, वही जितेन्द्रिय है और वही केवलज्ञानी की परमार्थ स्तुति है।

देखो, इसमें केवलज्ञानी की ओर लक्ष्य न होकर आत्मा की ओर ही लक्ष्य है। फिर भी इसे केवलज्ञानी की स्तुति कही है; क्योंकि पहले प्रारम्भ में केवली की ओर लक्ष्य होता है। फिर उनके द्वारा निज का स्वरूप जानकर "स्व" की ओर झुकता है, तब सच्ची स्तुति हुई कही जाती है। पंचपरमेष्ठी की परमार्थ उपासना आत्मा के आश्रय से होती है, पर के आश्रय से नहीं होती। बीच में जितना राग रह जाता है, वह तो उपासना में कमी का द्योतक है। सर्वज्ञ का निर्णय अपने ज्ञान स्वभाव की ओर झुकने से सर्वज्ञ का निर्णय होता है। जिसे सर्वज्ञ का ही निर्णय नहीं है, उसे सर्वज्ञ की उपासना कहाँ से/कैसे हगी ? नहीं होगी।

अरहंत व सिद्ध भगवान को जैसा परिपूर्ण ज्ञान व आनन्द प्रगट है, प्रसिद्ध है; वैसा ही ज्ञान एवं आनन्द रूप मेरा स्वभाव है। इस प्रकार अरहंतों व सिद्धों को ध्येय बनाकर उन्हीं जैसा अपने आत्मा में ढलकर एकाग्रता रूप आराधना से जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है।

अरहंत और सिद्ध भगवान की उपासन को भिन्न उपासना कहा है। पर ऐसा कब कहा माना जाय ? जब वह आत्मा की ओर झुककर सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र करे। वस्तुतः तो जब अभिन्न उपासना रूप निश्चय प्रगट हो तब भिन्न उपासना को व्यवहार कहा है। जो केवल पर के सामने ही देखा करें और स्व - सन्मुख न हो तो उसे तो अभिन्न या भिन्न - एक भी उपासना नहीं हुई।

श्लोक ९८

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव, जायते अग्निर्यथा तरूः ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थ :- (अथवा आत्मा आत्मानं एव उपास्य) अथवा आत्मा अपने आत्मा की ही उपासना करके **(परमः जायते)** परमात्मा बन जाता है। **(यथातरूः)** जैसे कि बांस का झाड़ **(आत्मानं आत्मा एव)** स्वयं को स्वयं से ही **(मथित्वा अग्नि जायते)** रगड़-रगड़ कर अग्निमय हो जाता है।

श्लोक ९८ पर प्रवचन

जिस तरह बाँस का वृक्ष बाँस के साथ रगड़ खाकर स्वयं अग्निरूप हो जाता है, उसी तरह आत्मा भी अपने चिदानन्दमय चित्स्वरूप की उपासना करके स्वयं परमात्मा रूप हो जाता है।

आत्मा की उपासना में भिन्न उपासना एवं अभिन्न उपासना ऐसे दो भेद हैं - अरहंत सिद्ध के स्वरूप को जानकर वैसा ही अपने स्वरूप का ध्यान करना - यह उपासना है। उससे जितनी अरहंत की उपासना हुई - वह भिन्न उपासना है तथा जितनी अपने स्वरूप की उपासना हुई वह अभिन्न उपासना है। भिन्न उपासना की विस्तृत चर्चा 17वें श्लोक में हो चुकी है। बाँसों के परस्पर रगड़ से उत्पन्न हुई अग्नि के दृष्टान्त से इस गाथा में अभिन्न उपासना की बात कर रहे हैं।

जिस तरह बाँस में शक्तिरूप से अग्नि विद्यमान है और रगड़ से व्यक्त अग्नि के रूप में परिणत हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा में शक्ति रूप से परमात्मापना विद्यमान है। जब आत्मा अन्तर में एकाग्र होकर स्वभाव का मन्थन करता है तो शक्तिरूप से विद्यमान परमात्मपना स्वयं परमात्मा दशा रूप परिणमित हो जाता है। उसमें जो त्रिकाल शक्ति है, वह शुद्ध उपादान है। तथा पूर्व की मोक्षमार्ग रूप पर्याय व्यवहार कारण

है। शुद्ध स्वभाव ही मोक्ष का परमार्थ कारण है। उस कारण स्वरूप में एकाग्र होने पर मोक्ष होता है। यहाँ तो अभिन्न उपासना बतानी है न ?

अत: कहते हैं कि - आत्मा स्वयं अपने में एकाग्रता द्वारा अपनी उपासना करके परमात्मा हो जाता है। आत्मा की उपासना ही मोक्ष का सीधा और अद्वितीय मार्ग है।

देखो, इसमें निश्चय-व्यवहार - दोनों आ गये। त्रिकाली कारण परमात्मा भूतार्थ होने से मोक्ष का निश्चय कारण है और मोक्षमार्ग रूप पर्याय व्यवहार कारण है। अभिन्न उपासना में संयोग की बात ही नहीं आती। संयोग तो भिन्न है।

प्रश्न :- भिन्न उपासना का फल भी तो मोक्ष बताया है ?

उत्तर :- हाँ, बताया है। पर उसकी अपेक्षा समझना चाहिए न ? वहाँ यह कहा है कि जो भिन्न उपासना में से अभिन्न उपासना में पहुँच जाता है, वह परमात्मा हो जाता है। जो अरहंत व सिद्ध भगवान के स्वरूप का निर्णय करके, उन्हीं जैसा अपने स्वभाव को जान कर अपने स्वभाव की ओर झुकता है अर्थात् भिन्न उपासना को छोड़कर अभिन्न उपासना में आता है वह परमात्मा बनता है। इस प्रक्रिया में अरहंत व सिद्ध की उपासना का फल निमित्त की अपेक्षा मोक्ष कहा है।

परन्तु यहाँ तो अभेद की बात है। ध्रुव स्वभाव के साथ अभेद होकर मोक्ष पर्याय रूप कार्य हुआ है। इससे यह निश्चय कारण है। मोक्ष पर्याय भी व्यवहारनय का विषय है तथा अभेद द्रव्यनिश्चयनय का विषय है तथा निश्चयनय के आश्रय से ही मुक्ति होती है।

अपने आत्मा की उपासना से ही मुक्ति होती है। बाह्य पदार्थों की ओर के संकल्प-विकल्प छोड़कर स्वयं अपने आत्मा में लीन होकर उसकी उपासना करने पर परमात्मदशा प्रगट होती है। इसमें स्वयं ही उपासक एवं स्वयं ही उपास्य है। इस कारण यह अभिन्न उपासना है। ऐसी उपासना के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। जिस तरह बाँस के वृक्ष को अग्निरूप

होने के लिए स्वयं पृथक् अन्य कोई साधन नहीं है। स्वयं स्वयं में से ही घर्षण के द्वारा अग्निरूप होता है। इसी प्रकार आत्मा को परमात्मा होने में अपने से पृथक् कोई अन्य साधन नहीं है। अपनी स्वयं निर्विकल्पलीनता द्वारा ही अपने ध्यान से ही परमात्मा होते हैं।

आत्मा का द्रव्य स्वभाव त्रिकाल मोक्षस्वरूप है। उस शक्ति के ध्यान से मुक्ति होती है। ध्याता, ध्यान व ध्येय - ये कहीं भिन्न-भिन्न नहीं है। आत्मा स्वयं ध्याता, स्वयं ही ध्येय व स्वयं ही ध्यान - ऐसी अभिन्न आराधना का फल मोक्ष है। वहाँ ध्याता व ध्येय का भी भेद नहीं रहता। ऐसी अभेद उपासना से आत्मा परमात्मा बनता है।

इस प्रकार आत्मस्वरूप की आराधना से ही मुक्ति होती है - इसलिए एक आत्मा की ही भावना भाना चाहिए।

***

श्लोक ९९

इतीदं भावयेन्नित्यम् अवाचांगोचरं पदम्।
स्वतएव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥ ९९॥

अन्वयार्थ :- (इति) उपर्युक्त प्रकार से अर्थात् पूर्व के श्लोकों में कहे अनुसार **(इदं)** भेदाभेद रूप आत्म स्वरूप की **(नित्यं भावयेत्)** निरन्तर भावना भाना चाहिए। **(तत्)** इससे **(अवाचां गोचरं पदं)** अनिर्वचनीय परमात्मा पद को **(स्वतः एव)** स्वतः ही **(आप्नोति)** प्राप्त कर लेते हैं। **(यतः पुन न आवर्तते)** जिससे पुनः वापिस लौटकर संसार में नहीं आते।

श्लोक ९९ पर प्रवचन

अब यहाँ कहते हैं कि - आत्मस्वरूप की भावना करने से आत्मा स्वतः परमात्म पद को प्राप्त करता है। अपने शुद्धात्मा की भावना के प्रभाव से ही आत्मा सर्वज्ञ होता है। अहो ! सर्वज्ञ पद की महिमा वचन से अगोचर है, इसकी प्राप्ति शुद्धात्मा की भावना से अर्थात् स्वानुभव से होती है।

श्रीमद् रामचन्द्र कहते हैं कि "अनुभव गोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो" सर्वज्ञ स्वभाव से भरे अपने चैतन्य पद को छद्मस्थ ज्ञानी भी अपने स्वानुभव से बराबर जान सकते हैं। इसे जानकर इसी की नित्यभावना करने जैसी बात है।

शुद्धस्वरूप की भावना करने वाला अर्थात् ज्ञान पर्याय को अन्तर्मुख करके स्वरूप में लीन रहने वाला जीव स्वयं अपने से ही सिद्ध पद पाता है। कोई अन्य बाह्य साधन के कारण सिद्ध पद प्राप्त नहीं होता। परमार्थतः अपने आत्मा से ही मोक्ष प्राप्त होता है। जो स्वयं की पर्याय में मोक्षपद साधते हैं, उसको मोक्ष पद को प्राप्त हुए सिद्ध भगवान तथा मोक्ष का साधन करने वाले साधु परमेष्ठियों की पहचान तो होती ही है, होनी ही

चाहिए। तथा इसके विपरीत कुदेवादिक की ओर उनका झुकाव स्वप्न से भी नहीं होता। परन्तु भाई यहाँ तो इससे भी बहुत आगे की परमोत्कृष्ट बात है, आराधना की पूर्णता की उत्कृष्ट परमोत्कृष्ट बात है। सच्चे देव-गुरु की पहचान होने के पश्चात् उन्हीं में नहीं अटकते, किन्तु उन्हीं के समान निजस्वरूप के अनुभव में पूर्ण एकाग्र होकर मोक्ष को साधता है। जितनी निजस्वरूप में एकाग्रता, उतना मोक्षमार्ग। अहा...! अकेले स्वाश्रय में मोक्षमार्ग समाया है। अंशमात्र भी पराश्रय में मोक्षमार्ग नहीं है। जो मोक्षमार्ग में पर का आश्रय माने, उसने सच्चे मोक्षमार्ग को जाना ही नहीं है।

भाई ! यदि तू पर के आश्रय में मोक्षमार्ग मानेगा तो उसका लक्ष्य छोड़कर निज स्वरूप का ध्यान तू कब करेगा ? पर का लक्ष्य छोड़कर निजस्वरूप के ध्यान में लीन हुए बिना तीन काल में किसी को मोक्ष ही नहीं है।

यदि मोक्षमार्ग के निर्णय में ही भूल हो तो उसे कैसे सकेगा ? यहाँ तो निर्णय होने के पश्चात् पूर्ण समाधि प्राप्त करके जन्म-मरण के अभाव रूप सिद्ध पद प्राप्त करने की बात है। यही सच्चा समाधि सुख है।

"सादि अनंत समाधि सुख में, अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ॥"

अर्थात् जिसके फल में सादि-अनंत काल तक अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान एवं अनन्तसुख में रहना होता है - ऐसे समाधि की यह बात है।

***

श्लोक १००

अयत्न साध्यः निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अन्वयार्थ - (चित्तत्वं) चेतना लक्षणवाला यह जीव **(यदि भूतजम्)** यदि पंच भूत से उत्पन्न हुआ मान लिया जाय तो **(निर्वाणं अयत्न साध्यं)** मोक्ष यत्न साध्य नहीं ठहरेगा। शरीर के नाश से ही मोक्ष मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। इस तरह मोक्ष अयत्न साध्य ही ठहरेगा। **(अन्यथा)** और यदि **(योगतः निर्वाणं)** शारीरिक योगिक क्रियाओं से निर्माण की प्राप्ति होना माने तो **(तस्मात् योगिनां)** उससे योगियों को **(क्वचित् दुःखं न)** किसी भी हालत में दुःख नहीं होता।

श्लोक १०० पर प्रवचन

यह चैतन्यतत्त्व आत्मा स्वतः सिद्ध एवं देह से भिन्न तत्व है, अविनाशी है। यह चैतन्यतत्व यदि पंचभूत से उत्पन्न हुआ हो, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि वायु व वनस्पति आदि पॉच भौतिक तत्वों से उत्पन्न हुआ हो तो फिर देह की उत्पति के साथ जीव की उत्पति और देह के क्षय के साथ जीव का क्षय (नाश) हो जाना चाहिए। तब फिर मोक्ष के लिए तो कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

देह के सयोग से आत्मा उत्पन्न होगा और देह के विलय से आत्मा विनष्ट हो जायेगा। देह से भिन्न कोई आत्मा ठहरेगा ही नहीं। - ऐसा तो नास्तिक चार्वाक का मत है। वे देह के नाश को ही आत्मा का नाश मानते हैं। ऐसी स्थिति में मोक्ष का प्रयत्न ही निरर्थक है।

जहाँ अपना अस्तित्व ही न माने, उसके लिए कोई प्रयत्न क्यों करेगा? मोक्ष परम आनन्दमय दशा है और वह ज्ञानमय पुरुषार्थ से प्रगट होती है। मोक्ष आत्मा के अभाव रूप नहीं है, बल्कि कर्म के अभाव से प्रगट आत्मा की पूर्ण निर्मल अनन्तज्ञान व आनन्दमय दशा है। यदि मोक्ष में आत्मा का अभाव हो तो ऐसे मोक्ष को कौन चाहेगा?

अन्य कोई (सांख्य मतानुयायी) मोक्ष के स्वरूप को ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो सर्वथा शुद्ध ही है, पर्याय में भी अशुद्धता नहीं है। उन लोगों की भी यह मानयता मिथ्या है। उन्हें भी मोक्ष का पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। आत्मा में शुद्धता की सामर्थ्य सदाकाल है, परन्तु उसे पहचान कर उसमें अपने उपयोग को जोड़े तब मोक्ष प्रगट होता है। जब तक ऐसी मोक्ष दशा प्रगट न हो , तब तक आत्मा में अशुद्धता है।

इस प्रकार देह से भिन्न आत्मतत्त्व की नित्यता, उसकी पर्याय में अशुद्धता तथा प्रयत्न द्वारा ऐसी अशुद्धता का नाश करके मोक्ष की उत्पति एवं मोक्ष दशा में परम आनन्द सहित आत्मा का नित्य, अस्तित्व - ये सब जाने तब ही मोक्ष का सच्चा पुरुषार्थ होता है। आत्मा व उसकी शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाओं के ज्ञान बिना समाधि या मोक्ष होता ही नहीं।

देह आत्मा नहीं है - ऐसा जानकर जिसने अपने उपयोग को निजस्वरूप में जोड़ा है, ऐसे समाधिस्थ योगियों को शरीर के छेदन-भेदन आदि उपसर्ग में कदापि दुःख नहीं होता। वे तो आनन्द स्वरूप में उपयोग को जोड़कर मोक्ष के साधन में तत्पर है। मोक्ष का उपाय तो आनन्दकारी है। वह दुःखरूप नहीं है। जगत को तो ऐसे मोक्ष के उपाय की खबर ही नहीं है।

यहाँ तो यह कहते है कि - देह आत्मा नहीं है। जहाँ देह से भिन्न चैतन्यतत्व में उपयोग को जोड़ा, वहीं निजानन्द के अनुभव में लीन मुनियों का देहजन्य दुःख नष्ट हो जाता है। जब देह का लक्ष्य ही नहीं रहता तो देहजन्य दुःख कैसा? बाहर के शरीर को भले ही सिंह खाते हों, फिर भी मुनिराज अन्दर में अतीन्द्रिय सुख को भोगते हैं। जिस समय बाहर में शरीर जल रहा हो, उसी समय आत्मा परम शान्त रस में स्थिर रहता है।

इसप्रकार देह से भिन्न आत्मतत्त्व को जानकर अपने निजस्वरूप में अपने उपयोग को जोड़ो - ऐसा उपदेश है। निजस्वरूप में उपयोग को जोड़ना ही मोक्ष मार्ग है। उसी में सुख है, वही समाधि है, वही धर्म है।

* * *

श्लोक १०१

स्वप्नेदृष्टे विनष्टेपि न नाशेस्ति यथात्मानः ।
तथा जागरदृष्टेपि विपर्यिसा विशेषतः ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ :- (यथा स्वप्ने) जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में **(दृष्टे विनष्टे अपि)** प्रत्यक्ष शरीरादि को नष्ट होता हुआ देखने पर भी **(आत्मनः नाशः न अस्ति)** आत्मा का नाश नहीं होता **(तथा जागर दृष्टेपि)** उसी प्रकार से जागृत अवस्था में भी दिखाई देते हुए शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता **(विपसिया विशेषतः)** क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में विपरीत प्रतिभास में कोई अन्तर नहीं है।

श्लोक १०१ पर प्रवचन

इस श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि - जिस तरह स्वप्न में किसी ने देखा कि मेरा नाश हो गया, मेरा शरीर छिन्न-भिन्न कर दिया है परन्तु जागते ही वह स्वयं को जीवित देखता है। इसी से स्पष्ट है कि स्वप्न में जो कुछ भी देखा वह सब भ्रम है।

इसी प्रकार जागृत दशा में भी अज्ञानी देह के नाश से अपना नाश होना मानता है। सो यह भी स्वप्नवत् ही विपर्यास एवं भ्रम है। वस्तुतः तो आत्मा का नाश कभी होता ही नहीं है।

जिस तरह जागृत दशा में स्वयं जैसा है वैसा ही है, उसी तरह मोहनिन्द्रा को छोड़कर देह से भिन्न-भिन्न चैतन्य दृष्टि से देखें तो आत्मा दूसरे भव में अथवा शरीर रहित सिद्ध दशा में वैसा का वैसा ही नित्यविराजमान है। देह के संयोग से आत्मा की उत्पत्ति और देह के वियोग से आत्मा का मरण मानना भ्रम है। आत्मा देह से जुदा उपयोग लक्षण वाला है। देह की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा विनाश से आत्मा का विनाश भी नहीं होता । आत्मा जन्म व मृत्यु से रहित सत् स्वरूप है।

आत्मा स्वतंत्र सत् वस्तु है। सत् का कभी भी नाश नहीं होता। तथा सत् सर्वथा नवीन उत्पन्न भी नहीं होता। किन्तु सत् सत् रूप से नित्य स्थिर रहकर पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप परिवर्तित होता रहता है।

जिस तरह किसी ने ऐसा स्वप्न देखा कि - 'मैं मर गया हूँ।' तत्पश्चात् वह जागने पर दूसरों से कहे कि - 'मैं तो मर गया हूँ' तो लोग उसे मूर्ख ही मानेंगे न ? जिसतरह स्वप्न की बात मिथ्या है, भ्रम है, उसी तरह देह के छूटने से कोई कहे कि 'आत्मा मर गया है तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूर्ख ! चेतन लक्षण वाला आत्मा कभी मरता नहीं है। जो तू आत्मा का नाश मानता है सो यह तो देह में एकत्व बुद्धि के कारण तेरा मात्र भ्रम है। जिसतरह स्वप्न की बात खोटी है, उसी तरह देह के छूटने पर आत्मा के मरण की बात भ्रम है। स्वयं किए पुण्य-पाप के अनुसार आत्मा स्वयं स्वर्ग या नरकादि में जाकर अपने भावों का फल भोगता है। तथा वीतरागता से मोक्ष प्राप्त करके सादि अनन्त काल तक सिद्ध दशा में रहकर मोक्ष के परमसुख को भोगता है।

आत्मा देह से भिन्न अविनाशी ध्रुवतत्त्व है। देह के नाश से उसका नाश नहीं होता। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मोक्ष में आत्मा का अभाव हो जाता है, पर उनकी यह मान्यता असत्यार्थ है। यदि मोक्ष में आत्मा का अभाव हो जाता हो तो भला ! ऐसे मोक्ष को कौन चाहेगा ? वस्तुतः मोक्ष में आत्मा, परमशुद्ध आनन्दमय दशा सहित विराजमान रहता है। किसी भी दशा में आत्मा के अभाव की तो कल्पना ही मिथ्या है।

सत्स्वरूप आत्मा की मुक्ति प्रयत्न द्वारा सिद्ध होती है। देह से भिन्न आत्मा का शाश्वत अस्तित्व जो मानता है, उसे मृत्यु भय नहीं रहता। चाहे जैसी परिस्थिति हो, मृत्यु ही क्यों न आ जाय ? फिर भी धर्मी अपने भिन्न अस्तित्व का अनुभव करता है तथा आत्मा की ऐसी आराधना के साथ देह छोड़ता है।

❖ ❖ ❖

श्लोक १०२

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथावलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनि : ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ :- (अदुःख भावितं ज्ञानं) जो भेदज्ञान दुःखों से रहित है, बिना कष्ट झेले सहज सुलभ हो गया हो, वह **(दुःख सन्निधौ क्षीयते)** उपसर्ग आदि दुःखों के आने पर नष्ट हो जाता है। **(तस्मात्)** इसलिए **(मुनिः)** अन्तरात्मा योगियों को **(यथाबलं)** अपनी शक्ति के अनुसार **(दुःखैः आत्मानं भावयेत)** कष्ट सहिष्णु बनकर शरीरादि से भेदज्ञान करके आत्मा की भावना करनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जब तक योगी कायक्लेशादि तपश्चरण का अभ्यास करके कष्ट सहिष्णु नहीं होता, तब तक उसको शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव भी स्थिर नहीं होता। दुःखों के आ जाने पर विचलित हो जाता है।

श्लोक १०२ पर प्रवचन

बिना कष्ट झेले प्राप्त भेदविज्ञान उपसर्गादि दुःख के प्रसंग में क्षीण हो जाता है, इसलिए अपनी शक्ति अनुसार कायक्लेश आदि कष्ट सहन करते हुए आत्मा और पर के भेद ज्ञान की भावना को दृढ़ करना चाहिए।

यह उपदेश मुमुक्षुओं के पुरुषार्थ को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जागृत रखने के लिए है। चाहे जैसा कष्ट आ पड़े, कैसी भी कठिनतम प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित हो जावे, उसमें भी पुरुषार्थ जागृत रहे, जरा भी ढीला न पड़े। इसके लिए यह उपदेश दिया गया है।

जगत के सुख की परवाह न करके जिसने भी आत्मा की भावना भायी है, उसको दुःख के काल में भी आत्मज्ञान तो टिका ही रहता है। साथ ही वह भावना तीव्र वैराग्य से और भी अधिक बलवती हो जाती है। सुकुमार व प्रमादी नहीं हो पाती। इसलिए जागृति का उपदेश है।

यदि आत्मा की भावना को भूलकर बाह्य सुख में सुकुमार हो जायेगा तो ज्ञान का नाश हो जायेगा।

आत्मा के श्रद्धान ज्ञानपूर्वक ऐसी भावना करो कि चाहे जैसी प्रतिकूलता हो तो भी भेदविज्ञान का विवेक जागृत रहे। धैर्य धारण करने का जहाँ कोई अन्य उपाय शेष नहीं रहता, वहाँ भी भेदज्ञान की भावना सहनशीलता का, धैर्य धारण करने का एकमात्र अमोघ उपाय सिद्ध होता है। जहाँ ज्ञान की भावना जागृत है, वहाँ कोई भी प्रतिकूलता साधकों को आत्मभावना से डिगा नहीं सकती।

अन्तर के ज्ञानानन्द स्वभाव के सन्मुख होकर ऐसी दृढ़ भावना करो कि समाधि के समय कैसी भी प्रतिकूलता क्यों न आ जावे, डिगे नहीं। सभी परिस्थितियों से जूझते हुये अपने परिणाम शान्त रख सके। ज्ञानानन्द स्वभावी अत्मा की उग्र भावना आते-आते समाधिमरणपूर्वक देह छूटे।

जिन्होंने बिना कठिन स्थितियों से गुजरे बिना कष्ट झेले, घर बैठे-बैठे सहज उपलब्ध हो जाने पर मात्र भेदज्ञान की बातें भर कीं हैं, अन्तर्मुख होने का प्रयत्न भी नहीं किया। उनके हृदय में प्रतिकूल परिस्थितियों में वह तत्त्वज्ञान नहीं टिक सकेगा। जो अनुकूल संयोगों में मूर्छित है तथा अन्तर के अनुभव का प्रयास नहीं करता, वह प्रतिकूल संयोगों में कैसे स्थिर - अडिग रह सकेगा ? नहीं रह सकेगा।

'देह से आत्मा भिन्न है' - ऐसी साधारण जानकारी करके संतुष्ट मत हो जाना। अन्तर में प्रयत्न करके भेदज्ञान की भावना को बारम्बार नचाकर आत्मा का अनुभव करना। अन्तर में आत्मा का अनुभव किये बिना अकेला धारणाज्ञान शरण रूप नहीं होगा। अन्तर में भेदज्ञान की भावना से निर्विकल्प आनन्द रस पीने का ऐसा प्रयत्न करना कि समाधि मरण के काल में कदाचित् प्यास से गला सूखे और पानी भी गले न उतरे तो भी आत्मा अन्तर में शान्त रस के अनुभव से तृप्त रहे।

देह से भिन्न आत्मा की भावना भाने वाले मुमुक्षु जीवों के परिणाम में तीव्र उदासीनता, वैराग्यभाव, प्रतिकूल परिस्थितियों में सहनशीलता, आदि उत्पन्न हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि - हे जीव ! तू तपश्चरण आदि वैराग्य भावनापूर्वक ज्ञान की ऐसी भावना भा, ताकि कठिन से कठिन प्रतिकूलता में भी अखण्ड आराधना में भंग न पड़े।

जिन्होंने कायक्लेश आदि के साथ ज्ञानभावना भायी है, उन ज्ञानियों के मरण भय नहीं होता। उनकी ज्ञान भावना छूटती भी नहीं है। देखो न ! पाँचों पाण्डव, सुदर्शन सेठ, सीताजी वगैरह के ऊपर कैसे-कैसे कितने संकट आये, फिर भी वे अपनी ज्ञान भावना से किंचित् भी नहीं डिगे।

समयसार में कहा है कि - हे जीव ! तुझे मरण तुल्य कष्ट झेलना पड़े, मौत की कीमत भी चुकाना पड़े; तो भी तत्त्व का कौतूहली बन ! तत्त्व जिज्ञासु बना रह और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव कर।

देखो ! जिसने प्रसंगवश भेदज्ञान की सामान्य धारणा की हो, उसको जब तक देहादि की अनुकूलता रहती है, वहाँ तक तो उसे ऐसे लगता है कि मुझे तत्त्वज्ञान है। परन्तु ज्योंही शरीर में कोई कष्ट होता है तथा मानापमान का कोई मानसिक प्रतिकूल प्रसंग आता है तो फिर ऐसी स्थिति में उसका ज्ञान गुम हो जाता है। वह प्रतिकूलता में एकाकार हो जाता है। इसलिए यहाँ ऐसा उपदेश है कि - अभी से ही देहादि के प्रति उदासीनता की भावनापूर्वक तू ज्ञान का अभ्यास कर।

* * *

श्लोक १०३ व १०४

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छा द्वेष प्रवर्तितात्।
वायोः शरीर यंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मषु॥ १०३॥
तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेदसुख जड़ः।
त्यकत्त्वारोप पुनर्विद्वान प्राप्रोति परम पदम्॥ १०४॥

अन्वयार्थ :- (इच्छा द्वेष प्रवर्तितात्) राग-द्वेष की प्रवृत्ति से तथा **(आत्मनः प्रयतात्)** आत्मा के प्रयत्न से **(शरीर यांत्राणि)** शरीर में **(वायुः)** वायु उत्पन्न होती है। तथा **(वायोंः)** के संचार से **(शरीर यंत्राणि स्वेषु कर्मषु प्रवर्तते)** शरीर के यंत्र अपने-अपने कार्यो में प्रवृत्ति करते हैं।

(जड़ः) अज्ञानी बहिरात्मा **(साक्षाणी)** इन्द्रियों सहित **(तानि यंत्राणि)** शरीर के यंत्रों को **(आत्मनि समारोप्य)** आत्मा में आरोपित करके **(असुखं आस्ते)** दुःखी होता है। **(पुनः विद्वान)** और ज्ञानी अन्तरात्मा **(आरोप त्यक्त्वा)** शरीरादि में आत्मा का आरोप छोड़कर **(परम पदं प्राप्नोति)** मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

श्लोक १०३ व १०४ पर प्रवचन

आत्मा और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण बहुत बार जीव की इच्छानुसार देहादि की क्रिया होती देखकर धर्मी जीवों को ऐसा भ्रमित नहीं होना चाहिए कि 'आत्मा के कारण शरीर का यंत्र चलता है। इसके विपरीत आत्मा को देह से सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिए। आत्मा में देह का आरोप नहीं करना चाहिए। तथा देह से भिन्न आत्मा की भावना करके आत्मा में एकाग्र होना चाहिए, इससे ही परम पद की प्राप्ति होती है।' ऐसा इन दो गाथाओं में कहा गया है।

आत्मा में राग-द्वेषरूप इच्छा का प्रयत्न होने पर उन राग-द्वेष भावों के निमित्त से एक प्रकार की वायु शरीर में उत्पन्न होती है तथा उस वायु

के संचार से शरीर रूपी यंत्र अपने कार्य में प्रवर्तता है। तब अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि यह आत्मा की ही क्रिया है। किन्तु यहाँ आचार्य देव कहते हैं कि देह की क्रिया का आत्मा में आरोप करना ही मूर्खता का काम है। ज्ञानी तो शरीर की क्रियाओं में आत्मा की कल्पना का त्याग कर देते हैं। तथा देह से भिन्न चिदानन्द स्वरूप आत्मा की भावना भाकर परम मद को प्राप्त करते हैं। 'पर शरीर व इन्द्रियों की क्रिया मैं ही करता हूँ' - ऐसा अज्ञानी जानता है। इस कारण वह जड़ बुद्धि बहिरात्मा इन्द्रिय विषयों के जाल में ही फँसा रहता है और दुःखी होता है। देह की क्रिया में ही राग-द्वेष करता हुआ दुःखी रहता है।

इसके विपरीत ज्ञानी-विवेकी अन्तरात्मा शरीर और इन्द्रियों की भावना में एकाग्र होकर परम पद को प्राप्त करता है। ज्ञानी जानता है कि सभी द्रव्य एक-दूसरे से असहाय हैं। कोई किसी दूसरे के राग-द्वेष के लिए प्रेरित नहीं करता। छहों द्रव्य सदैव अपने-अपने स्वरूप में प्रवर्त रहे हैं।

जीव की गमन करने की इच्छा होती है और तदनुसार जीव गमन करता है, वहाँ शरीर भी साथ चलता है। अनेक बार जीव की जैसी इच्छा होती है, वैसी ही वह भाषा भी बोलता है। इससे अज्ञानी को भ्रम होता है कि मैंने गमन किया, मैंने भाषण दिया, परिभाषण किया,जबकि वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। जीव का गमन इसकी इच्छा के कारण नहीं हुआ, उसका बोलना भी उसके कारण नहीं हुआ। सभी अपने-अपने परिणमन में पूर्ण स्वतन्त्र हैं, परन्तु निमित्त-नैमित्त सहज सम्बन्ध से यह सब हुआ और अज्ञानी उस सहज सम्बन्ध को स्वीकार न करके उसमें अपना कर्तृत्व जोड़ लेता है।

आत्मा व छह द्रव्य के स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी उस आरोपित सम्बन्ध को मिथ्या मानकर देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करता है और परम पद को प्राप्त करता है।

* * *

श्लोक १०५

मुक्त्वा परत्र पर बुद्धि महंधियंच,
संसार दुःख जननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैती परात्मनिष्ठ,
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधि तंत्रम्॥ १०५।।

अन्वयार्थ :- (तन्मार्गं एतत् समाधि तंत्रं) उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बताने वाले इस समाधि तंत्र को **(अधिगम्य)** भले प्रकार जानकर, अनुभव करके **(परात्मनिष्ठः)** परमात्मा की भावना में स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा **(संसार दुःख जननी)** चतुर्गति रूप संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली **(परत्र)** शरीरादि पर पदार्थों में **(अहंधियं पर बुद्धि च)** जो आत्मबुद्धि तथा पर बुद्धि है, उसको **(मुक्तवा)** छोड़कर **(जननाद्विमुक्तः)** संसार से मुक्त होता हुआ **(ज्योतिर्मयं सुखं)** ज्ञानात्मक सुख को **(उपौती)** प्राप्त कर लेता है।

श्लोक १०५ पर प्रवचन

इस श्लोक में ग्रन्थ के विषय का उपसंहार करते हुए उस बुद्धि को संसार के समस्त दुःखों की जननी बताया है, जो अपने शरीरादि को स्वात्मा तथा पर के शरीरादि को परमात्मा समझती है। ऐसी दुःखमूलक बुद्धि का परित्याग कर जो परमात्मा में निष्ठावान होता है, वह संसार के बन्धनों से छूटता हुआ केवलज्ञानमय परमसुख को प्राप्त होता है। साथ ही यह भी बतलाया है कि यह समाधि तंत्र ग्रन्थ परमसुख की प्राप्ति का उपाय है।

तात्पर्य यह है कि यह सब जानकर स्व-पर में एकत्व बुद्धि को छोड़े तथा उत्कृष्ट आत्मस्वरूप में स्थिर हों। देह में आत्मबुद्धि एवं आत्मा में देहबुद्धि - ऐसी जो स्वपर में एकत्वबुद्धि है, वह संसार की दुःख की जननी

है। मिथ्या बुद्धि ही संसार का मूल है। उस मिथ्याबुद्धि को त्याग कर देह से भिन्न आत्मा को जानकर उसमें जो स्थिर होता है, वह अन्तरात्मा इस संसार के जन्म-मरण से मुक्त होकर परम केवलज्ञान ज्योतिमय सुख को प्राप्त करते हैं। इस शास्त्र का ऐसा उत्तम फल है।

'केवल ज्ञान और मोक्ष सुख के अभिलाषी जीवों को इस शास्त्र में पर और पर्याय से पृथक शुद्धात्मा का स्वरूप समझऊँगा' ऐसा संकल्प करके ग्रन्थ का प्रारम्भ किया था। उसी संकल्प के अनुसार पूज्यपादाचार्य ने नानाप्रकार से भेदज्ञान कराकर आत्मा का स्परूप बतलाया है। तथा बारम्बार उसी शुद्धात्मा की भावना भायी है। ऐसी भावना भाकर मुमुक्ष जीव परमज्ञान व परमसुख को प्राप्त करते हैं।

'समाधितंत्र' चैतन्य स्वरूप में एकाग्रता द्वारा परम उदासीनता के उपदेश का ही दूसरा नाम है। इसमें अनेक प्रकार के दृष्टान्तों से स्पष्ट करके देह व आत्मा की भिन्नता बताई है। उसे जानकर देह में अपनेपन की मान्यता छोड़कर अपने परमोत्कृष्ट आत्मस्वरूप में जो स्थिर होता है, वह परमसुख का अनुभव करता है।

यही आत्मानुभव शास्त्र पढ़ने का फल है। जिसने ऐसा पुरुषार्थ किया है, उसने ही वस्तुतः शास्त्र स्वाध्याय का फल प्राप्त किया है। अपना भाव या स्वरूप प्रगट किये बिना मात्र पढ़ लेने से शास्त्र का यथार्थ फल प्राप्त नहीं होता। शास्त्रज्ञान का फल तो परम वीतरागता और सुख है।

समयसार के अन्त में ग्रन्थ वांचने का उत्तम फल बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं – "इस समयसार को पढ़कर उसके अर्थरूप परम आनन्दमय शुद्धात्मतत्त्व को जानकर जो उसमें स्थिर होता है। वह जीव स्वयं उत्तम सुख रूप परिणमित होता है।" आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर परमसुख की अनुभूति होती है – यही सब शास्त्रों का सार है।

यहाँ भी परमात्मस्वरूप में स्थिरता से सुख होता है – ऐसा इस शास्त्र का फल बताकर मंगलपूर्वक शास्त्र का समापन किया है।

इस शास्त्र के कर्ता श्री पूज्यपाद स्वामी महासमर्थ दिगम्बर संत थे। वे विक्रम संवत् की छठी शताब्दी में हुए। उनका मूल नाम देवनन्दी था। देवों द्वारा उनके पाद पूजे गये। इस कारण उनका नाम पूज्यपाद पड़ गया। श्रवणबेलगोला के पहाड़ पर आपकी महिमा सम्बन्धी अनेक श्लोक उत्कीर्ण हैं। तत्वार्थसूत्र पर आपकी सबसे प्रसिद्ध सर्वार्थसिद्धि नाम की वृहद् टीका है। उसके बाद उन्होंने जिनेन्द्र व्याकरण नामक बहुत बड़ा शब्द शास्त्र भी लिखा। इष्टोपदेश भी आपकी ही रचना है।

आपको मुनिराज पद्मप्रभमलधारी देव ने नियमसार की टीका के मंगलाचरण में वन्दन किया। आदि पुराण में जिनसेन स्वामी ने तथा ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने भी उनका स्मरण करके नमस्कार किया है।

ऐसे महान आचार्य द्वारा यह समाधि शतक शास्त्र रचा गया है। श्री प्रभाचन्दस्वामी ने इसकी सुगम टीका संस्कृत में लिखी है। शास्त्र में बारम्बार भेदज्ञान की भावना घोंटी है तथा आत्मा में समाधि का सुख प्राप्त हो ऐसी भावना भायी है।

जिनकी भक्ति प्रसाद से, पूर्ण हुआ व्याख्यान।
सबके उर मन्दिर बसो पूज्यपाद भगवान॥
पढ़ो सुनो सब ग्रन्थ यह, सेवो अतिहित मान।
आत्म समुन्नति बीज जो करो जगत कल्याण॥

* * *

समाधितंत्र प्रवचन की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

26000 रुपये प्रदान करने वाले : श्रीमान भगवानजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन।

1000 रुपये प्रदान करने वाले : श्रीमती कस्तूरी दोशी ध. प. स्व. श्री गुमानमलजी दोशी (एडवोकेट) अजमेर।

301 रुपये प्रदान करने वाले : श्री फूलचन्दजी विमलचन्दजी झांझरी, उज्जैन।

251 रुपये प्रदान करने वाले : • श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, खतौली • श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध. प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर • श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई • श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज • ब्र. हीरालाल खुशालचन्दजी दोशी, माण्डवे • श्री विमलचन्दजी जैन, 'नीरू केमीकल्स', दिल्ली • ब्र. श्रीचन्दजी सुन्दरलालजी जैन, सोनगढ़ • श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपतसिटी • श्री माँगीलाल अर्जुनलालजी छाबड़ा, इन्दौर • श्रीमती नारायणीबाई ध. प. स्व. श्री गुलाबचन्दजी रारा, दिल्ली • श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, कानपुर • श्री महावीर स्टोर, मेरठ।

201 रुपये प्रदान करने वाले : • श्रीमती पानादेवी ध. प. श्री मोहनलालजी सेठी, गोहाटी • श्रीमती इन्द्रमणीदेवी ध. प. स्व. श्री आनन्दीलालजी , रामगढ़ कैन्ट • चौधरी फूलचन्दजी जैन द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई • श्री सुरेशचन्दजी सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर • श्रीमती सुशीलाबाई ध. प. श्री जवाहरलालजी जैन, विदिशा।

151 रुपये प्रदान करने वाले : • श्री जयन्तिभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई।
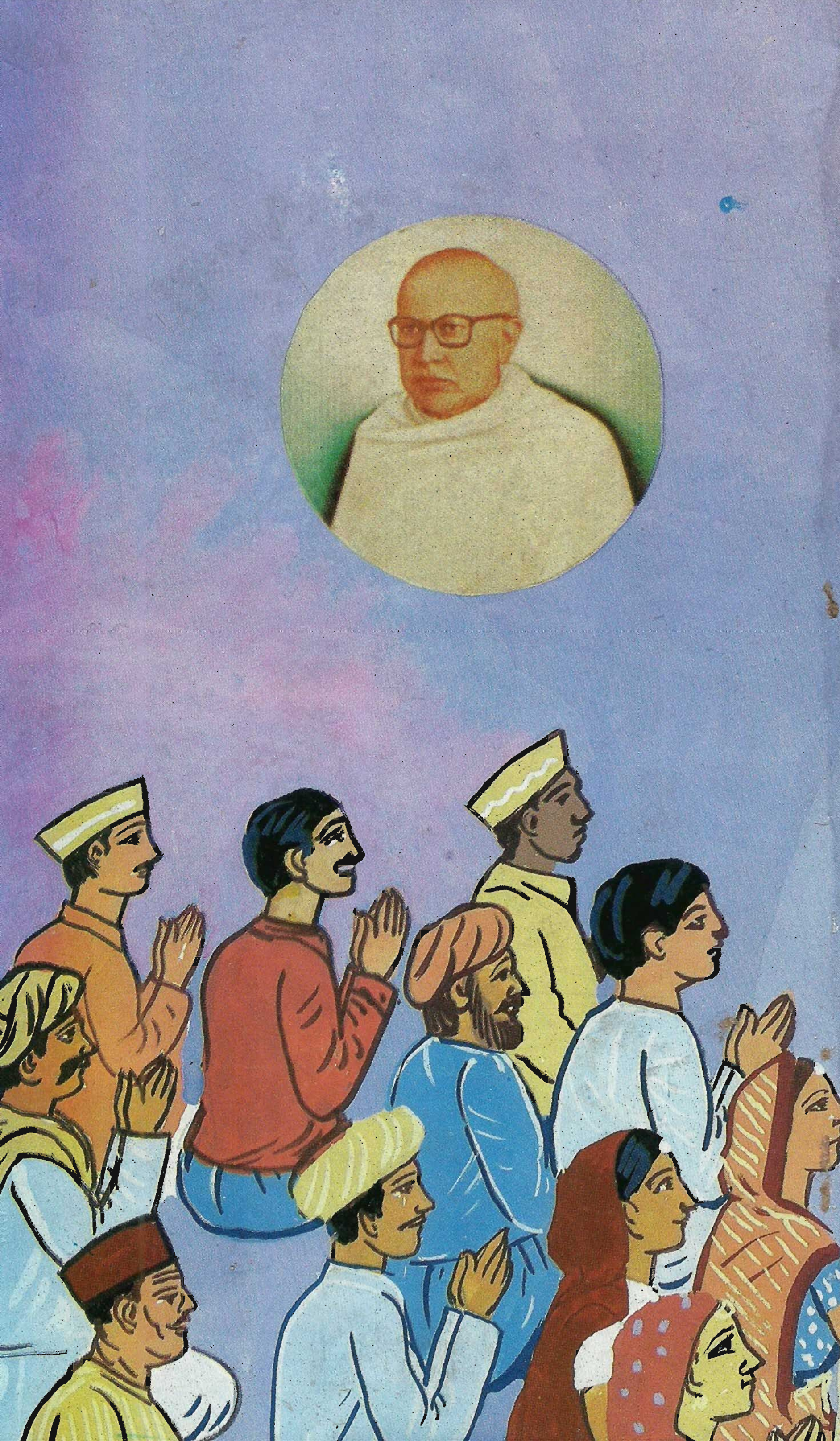
कुल योग : 31469 = 00